न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य

श्री १००८ श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वरजी महाराज

श्री १००८ श्रीमद् आत्मारामजी महाराज

श्री आत्मानन्द-जन्म-शताब्दी स्मारक ग्रन्थमाला, पुष्प १
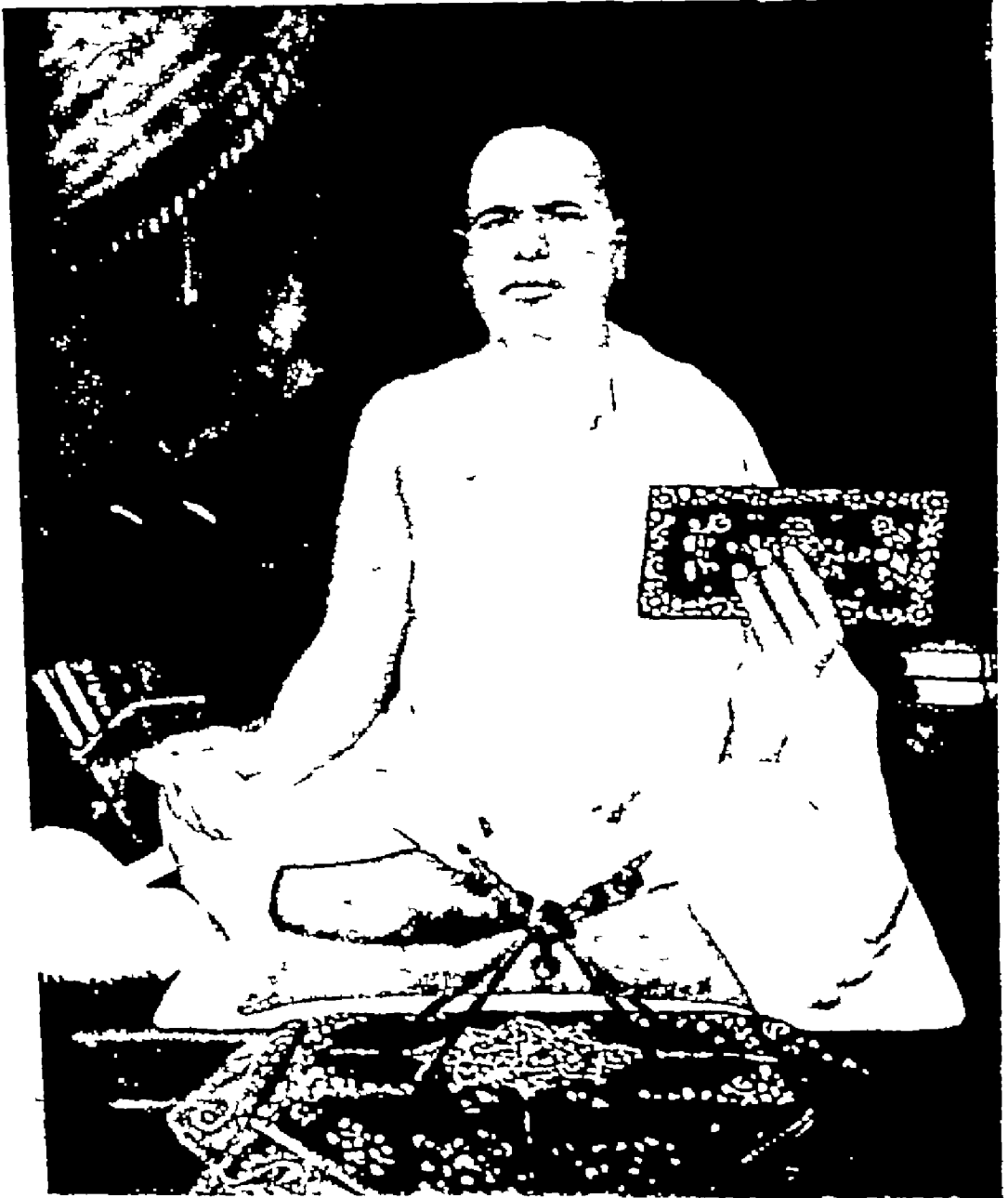
वाचक उमास्वातिप्रणीत

तत्त्वार्थ सूत्र

विवेचन सहित

विवेचन कर्ता

पं० सुखलालजी संघवी शास्त्री

जैन दर्शन के प्रधानाध्यापक–हिन्दू विश्वविद्यालय

बनारस ।

संपादक

पं० कृष्णचन्द्र जैनागम-दर्शन शास्त्री

अधिष्ठाता, श्रीपार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस

तथा

पं० दलसुख मालवणिया न्यायतीर्थ

जैनागमाध्यापक–हिन्दू विश्वविद्यालय

बनारस ।

समर्पण

उस भगिनी-मण्डल को कृतज्ञ समर्पण जिसमें श्रीमती मोतीबाई जीवराज तथा श्रीमती मणिबहिन शिवचन्द कापड़िया आदि बहिनें मुख्य हैं, जिसके द्वारा विद्या-जीवन तथा शारीरिक जीवन में मुझको सदा हार्दिक सहायता मिलती रही है।

सुखलाल संघवी

सुधिया सुखलालेन तत्त्वार्थस्य विवेचनम् ।
'परिचयेन' संस्कृत्य जिज्ञासुभ्यः पुरस्कृतम् ॥

ग्रन्थानुक्रम ।

तत्त्वार्थसूत्र को प्रसिद्ध करने का निर्णय समिति ने इसलिए किया कि प्रथम छपा हुआ उनका गुजराती विवेचन अब सुलभ नहीं और गुजरात के बाहर सभी प्रान्तों में हिन्दी भाषा सरलता से समझी जाती है। खास कर राजपूताना, पंजाब, यू० पी० और बंगाल आदि प्रान्तों में तो हिन्दी भाषा में लिखे तत्त्वार्थ के विवेचन की वर्षों से माँग भी रही। समिति समझती है कि इस हिन्दी-विवेचन के द्वारा गुजरात के बाहर और गुजरात में भी उस माँग की पूर्ति अवश्य होगी।

गुजराती विवेचन की अपेक्षा इस हिन्दी विवेचन में क्या २ बातें नई आई हैं, प्रस्तुत ग्रन्थ को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का कितना प्रयत्न किया गया है यह सब लेखक और संपादकों के वक्तव्य से स्पष्ट है। अतएव उसे दोहराने की जरूरत नहीं।

समिति पंडितजी तथा दोनों संपादको के प्रति अपना आभार व्यक्त करती है।

इसमें संदेह नहीं कि वयोवृद्ध प्रवर्तक श्री कान्तिविजयजी महाराज के प्रशिष्य मुनि श्री पुण्यविजयजी का सहयोग समिति को प्राप्त न होता तो समिति के द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशित हो सकने का संभव नहींवत् था। शुरू से आखिर तक का प्रकाशन संबंधी सारा विचार और आवश्यक व्यवहार जो पंडितजी के साथ जरूरी था उसे करने का भार समिति ने उक्त मुनिश्री पर छोड़ दिया था। उन्होंने अपनी जवाबदेही कर्तव्यदृष्टि से कुशलता पूर्वक निभाई है। अतएव समिति मुनिश्री पुण्यविजय जी के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है।

इस समिति का उद्देश्य साहित्य को प्रसिद्ध करना तो है ही, पर साथ ही यथासंभव उसे सस्ते में देकर सब के लिए सुलभ बनाने का भी ध्येय है। इस दृष्टि से समिति ने इतनी बड़ी पुस्तक का मूल्य भी कम ही रखा है।

निवेदक

सेठ सकरचन्द मोतीलाल मूळजी
,, डाह्याभाई नगीनदास झवेरी
,, दलीचन्द वीरचन्द श्रोफ
,, रतीलाल वाडीलाल पुनमचन्द
,, फूलचन्द शामजीभाई

बंबई नं० ३
ता० १-५-३६

ट्रस्टी, जैनाचार्य आत्मानन्द-जन्म-शताब्दी स्मारक
ट्रस्ट बोर्ड।

सम्पादकीय वक्तव्य ।

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद तुरन्त ही जैन विद्वानों ने उनके उपदेश का आश्रय लेकर नये नये लोकभोग्य ग्रन्थों की रचना करने का कार्य शुरू कर दिया था। वह कार्य आज तक अविच्छिन्नरूप से चल रहा है। कुछ ऐसे ग्रन्थ बने जो सिर्फ भाण्डार की ही वस्तु बनकर रहे। कुछ ऐसे बने जिनका प्रचार रचयिता के शिष्य परिवार तक ही सीमित रहा। कुछ ऐसे बने जो दूसरी परंपरा में भी पढ़े जाते थे। कुछ विद्वद्भोग्य थे तो कुछ प्राथमिक जिज्ञासु के योग्य। कुछ ऐसे बने जो पठन-पाठन में अपना स्थान कुछ अरसे तक रख सके तो कुछ ऐसे बने जो सुदीर्घ काल तक अपना स्थान सुरक्षित रख सके। लेकिन उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र ही एक ऐसा ग्रन्थ बना है जो श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों परंपरा में समानभाव से मान्य रहा है, इतना ही नहीं; किन्तु वह जब से बना है तब से आज तक प्राथमिक जिज्ञासु से लेकर बड़े से बड़े जैन विद्वानों का ध्यान अविच्छिन्न रूप से अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ हुआ है और आज भी जैनेतर जिज्ञासु के सामने यदि कोई ग्रन्थ रखा जाने योग्य हो तो वह सटीक तत्त्वार्थ ही है। न्यायदर्शन में जो स्थान न्यायसूत्र का है वही स्थान जैनदर्शन में तत्त्वार्थ का है।

ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का विवेचन सरल और स्पष्ट भाषा में प्रज्ञाचक्षु पण्डितवर सुखलालजी ने लिखा है जिसे हिन्दीभाषी

जनता के सामने उपस्थित करने का मौका हमें मिला है। इसे हम अपना अहोभाग्य समझते हैं। इससे पाठकों को जो कुछ लाभ होगा उसका श्रेय उन्हीं को है।

'परिचय' में तत्त्वार्थ के रचयिता उमास्वाति का विस्तृत परिचय पण्डितजी ने दिया है। तत्त्वार्थसूत्र की रचना मे प्रेरक सामग्री क्या थी यह भी पण्डितजी ने विस्तार से दिखाया है। तत्त्वार्थ के प्रतिपाद्य विषय की दर्शनान्तरों से तुलना भी उन्होंने की है। तत्त्वार्थ की टीकाओं तथा टीकाकारों का भी विस्तार से परिचय दे दिया है। इस तरह तत्त्वार्थ सबंधी संभवित प्राय सभी जिज्ञासा का उत्तर पाठक को पण्डितजी के द्वारा लिखित 'परिचय' में से मिल जायगा।

तत्त्वार्थ का अध्ययन कैसे किया जाय यह भी उन्होंने 'अभ्यास विषयक सूचन' में लिख दिया है।

अपने 'लेखकीय वक्तव्य' में पण्डितजी ने आखिरी ९–१० वर्ष में तत्त्वार्थसूत्र के जो जो संस्करण निकले हैं उनकी समालोचना भी की है।

इस तरह प्रस्तुत संस्करण को ज्ञातव्य विषयों से परिपूर्ण करने का पूरा प्रयत्न पण्डितजी ने अपनी ओर से किया है। आशा है उसी प्रयत्न के कारण ही यह संस्करण हिन्दी दार्शनिक-साहित्य में अपने ढंग का एक ही सिद्ध होगा।

हमारी ओर से इस संस्करण में पारिभाषिक-शब्दकोष और सटिप्पण मूल सूत्रपाठ जोड़ा गया है। पारिभाषिक शब्दकोष से दो बातें सिद्ध होंगी। प्रथम तो यह कि हिन्दी कोषकारों को प्रायः सभी जैन पारिभाषिक शब्द और उनकी व्याख्याएँ बड़ी

सुगमता से इस एक ही पुस्तक से सुलभ हो सकेंगी। और दूसरी बात यह कि प्रस्तुत ग्रन्थ के वाचकों को विषय खोजने मे विशेष सुविधा मिलेगी। सटिप्पण सूत्रपाठ अलग इसलिए दिया है कि अध्येताओ को एक साथ सभी सूत्र मिल जायँ और संशोधकों को सूत्र के पाठान्तर जानने के लिए तत्त्वार्थसूत्र के और २ संस्करण देखने की जरूरत न रहे।

प्रस्तुत संस्करण के संपादन का भार हमारे ऊपर रख कर पण्डितजी ने तो हमारे ऊपर एक तरह से उपकार ही किया है। अत. उनका जितना आभार माने थोड़ा है। भाई महेन्द्रकुमार और भाई शान्तिलाल ने, जो कि यहाँ विश्वविद्यालय मे पढते हैं, समय समय पर प्रूफ आदि देखने मे मदद की है। अत उनका भी यहाँ आभार मानते हैं।

वाचकों से निवेदन है कि संपादन में रही हुई भ्रान्तियाँ हमें सूचित करें जिससे अगले संस्करण में सुधार हो जाय।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
ता० १-५-३९

कृष्णचन्द्र जैन
दलसुख मालवणिया

लेखक का वक्तव्य।

तत्त्वार्थ सूत्र के विवेचन की प्रथम आवृत्ति गुजराती में गुजरात विद्यापीठ (अहमदाबाद) ने प्रसिद्ध की थी। यह उसकी हिन्दी मे दूसरी आवृत्ति है। यह दूसरी आवृत्ति, श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर प्रसिद्धनाम आत्मारामजी महाराज के स्मारक रूप से निकलनेवाली ग्रन्थमाला में प्रसिद्ध हो रही है। गुजराती संस्करण के वक्तव्य का आवश्यक भाग हिन्दी मे अनुवादित करके नीचे दिया जाता है जिससे मुख्यतया तीन बातें जानी जा सकेंगी। पहली तो यह कि शुरू में विवेचन किस ढंग से लिखने की इच्छा थी और अन्त में वह किस रूप मे लिखा गया। दूसरी बात यह कि विवेचन लिखने का प्रारम्भ हिन्दी मे किये जाने पर भी वह प्रथम क्यों और किस परिस्थिति मे गुजराती में समाप्त किया गया और फिर सारा का सारा विवेचन गुजराती में ही प्रथम क्यों प्रसिद्ध हुआ। तीसरी बात यह कि कैसे और किन अधिकारिओं को लक्ष्य में रखकर विवेचन लिखा गया है, वह किस आधार पर तैयार किया गया है और उसका स्वरूप तथा शैली कैसी रखी है।

"प्रथम कल्पना—लगभग १२ वर्ष पहले जब मैं अपने सहृदय मित्र श्रीरमणिकलाल मगनलाल मोदी बी० ए० के साथ पूना में था, उस समय हम दोनों ने मिल कर साहित्य निर्माण के बारे में अनेक विचार दौड़ाने के बाद तीन ग्रन्थ लिखने की

स्पष्ट कल्पना की। श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में प्रतिदिन बढ़ती हुई पाठशालाओं, छात्रालयों और विद्यालयों में जैनदर्शन के शिक्षण की आवश्यकता जैसे-जैसे अधिक प्रतीत होने लगी, वैसे-वैसे चारों ओर से दोनों सम्प्रदायों में मान्य ऐसे नई शैली के लोकभाषा में लिखे हुए जैनदर्शनविषयक ग्रन्थों की माँग भी होने लगी। यह देख कर हमने निश्चय किया कि 'तत्त्वार्थ' और 'सन्मतितर्क' इन दोनों ग्रन्थों का तो विवेचन करना और उसके परिणाम स्वरूप तृतीय पुस्तक 'जैन पारिभाषिक शब्दकोष' यह स्वतन्त्र लिखना। हमारी इस प्रथम कल्पना के अनुसार हम दोनों ने तत्त्वार्थ के विवेचन का काम आज से ११ वर्ष पूर्व आगरा से प्रारम्भ किया।

हमारी विशाल योजना के अनुसार हमने काम प्रारम्भ किया और इष्ट सहायकों का समागम होता गया, पर वे आकर स्थिर रहें उसके पूर्व ही पक्षियों की तरह भिन्न भिन्न दिशाओं में पीछे तितर-बितर हो गये। और पीछे इस आगरा के घोंसले में मैं अकेला ही रह गया। तत्त्वार्थ का आरम्भ किया हुआ कार्य और अन्य कार्य मेरे अकेले के लिये शक्य न थे और यह कार्य चाहे जिस रूप से पूर्ण करना यह निश्चय भी चुप बैठा रहने दे ऐसा न था। सहयोग और मित्रों का आकर्षण देख कर मैं आगरा छोड़ कर अहमदाबाद आया। वहाँ मैंने सन्मति का कार्य हाथ में लिया और तत्त्वार्थ के दो चार सूत्रों पर आगरा में जो कुछ लिखा वह ऐसा का ऐसा पड़ा रहा।

भावनगर मे ई० स० १९२१–२२ में सन्मति का काम करते समय बीच-बीच में तत्त्वार्थ के अधूरे रहे हुए काम का स्मरण हो आता और मैं चिन्तित हो जाता। मानसिक सामग्री होने पर भी आवश्यक इष्ट मित्रों के अभाव से मैंने तत्त्वार्थ के विवेचन की

प्रथम निश्चित की हुई विशाल योजना दूर हटा दी और उतना भार कम किया, पर इस कार्य का सकल्प वैसा का वैसा था। इसलिए तबीयत के कारण जब मैं विश्रान्ति लेने के लिए भावनगर के पास के वालुकड़ गाँव में गया तब पीछे तत्त्वार्थ का कार्य हाथ मे लिया और उसकी विशाल योजना को सक्षिप्त कर मध्यममार्ग का अवलम्बन किया। इस विश्रान्ति के समय भिन्न भिन्न जगहों में रह कर लिखा। इस समय लिखा तो कम गया पर उसकी एक रूपरेखा (पद्धति) मन में निश्चित हो गई और कभी अकेले भी लिख सकने का विश्वास उत्पन्न हुआ।

मैं उस समय गुजरात में ही रहता और लिखता था। प्रथम निश्चित की हुई पद्धति भी सकुचित करनी पड़ी थी, फिर भी पूर्व सस्कारों का एक साथ कभी विनाश नहीं होता, इस मानस-शास्त्र के नियम से मैं भी बद्ध था। इसलिए आगरा में लिखने के लिए सोची गई और काम में लाई गई हिन्दी भाषा का संस्कार मेरे मन में कायम था। इसलिये मैंने उसी भाषा में लिखने की शुरुआत की थी। दो अध्याय हिन्दी भाषा में लिखे गए। इतने में ही बीच मे बन्द पडे हुए सन्मति के काम का चक्र पुनः प्रारम्भ हुआ और इसके वेग से तत्त्वार्थ के कार्य को वहीं छोडना पडा। स्थूल रूप से काम चलाने की कोई आशा नहीं थी, पर मन तो अधिकाधिक ही कार्य कर रहा था। उसका थोडा बहुत मूर्त रूप पीछे दो वर्ष बाद अवकाश के दिनों में कलकत्ते में सिद्ध हुआ और चार अध्याय तक पहुँचा। उसके बाद अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक दबाव बढ़ते ही गए, इसलिये तत्त्वार्थ को हाथ में लेना कठिन हो गया और ऐसे के ऐसे तीन वर्ष दूसरे कामों में बीते। ई० स० १९२७ के ग्रीष्मावकाश में लींमडी रवाना हुआ तब फिर तत्त्वार्थ का काम हाथ में आया और थोडा आगे

चढा, लगभग ६ अध्याय तक पहुँच गया। पर अन्त में मुझे प्रतीत हुआ कि अब सन्मति का कार्य पूर्ण करने के बाद ही तत्त्वार्थ को हाथ में लेने में श्रेय है। इसलिए सन्मतितर्क के कार्य को दूने वेग से करने लगा। पर इतने समय तक गुजरात में रहने से और इष्ट मित्रों के कहने से यह धारणा हुई कि पहले तत्त्वार्थ का गुजराती संस्करण निकाला जाय। यह नवीन संस्कार प्रबल था। और पुराने सस्कार ने हिन्दीभाषा में ६ अध्याय जितना लिखाया था। स्वय हिन्दी से गुजराती करना यह शक्य और इष्ट होने पर भी उसके लिए समय नहीं था। शेष गुजराती में लिखूँ तो भी प्रथम हिन्दी में लिखे हुए का क्या उपयोग? योग्य अनुवादक प्राप्त करना यह भी कोई सरल बात नहीं, यह सभी असुविधाएँ थीं, पर भाग्यवश इसका भी अन्त आ गया। विद्वान् और सहृदय मित्र रसिकलाल छोटालाल परीख ने हिन्दी से गुजराती में अनुवाद किया और शेष चार अध्याय मैंने गुजराती में ही लिख डाले। इस तरह लगभग ग्यारह वर्ष पूर्व प्रारम्भ किया हुआ सकल्प अन्त में पूर्ण हुआ।

पद्धति—पहले तत्त्वार्थ के ऊपर विवेचन लिखने की कल्पना हुई तब उस समय निश्चित की हुई योजना के पीछे यह दृष्टि थी कि सपूर्ण जैनतत्त्वज्ञान और जैन-आचार का स्वरूप एक ही स्थान पर प्रामाणिक रूप में उसके विकासक्रमानुसार लिखा हुआ प्रत्येक अभ्यासी के लिए सुलभ हो। जैन और जैनेतर तत्त्वज्ञान के अभ्यासियों की सकुचित परिभाषाभेद की दिवाल तुलनात्मक वर्णन द्वारा टूट जायगी और आज तक के भारतीय दर्शनों में या पश्चिमीय तत्त्वज्ञानों के चिन्तनों में सिद्ध और स्पष्ट हुए महत्त्व के विषयों द्वारा जैन ज्ञानकोष समृद्ध हो, इस प्रकार तत्त्वार्थ का विवेचन लिखना। इस धारणा में तत्त्वार्थ की दोनों सम्प्रदायो की किसी

एक ही टीका के अनुवाद या सार को स्थान नहीं था। इसमें टीकाओं के दोहन के सिवाय दूसरे भी महत्त्वपूर्ण जैनग्रन्थों के सार को स्थान था। पर जब इस विशाल योजना ने मध्यम मार्ग का रूप पकड़ा तब उसके पीछे की दृष्टि भी कुछ सकुचित हुई। फिर भी मैंने इस मध्यममार्गी विवेचन पद्धति में मुख्य रूप से निम्न बातें ध्यान में रखी है।

(१) किसी भी एक ही ग्रन्थ का अनुवाद या सार नहीं लिख कर या किसी एक ही सम्प्रदाय के मन्तव्य का अनुसरण किये विना ही जो कुछ आज तक जैन तत्त्वज्ञान के अङ्ग स्वरूप पढ़ने या विचार में आया हो, उसका तटस्थ भाव से उपयोग कर विवेचन लिखना।

(२) महाविद्यालय या कॉलेज के विद्यार्थियों की जिज्ञासा के अनुकूल हो तथा पुरातन प्रणाली से अभ्यास करनेवाले विद्यार्थियों को भी पसंद आवे इस प्रकार साम्प्रदायिक परिभाषा कायम रखते हुए उसे सरल कर पृथक्करण करना।

(३) जहाँ ठीक प्रतीत हो और जितना ठीक हो उतने ही परिमाण में सवाद रूप से और शेष भाग में संवाद सिवाय सरलतापूर्वक चर्चा करनी।

(४) विवेचन में सूत्रपाठ एक ही रखना और वह भी भाष्य स्वीकृत और जहाँ जहाँ महत्त्वपूर्ण अर्थभेद हो वहाँ वहाँ भेदवाले सूत्र को लिख कर नीचे टिप्पणी में उसका अर्थ देना।

(५) जहाँ तक अर्थदृष्टि संगत हो वैसे एक या अनेक सूत्रों को साथ लेकर उनका अर्थ लिखना और एक साथ ही विवेचन करना। ऐसा करते हुए विषय लम्बा हो वहाँ उसका विभाग कर शीर्षक द्वारा वक्तव्य का पृथक्करण करना।

(६) बहुत प्रसिद्ध हो वहाँ और बहुत जटिलता न आ जाय इस प्रकार जैनपरिभाषा की जैनेतरपरिभाषा के साथ तुलना करना।

(७) किसी एक ही विषय पर केवल श्वेताम्बर या केवल दिगम्बर या दोनों के मिल कर अनेक मन्तव्य हों वहाँ पर कितना और क्या लेना और कितना छोड़ना इसका निर्णय सूत्रकार के आशय की निकटता और विवेचन के परिमाण की मर्यादा को लक्ष्य में रख कर स्वतन्त्र रूप से लिखना और किसी एक ही फिरके के वशीभूत न होकर जैन तत्त्वज्ञान या सूत्रकार का ही अनुसरण करना।

इतनी बातें ध्यान में रखने पर भी प्रस्तुत विवेचन में भाष्य, उसकी वृत्ति सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक के ही अंशों का विशेषरूप से आना यह स्वाभाविक है। कारण कि ये ही ग्रन्थ मूल-सूत्र की आत्मा को स्पर्श कर स्पष्ट करते हैं। उनमें भी अधिकांश मैंने भाष्य को ही प्राधान्य दिया है कारण कि जैसे यह पुराना है वैसे स्वोपज्ञ होने के कारण सूत्रकार के आशय को भी अधिक स्पर्श करने वाला है।

प्रस्तुत विवेचन में प्रथम की विशाल योजना अनुसार तुलना नहीं की गई है। इसलिए इस न्यूनता को थोडे बहुत अंश में दूर करने और तुलनात्मक प्रधानतावाली आज कल की रसप्रद शिक्षण प्रणाली का अनुसरण करने के लिए 'परिचय' में तुलना सम्बन्धी कार्य किया गया है। ऊपर-ऊपर से परिचय में की हुई तुलना पाठक को प्रमाण में बहुत ही कम प्रतीत होगी, यह ठीक है, पर सूक्ष्मता से अभ्यास करने वाले देख सकेंगे कि यह जितने प्रमाण में अल्प प्रतीत होती है उतने ही प्रमाण में अधिक विचार-णीय भी है। परिचय में की जानेवाली तुलना में लम्बे-लम्बे विषय और वर्णनों को स्थान नहीं होता इसलिए तुलनोपयोगी मुख्य मुद्दों को पहले छाँट कर पीछे से संभवित मुद्दों की वैदिक और बौद्ध

दर्शनों के साथ तुलना की गई है। उन उन मुद्दों पर ब्योरेवार विचारने के लिए उन-उन दर्शनों के ग्रन्थों के स्थलों का निर्देश किया है। इससे अभ्यासी के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करने का भी अवकाश रहेगा, इसी बहाने उनके लिए दर्शनान्तर के अवलोकन का मार्ग भी खुल जायगा ऐसी मैं आशा रखता हूँ।"

जैसा ऊपर के वक्तव्यांश में कहा गया है तदनुसार हिन्दी में लिखे हुए छः अध्याय तो करीब बारह वर्ष से मेरे पास पड़े ही थे। गुजराती संस्करण में छपा हुआ परिचय श्रीयुत बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार के द्वारा हिन्दी में अनुवादित होकर अनेकान्त पत्र के अंकों में कुछ क्रमभेद से छपा था। प्रस्तुत आवृत्ति के वास्ते सातवें से दसवें तक के चार अध्यायों के गुजराती विवेचन का हिन्दी अनुवाद करना बिलकुल बाकी था जिसे पं० कृष्णचन्द्रजी (भूतपूर्व अधिष्ठाता—जैनेन्द्र गुरुकुल पञ्चकूला) ने किया है। इसके सिवाय उन्होंने पारिभाषिक शब्दकोष को भी तैयार किया है। मूलसूत्रपाठ टिप्पणी के साथ पं० दलसुखभाई न्यायतीर्थ (आगमाध्यापक प्राच्यविद्या विभाग हिन्दू विश्वविद्यालय) ने तैयार किया। इस तरह प्रस्तुत आवृत्ति का आधारभूत सारा मैटर हिन्दी में तैयार हो गया।

इस आवृत्ति की खास विशेषताएँ दो हैं। एक तो पारिभाषिक शब्दकोष और मूलसूत्रपाठ की जो पहली आवृत्ति में न थे। पहला पारिभाषिक शब्दकोष इस दृष्टि से तैयार किया है कि सूत्र और विवेचन गत सभी जैन जैनेतर पारिभाषिक व दार्शनिक शब्द संगृहीत हो जायँ जो कोष की दृष्टि से तथा विषय चुनने की दृष्टि से उपयुक्त हो सकें। इस कोष में जैन तत्त्वज्ञान और

जैन आचार से सम्बन्ध रखनेवाले प्रायः सभी शब्द आ जाते हैं। और साथ ही उनके प्रयोग के स्थान भी मालूम हो जाते हैं। सूत्रपाठ में श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय दोनों सूत्रपाठ तो हैं ही फिर भी अभी तक के छपे हुए सूत्रपाठों में नहीं आए ऐसे सूत्र दोनों परम्पराओं के व्याख्या ग्रन्थों को देखकर इसमें प्रथम वार ही टिप्पणी में दिये गए हैं।

दूसरी विशेषता परिचय–प्रस्तावना की है। प्रस्तुत आवृत्ति में छपा परिचय सामान्यरूप से गुजराती का अनुवाद होने पर भी इसमें अनेक महत्त्व के सुधार तथा परिवर्धन भी किये गए हैं। पहले के कुछ विचार जो वाद में विशेष आधारवाले नहीं जान पड़े उन्हें निकाल कर उनके स्थान में नये प्रमाणों और नये अध्ययन के आधार पर खास महत्त्व की बातें लिख दी हैं। उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा के थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्ष के श्रुत के आधार पर ही बना है यह वस्तु बतलाने के वास्ते दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय श्रुत व आचार भेद का इतिहास दिया गया है और अचेल तथा सचेल पक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध और भेद के ऊपर थोड़ा सा प्रकाश डाला गया है जो गुजराती परिचय में न था। भाष्य के टीकाकार सिद्धसेन गणि ही गन्धहस्ती हैं ऐसी जो मान्यता मैंने गुजराती परिचय में स्थिर की थी उसका नये अकाट्य प्रमाण के द्वारा हिन्दी परिचय में समर्थन किया है और गन्धहस्ती तथा हरिभद्र के पारस्परिक सम्बन्ध एवं पौर्वापर्य के विषय में भी पुनर्विचार किया गया है। साथ ही दिगम्बर परम्परा में प्रचलित समन्तभद्र की गन्धहस्तित्वविषयक मान्यता को निराधार

बतलाने का नया प्रयत्न किया है। गुजराती परिचय मे भाष्य-गत प्रशस्ति का अर्थ लिखने में जो भ्रान्ति रह गई थी उसे इस जगह सुधार लिया है। और उमास्वाति की तटस्थ परम्परा के बारे में जो मैंने कल्पना विचारार्थ रखी थी उसको भी निराधार समझ कर इस संस्करण मे स्थान नहीं दिया है। भाष्यवृत्तिकार हरिभद्र कौन से हरिभद्र थे यह वस्तु गुजराती परिचय में संदिग्ध रूप में थी जब कि इस हिन्दी परिचय में याकिनीसूनु रूप से उन हरिभद्र का निर्णय स्थिर किया है।

गुजराती विवेचन के करीब दस वर्ष के बाद यह हिन्दी विवेचन प्रसिद्ध हो रहा है। इतने समय में तत्त्वार्थ से सम्बन्ध रखने वाला साहित्य ठीक-ठीक परिमाण मे प्रसिद्ध हुआ है। जहाँ तक मैं जानता हूँ इन दस वर्षों मे दिगम्बर परम्परा की ओर से तो तत्त्वार्थ विषयक कोई प्राचीन ग्रन्थ या नई कृति अभी तक प्रसिद्ध नहीं हुई है। परन्तु श्वेताम्बर परम्परा ने इस क्षेत्र में काफी उत्साह दिखाया है। उसने भाषादृष्टि से संस्कृत, गुजराती और हिन्दी—इन तीन भाषाओं में तत्त्वार्थ विषयक साहित्य प्रसिद्ध किया है। उसमें भी न केवल प्राचीन ग्रन्थों का ही प्रकाशन समाविष्ट है; किन्तु समालोचनात्मक, अनुवादात्मक, संशोधनात्मक और विवेचनात्मक ऐसे अनेकविध साहित्य का समावेश है।

प्राचीन टीकाग्रन्थों में से सिद्धसेनीय और हरिभद्रीय दोनों भाष्यवृत्तिओं को पूर्णतया प्रसिद्ध करने कराने का श्रेय वस्तुतः श्रीमान् सागरानन्द सूरीश्वर को है। उन्होंने एक समा-लोचनात्मक निबन्ध भी हिन्दी में लिखकर प्रसिद्ध कराया है।

जिसमे वाचक उमास्वाति के श्वेताम्बरीयत्व या दिगम्बरीयत्व के विषय मे मुख्यतया चर्चा है। तत्त्वार्थ के मात्र मूलसूत्रों का गुजराती अनुवाद श्री हीरालाल कापड़िया एम. ए. तथा तत्त्वार्थभाष्य के प्रथम अध्याय का गुजराती अनुवाद विवेचन सहित पं० प्रभुदास बेचरदास परीख का लिखा प्रसिद्ध हुआ है। तत्त्वार्थ का हिन्दी अनुवाद जो वस्तुतः मेरे गुजराती विवेचन का अक्षरशः अनुवाद है वह फलोधी मारवाड़वाले श्री मेघराजजी मुणोत के द्वारा तैयार होकर प्रसिद्ध हुआ है। स्थानकवासी मुनि आत्मारामजी उपाध्याय के द्वारा 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम समन्वय' नामक दो पुस्तिकाएँ तैयार होकर प्रसिद्ध हुई हैं। जिनमें से एक हिन्दी अर्थयुक्त और दूसरी हिन्दी अर्थरहित आगमपाठवाली है।

सिद्धसेनीय वृत्ति ऐतिहासिक व तात्त्विक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। उसका सम्पादन सामान्य रूप से अच्छा ही है। फिर भी उसकी विशेषरूप से उपयोगिता प्रमाणित करनेवाले जरूरी अनेक परिशिष्ट अगर उसके सम्पादक बनाते तो वह संस्करण और भी कार्यसाधक बनता। मैं प्रसङ्गवश उसके सम्पादक एच. आर. कापड़िया एम. ए. की एक त्रुटि की ओर उनका तथा अन्य सुज्ञ वाचकों का ध्यान खींचना आवश्यक समझता हूँ जो कि उन्होंने आभार प्रदर्शन में की है। कापड़िया महाशय ने मेरे 'गुजराती विवेचन' की प्रस्तावना का उपयोग करने के कारण मेरे प्रति कृतज्ञता प्रकट तो की है, पर जिन्होंने मेरा गुजराती परिचय पढ़ा नहीं और उनकी अंगरेजी प्रस्तावना ही सिर्फ पढ़ी हो वे उस कृतज्ञतादर्शक वाक्य से अधिक से

अधिक इतना ही समझ सकते हैं कि कापड़िया ने सुखलाल लिखित परिचय का कुछ विशेष उपयोग किया है। परन्तु वे ऐसा तो कभी समझ ही नहीं सकते कि कापड़ियाजी ने सुखलाल लिखित परिचय में से कितने भाग का अक्षरशः अंगरेजी में भाषान्तर मात्र किया है। कोई लेखक जब किसी दूसरे के लेख का अनुवाद कर अपने लेख में अक्षरशः समा लेवे तब उसका यह धर्म हो जाता है कि उस अनुवादित भाग के नीचे मूल लेखक का नाम या उसके ग्रन्थ का पृष्ठ दे दे। मेरे 'गुजराती परिचय' में से पैरेग्राफ के पैरग्राफ ही नहीं बल्कि पेज के पेज जब अंगरेजी में अनुवादित करके उन्होंने छापना जरूरी समझा, तब उनको ऐसे अनुवादित सब भाग के साथ मूल लेख के पृष्ठ या स्थान का निर्देश करने में संकोच क्यों होना चाहिए? अगर कापड़िया महाशय ऐसा निर्देश करते तो उनकी सचाई और कृतज्ञता विशेष शोभा योग्य बनती।

हरिभद्रीय वृत्ति का संस्करण बेशक ठीक है, पर जब उसका सम्पादन श्री सागरानन्द सूरि जैसे बहुश्रुत और परिश्रमी विद्वान ने किया है तब उन्हे पहचानने वाले हरएक अभ्यासी के मन में उस संस्करण में रही हुई उपयोगी विविध परिशिष्टो की कमी बिना अखरे नहीं रहती।

'श्री तत्त्वार्थकर्तृ-तन्मतनिर्णय' नाम की जो पुस्तिका श्री सागरानन्द सूरिजी ने लिखी है और जो रतलाम स्थित श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी की पेढ़ी की ओर से प्रसिद्ध हुई है वह खास उल्लेख योग्य है। उसकी भाषा का खिचड़ीपन और सागरानन्द सूरि की प्रकृति सुलभ तीखी खण्डनशैली व कहीं कहीं शुष्क

तर्कजीवी कल्पनाओं को छोड़ कर उस पुस्तिका के बारे में विचार करने से इतना अवश्य कहना होगा कि उसके लेखक ने उसमें बहुत कुछ अभ्यास योग्य व चिन्तन योग्य मसाला रख दिया है।

मूलसूत्रों का एच. आर. कापड़िया लिखित गुजराती अनुवाद सुपाठ्य और उपयोगी है। पं० प्रभुदास परीख कृत तत्त्वार्थ भाष्य का थोड़ा सा भी गुजराती अनुवाद गुजराती भाषा समझनेवालों के वास्ते बिल्कुल नई वस्तु है और योग्यतापूर्ण होने से महत्त्व का भी है। लेखक ने अनुवाद के साथ जो विवेचन लिखा है वह भी बेशक उपयोगी एवं विचार गर्भित है। फिर भी लेखक अगर अतिरञ्जित कल्पनाओं से और उपपत्तिशून्य श्रद्धातिरेक से बच जाते तो उसका मूल्य कम होने के बदले और भी बढ़ता।

मेघराजजी मुणोत का किया हुआ तत्त्वार्थ का हिन्दी अनुवाद यद्यपि मेरे 'गुजराती विवेचन' का ही शब्दशः अनुवाद है फिर भी मुझे कहना पड़ता है कि उसमें अनेक त्रुटियाँ हैं। मुणोतजी की भाषात्रुटि और अशुद्धिओं की भरमार को किसी तरह क्षन्तव्य मान भी लिया जाय तथापि उन्होंने जो अनेक जगह अर्थक्षति की है, भाव विपर्यास किया है वह किसी तरह क्षन्तव्य नहीं है। इस प्रमाद या दोष से बढ़कर तो उनके और भी दोष हैं जिन्हें कोई भी सच्चा आदमी गवारा कर नहीं सकता। पहला दोष तो उनका यह है कि उन्होंने अनुवाद करने के पूर्व न लेकर प्रसिद्ध करने तक ही नहीं बल्कि आज तक भी न तो मुझसे पूछा, न सम्मति ली और न छपी एक नकल मुझको भेजी। अगर मुणोत महाशय हिन्दी अनुवाद करके मुझको दिखाते तो न अशुद्धि

रह पाती और न भावच्युति ही होती। उनको यह तो शायद मालूम ही नहीं कि बिना सम्मति लिए अनुवाद प्रसिद्ध करने से न केवल नीति का ही भंग होता है बल्कि कानून का भी भंग होता है। तिसपर मजे की बात तो यह है कि मुणोतजी ने हिन्दी अनुवाद के प्रारम्भ मे मेरे गुजराती परिचय का हिन्दी उलथा करना बिलकुल छोड़ दिया, और उसके स्थान में मुनि ज्ञान-सुन्दर ने अपनी ओर से प्रस्तावना लिखी है। ज्ञानसुन्दरजी मुणोत की तरह गृहस्थ नहीं, वे महाव्रती होने के कारण मृषा सेवन कर नहीं सकते। जब उन्होंने अपनी प्रस्तावना लिखकर उक्त अनुवाद के साथ प्रसिद्ध करना चाहा तब वे सत्यवादी के नाते अपने भक्त मुणोत को सुझाते कि तुम्हे मूल लेखक को पूछ लेना चाहिए। यह नहीं किया सो भी ठीक, पर अधिक मजे की बात तो यह है कि मुनि ज्ञानसुन्दरजी खुद तत्त्वार्थ पर विवेचन न लिखकर दूसरे के विवेचन का आश्रय लेकर अपनी प्रस्तावना उसके साथ जोड़ कर उसे अपनी प्रसिद्धि का साधन तो बना लेते हैं फिर भी उस विवेचन के मूल लेखक की प्रस्तावना का मात्र परित्याग ही नहीं करते बल्कि उसका उल्लेख तक करने से बाल बाल बच जाते हैं, मानो ऐसा करना उन्हें अकर्त्तव्य जान पड़ता हो। मेरे लिए तो यह सन्तोष की बात है कि मेरा 'गुजराती विवेचन' एक या दूसरे रूप में लोकभोग्य बना।

"तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय" नामक जो पुस्तक स्थानक-वासी मुनि उपाध्याय आत्मारामजी की लिखी प्रसिद्ध हुई है वह अनेक दृष्टिओं से महत्त्व रखती है। जहाँ तक मैं जानता हूँ स्थानक-वासी परम्परा में तत्त्वार्थसूत्र की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता का

स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करनेवाला उपाध्यायजी का प्रयास प्रथम ही है। यद्यपि स्थानकवासी परम्परा को तत्त्वार्थसूत्र और उसके समग्र व्याख्या ग्रन्थों में किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति या विमति कभी रही नहीं है। फिर भी वह परम्परा उसके विषय में कभी इतना रस या इतना आदर बतलाती नहीं थी जितना अन्तिम कुछ वर्षों से बतलाने लगी है। स्थानकवासी परम्परा का मुख्य आदर एक मात्र बत्तीस आगमों पर ही केन्द्रित रहा है। इसलिए उपाध्यायजी ने उन्हीं आगमों के पाठों को तत्त्वार्थसूत्र के मूल आधार बतलाकर यह दिखाने का बुद्धिशुद्ध प्रयत्न किया है कि स्थानकवासी परम्परा के लिए तत्त्वार्थसूत्र का वही स्थान हो सकता है जो उसके लिए आगमों का है। अगर स्थानकवासी परम्परा उपाध्याय जी के वास्तविक सूचन से अब भी संभल जाय तो वह तत्त्वार्थसूत्र और उसके समग्र व्याख्या ग्रन्थों को अपनाकर अर्थात् गृहस्थ और साधुओ में उन्हे अधिक प्रचारित करके शताब्दियों के अविचारमल का थोड़े ही समय में प्रक्षालन कर सकती है। उपाध्याय जी का "समन्वय" जहाँ एक ओर स्थानकवासी परम्परा के वास्ते मार्गदीपिका का काम कर सकता है, वहाँ दूसरी ओर वह ऐतिहासिकों व संशोधकों के वास्ते भी बहुत उपयोगी है। श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो या जैनेतर हो, जो भी तत्त्वार्थसूत्र के मूल स्थानों को आगमों में से देखना चाहे और इस पर ऐतिहासिक या तुलनात्मक विचार करना चाहे उसके वास्ते यह समन्वय बहुत कीमती है। मैंने 'गुजराती विवेचन' के परिचय में यह तो विचार पूर्वक लिख ही दिया था कि वाचक उमास्वाति

ने अपने सूत्र तथा भाष्य की रचना तत्कालीन समग्र अंग-उपांग श्रुत के आधार से की है। यह लिखते समय मेरी स्पष्ट विचारणा थी कि सूत्र और भाष्य के सभी अंशों का शाब्दिक व आर्थिक प्राचीन आधार दिखाया जाना चाहिए। पर मेरे वास्ते उस समय वह काम समय और शक्ति की मर्यादा के बाहर था। जब उपाध्याय जी के प्रयास में मैंने अपनी पूर्व विचारणा का मूर्तरूप पाया तब मैं सचमुच हर्षोत्फुल्ल हो उठा। पर मैंने उपाध्याय जी को पत्रों के द्वारा समन्वय के महत्त्व के साथ जो खास बात सूचित की थी वह यहाँ भी लिख देनी योग्य है। मेरी सूचना यह थी और आज भी है कि तत्त्वार्थसूत्र के साथ तुलना या समन्वय केवल बत्तीस आगम तक ही परिमित न रखा जाय बल्कि उस समन्वय के क्षेत्र को बत्तीस आगम के उपरान्त जो अन्य आगम या आगम सदृश प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में विद्यमान हैं और जो सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं वहाँ तक विस्तृत किया जाय, इतना ही नहीं बल्कि दिगम्बर परम्परा मे विद्यमान और सर्वत्र आदर प्राप्त जो प्राचीन प्राकृत-संस्कृत शास्त्र हैं उनके साथ भी तत्त्वार्थ का समन्वय दिखाया जाय। क्योंकि तत्त्वार्थ यह एक ही ऐसा ग्रन्थ है जो तीनों फिरकों की नानाविध खींचातानी के बीच भी सब के वास्ते समान सम्मानभाजन आज तक रहा है और उस सम्मान की वृद्धि का पोषक उत्तरोत्तर अधिकाधिक हो सकता है। तीर्थों के, साधुओं के और दूसरे आचारों के झगड़ों के बीच भी तीनों फिरकों को एक दूसरो के विशेष निकट लानेवाला ज्ञानदृष्टिपूत अगर कोई शास्त्र-साधन अभी लभ्य है तो उसमें तत्त्वार्थ का ही स्थान सर्व प्रथम है।

इस दशा में उसे आधार बनाकर तीनों फिरकों के सामान्य ग्रन्थों का समन्वय एक जगह करना मानो तीनों फिरकों में ज्ञान विनिमय का द्वार उन्मुक्त करना है। यहाँ इतना विस्तार से मैं इस लिए लिख देता हूँ कि अगर मेरा उपर्युक्त विचार किसी को जँचे तो वह इस अधूरे काम को पूरा कर देवे। मेरी तो यह निश्चित विचारणा है कि ब्राह्मण और बौद्ध परम्परा के प्रतिष्ठित एवं प्राचीन ग्रन्थो के साथ भी तत्त्वार्थ की शाब्दिक एवं आर्थिक तुलना की बहुत कार्यसाधक गुंजाइश है।

पिछले दस वर्षों में प्रकाशित व निर्मित तत्त्वार्थ सम्बन्धी साहित्य का जो यहाँ दिग्दर्शन काराया है वह यह बतलाने के लिए है कि दस पंद्रह वर्षों के पहले जो तत्त्वार्थ के अध्ययन-अध्यापन का प्रचार था वह पिछले वर्षो में किस तरह और कितने परिमाण में बढ़ गया है और दिन प्रतिदिन उसके बढ़ने की कितनी प्रबल सम्भावना है। पिछले दस वर्षों के तत्त्वार्थ विषयक तीनों फिरकों के परिशीलन में मेरे 'गुजराती विवेचन' का कितना हिस्सा है यह दिखाना मेरा काम नहीं। तो भी मैं इतना तो कह सकता हूँ कि तीनों फिरकों के योग्य अधिकारियों ने मेरे 'गुजराती विवेचन' को इतना अपनाया कि जो मेरी कल्पना में भी न था। यह देख कर ही मैं प्रथम लिखित तत्त्वार्थ के हिन्दी विवेचन को प्रसिद्ध कराने की ओर दत्तचित्त हुआ।

श्रीमान् विजयवल्लभ सूरि जो श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर के प्रिय पट्टधर हैं, जिनका विद्याप्रचार मुख्य लक्ष्य बना हुआ है और जिन्होंने अध्ययन तथा कार्यकाल में जब जरूरत हुई तब मुझे विविध मदद के द्वारा प्रोत्साहित किया है, उनकी सजीव प्रेरणा

से ही प्रस्तुत 'हिन्दी विवेचन' प्रकाश में आ रहा है। उन्होंने इसे प्रकाशित कराने का आयोजन करके एक बाण से अनेक पक्षिवेधन वाले न्याय का अनुसरण किया है। हिन्दी भाषा-भाषी अभ्यासिओं की ऐसे 'हिन्दी विवेचन' के अभाव की शिकायत को भी दूर किया और साथ ही 'गुजराती विवेचन' की दुर्लभता के कारण गुजरात एवं महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में गुजराती भाषा-भाषियों की तत्त्वार्थ के विवेचन की माँग को भी सन्तुष्ट किया। इसके अलावा उन्होंने मुझे थोड़े बहुत नये चिन्तन व लेखन करने का इष्ट अवसर भी दिया। वयोवृद्ध प्रवर्त्तक श्री कान्तिविजयजी के प्रशिष्य विद्यामूर्त्ति श्रीमान् पुण्यविजयजी का इस आयोजन मे माध्यस्थ्य किंवा साक्षित्व न होता तो इस कार्य को पूरा करने का मेरा उत्साह शायद ही होता। मुनि चारित्रविजयजी के शिष्य मुनि दर्शनविजयजी ने मेरा ध्यान वाचक की प्रशस्ति का अर्थ करने में रही हुई मेरी भ्रान्ति की ओर बहुत दिनों के पहले ही खींचा था। अतएव उक्त मुनिपुंगव और मुनिओं का यहाँ सादर स्मरण करना आवश्यक समझता हूँ। पं० दलसुखभाई और पं० कृष्णचन्द्रजी जिनका निर्देश मैं इस वक्तव्य के प्रारम्भ में कर चुका हूँ उन्होंने इसके सम्पादन की सारी जिम्मेवारी लेकर मुझको लघुभार बना दिया और अपनी जिम्मेवारी को अवश्य कर्त्तव्य रूप से निभाया है। विदुषी हीराकुमारी व्याकरण, सांख्य और वेदान्ततीर्थ ने प्रस्तुत आवृत्ति के प्रस्तावना गत संशोधन आदि लिखते समय तथा तदनुकूल चिन्तन-मनन करते समय मुझको नेत्र, हस्त और मन का काम दिया है। मेरे विद्यार्थी शान्तिलाल तथा महेन्द्रकुमार

परिचय का विषयानुक्रम ।

न भवति धर्मः श्रोतुः, सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या, वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥

उमास्वातिः ।

परिचय
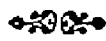
१. तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति

जन्म-वंश और विद्या-वंश ऐसे वंश दो प्रकार का है[1]। जब किसी के जन्म का इतिहास विचारना होता है तब उसके साथ रक्त (रुधिर) का सम्बन्ध रखने वाले उसके पिता, पितामह, प्रपितामह, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि परम्परा का विचार करना पडता है, और जब किसी के विद्या-शास्त्र का इतिहास जानना होता है तब उस शास्त्र-रचयिता के साथ विद्या का सम्बन्ध रखने वाले गुरु, प्रगुरु तथा शिष्य, प्रशिष्य आदि गुरु-शिष्य-भाव-वाली परम्परा का विचार करना आवश्यक है।

'तत्त्वार्थ' यह भारतीय दार्शनिक विद्या की जैन शाखा का एक शास्त्र है, इससे इसके इतिहास में विद्या-वंश का इतिहास आता है। तत्त्वार्थ में उसके कर्ता ने जिस विद्या का समावेश किया वह उन्होंने गुरु परम्परा से प्राप्त की और उसे विशेष उपयोगी बनाने के उद्देश से

---

१ ये दोनों वंश आर्य परम्परा और आर्य साहित्य में हजारों वर्षों से प्रसिद्ध हैं। 'जन्म-वंश' योनि सम्बन्ध की प्रधानता को लिये हुए गृहस्थाश्रम-सापेक्ष है और 'विद्या-वंश' विद्या सम्बन्ध की प्रधानता को लिये हुए गुरु परम्परा-सापेक्ष है। इन दोनों वंशों का उल्लेख पाणिनीय व्याकरणसूत्र में तो स्पष्ट ही है। यथा—"**विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ्**" ४ ३ ७७। इससे इन दो वंशों की स्पष्ट कल्पना पाणिनि से भी बहुत ही पुरानी है।

अपनी दृष्टि के अनुसार अमुक रूप में व्यवस्थित की है। उन्होंने उस विद्या का तत्त्वार्थ शास्त्र में जो स्वरूप व्यवस्थित किया वही आगे ज्यों का त्यों नहीं रहा। इसके अभ्यासियों एव टीकाकारों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार अपने अपने समय में प्रचलित विचारधाराओं में से कितना ही लेकर उस विद्या में सुधार, वृद्धि, पूर्त्ति और विकास किया है। अतएव प्रस्तुत परिचय में तत्त्वार्थ और इसके कर्त्ता के अतिरिक्त इसकी वश-लता रूप से विस्तीर्ण टीकाओं तथा उन टीकाओं के कर्ताओं का भी परिचय कराना आवश्यक है।

तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र के प्रणेता जैनसम्प्रदाय के सभी फिरकों में पहले से आज पर्यन्त एक रूप से माने जाते हैं। दिगम्बर उन्हें अपनी शाखा में और श्वेताम्बर अपनी शाखा में मानते हुए चले आये है। दिगम्बर परम्परा मे ये 'उमास्वामी' और 'उमास्वाति' इन नामों से प्रसिद्ध हैं, जब कि श्वेताम्बर परम्परा में केवल 'उमास्वाति' नाम ही प्रसिद्ध है। इस समय दिगम्बर परम्परा में कोई कोई तत्त्वार्थशास्त्र-प्रणेता उमास्वाति को कुन्दकुन्द के शिष्य रूप से समझते हैं[1] और श्वेताम्बरों में थोडी बहुत ऐसी मान्यता दिखलाई पड़ती है कि, प्रज्ञापना सूत्र के कर्ता श्यामाचार्य के गुरु हारितगोत्रीय 'स्वाति' ही तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति हैं[2]। ये दोनों प्रकार की मान्यताएँ कोई प्रमाणभूत आधार न रखकर पीछे से प्रचलित हुई जान पड़ती हैं, क्योंकि दशवीं शताब्दी से पहले के किसी भी विश्वस्त दिगम्बरीय ग्रंथ, पट्टावली या शिला लेख आदि में ऐसा उल्लेख देखने में नहीं आता कि जिसमें उमास्वाति को

---

१ देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १४४ से आगे।

२ "आर्यमहागिरेस्तु शिष्यौ बहुल-बलिस्सहौ यमल-भ्रातरौ तत्र बलिस्सहस्य शिष्य· स्वाति, तत्त्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव संभाव्यन्ते। तच्छिष्य· श्यामाचार्य प्रज्ञापनाकृत् श्रीवीरात् षट्सप्तत्यधिकशतत्रये (३७६) स्वर्गभाक्।"—धर्मसागरोय लिखित पट्टावली।

तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता कहा हो और उन्हीं उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य भी कहा हो[1]। इस मतलब वाले जो उल्लेख दिगम्बर साहित्य में अद्यावधि देखने मे आये है वे सभी दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से पीछे के हैं और उनका प्राचीन विश्वस्त आधार कोई भी नजर नहीं आता। खास विचारने जैसी बात तो यह है कि, पाँचवीं से नववीं शताब्दी तक होने वाले तत्त्वार्थसूत्र के प्रसिद्ध और महान् दिगम्बरीय व्याख्याकारों ने अपनी अपनी व्याख्या में कहीं भी स्पष्टरूप से तत्त्वार्थसूत्र को उमास्वाति का रचा हुआ नहीं कहा है और न इन उमास्वाति को दिगम्बरीय, श्वेताम्बरीय या तटस्थ रूप से ही उल्लिखित किया है[2]। जब कि श्वेताम्बरीय साहित्य में आठवीं शताब्दी के ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र के वाचक उमास्वाति-रचित होने के विश्वस्त उल्लेख मिलते हैं और इन ग्रन्थकारों

---

१ श्रवणबेल्गोल के जिन जिन शिलालेखों में उमास्वाति को तत्त्वार्थरचयिता और कुन्दकुन्द का शिष्य कहा है वे सभी शिलालेख विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के बाद के हैं। देखो, माणिकचन्द ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित **'जैन शिलालेख संग्रह'** लेख न० ४०, ४२, ४३, ४७, ५० और १०८।

नन्दिसंघ की **पट्टावली** भी बहुत ही अपूर्ण तथा ऐतिहासिक तथ्यविहीन होने से उसके ऊपर पूरा आधार नहीं रक्खा जा सकता, ऐसा प० जुगलकिशोर जी ने अपनी परीक्षा में सिद्ध किया है। देखो, **'स्वामी समन्तभद्र'** पृष्ठ १४४ से। इससे इस **पट्टावली** तथा इस जैसी दूसरी पट्टावलियों में भी मिलने वाले उल्लेखों को दूसरे विश्वस्त प्रमाणों के आधार के बिना ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता।

"तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्॥"

यह तथा इसी आशय के अन्य गद्य-पद्यमय दिगम्बरीय अवतरण किसी भी विश्वस्त तथा प्राचीन आधार से रहित हैं, इससे इन्हें भी अन्तिम आधार के तौर पर नहीं रक्खा जा सकता।

२ विशेष खुलासे के लिये देखो इसी **परिचय** के अन्त में **'परिशिष्ट'**

की दृष्टि में उमास्वाति श्वेताम्बरीय थे ऐसा मालूम होता है[1], परन्तु १६वीं, १७वीं शताब्दी के धर्मसागर की तपागच्छ की 'पट्टावली' को यदि अलग कर दिया जाय तो किसी भी श्वेताम्बरीय ग्रन्थ या पट्टावली आदि में ऐसा निर्देश तक नहीं पाया जाता कि, तत्त्वार्थसूत्र-प्रणेता वाचक उमास्वाति श्यामाचार्य के गुरु थे।

वाचक उमास्वातिकी खुद की रची हुई, अपने कुल तथा गुरु-परम्परा को दर्शानेवाली, लेशमात्र संदेहसे रहित तत्त्वार्थसूत्र की प्रशस्ति के आज तक विद्यमान होते हुए भी इतनी भ्राति कैसे प्रचलित हुई होगी, यह एक आश्चर्यकारक समस्या है। परन्तु जब पूर्वकालीन साम्प्रदायिक व्यामोह और ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव की तरफ ध्यान जाता है तो यह समस्या हल हो जाती है। वा० उमास्वाति के इतिहास-विषय में उनकी खुद की रची हुई छोटीसी प्रशस्ति ही एक सच्चा साधन है। उनके नाम के साथ जोड़ी हुई दूसरी बहुत सी हकीकतें[2] दोनों सम्प्रदायों की परम्परा में चली आती हैं, परन्तु वे सब अभी परीक्षणीय होने से उन्हें अक्षरशः ठीक नहीं माना जा सकता। उनकी वह संक्षिप्त प्रशस्ति और उसका सार इस प्रकार है:—

वाचकमुख्यस्य शिवश्रिय. प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविद॰ ॥१॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्न॰ प्रथितकीर्तेः ॥२॥
न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥३॥

---

१ देखो, प्रस्तुत परिचय पृ० १७ टिप्पण २।

२ जैसे कि दिगम्बरों में गृध्रपिच्छ आदि तथा श्वेताम्बरों में पांचसौ ग्रन्थों के रचयिता आदि।

अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य ।
दु.खार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥४॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम् ।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥६॥

"जिनके दीक्षागुरु ग्यारह अग के धारक 'घोषनन्दि' क्षमण थे और प्रगुरु—गुरु के गुरु—वाचकमुख्य 'शिवश्री' थे, वाचना से अर्थात् विद्या-ग्रहण की दृष्टि से जिसके गुरु 'मूल' नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक 'मुण्डपाद' थे, जो गोत्र से 'कौभीषणि' थे, और जो 'स्वाति' पिता और 'वात्सी' माता के पुत्र थे, जिनका जन्म 'न्यग्रोधिका' में हुआ था और जो 'उच्चनागर'[1] शाखा के थे, उन उमास्वाति वाचक ने

---

१ 'उच्चैर्नागर' शाखाका प्राकृत 'उच्चानागर' ऐसा नाम मिलता हैं। यह शाखा किसी ग्राम या शहर के नाम पर से प्रसिद्ध हुई होगी ऐसा तो स्पष्ट दीख पड़ता है। परन्तु यह ग्राम कौनसा नगर होगा यह निश्चित करना कठिन है। हिन्दुस्तान के अनेक भागों में नगर नाम के या जिनके अन्त में नगर नाम हो ऐसे नामों के अनेक शहर तथा ग्राम हैं। 'वड़नगर' यह गुजरात का पुराना तथा प्रसिद्ध नगर है। वड का अर्थ मोटा (विशाल) और मोटा अर्थात् कदाचित् ऊँचा ऐसा भी अर्थ होता है। लेकिन वडनगर यह नाम भी पूर्व देश के उस अथवा उस जैसे नाम के शहर पर से गुजरात में लिया गया है, ऐसी भी विद्वानों की कल्पना है। इससे उच्चनागर शाखा का वड़नगर के साथ ही सम्बन्ध है ऐसा जोर देकर नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय, जिस काल में उच्चनागर शाखा उत्पन्न हुई उस काल में वडनगर था कि नहीं और था तो उसके साथ जैनों का सम्बन्ध कितना था यह भी विचारने की बात है। उच्चनागर शाखा के उद्भव समय का जैनाचार्यो का मुख्य विहार गगा-यमुना की तरफ़ होने के प्रमाण मिलते हैं। इससे वडनगर के साथ उच्चनागर शाखा का सम्बन्ध होने की कल्पना सबल नहीं रहती। कनिंग्म

गुरु परम्परा से प्राप्त हुए श्रेष्ठ आर्हत उपदेश को भली प्रकार धारण कर के तथा तुच्छ शास्त्रों द्वारा हतबुद्धि दुःखित लोक को देख कर के प्राणियों की अनुकंपा से प्रेरित होकर यह 'तत्त्वार्थाधिगम' नाम का स्पष्ट शास्त्र विहार करते हुए 'कुसुमपुर' नाम के महानगर में रचा है। जो इस तत्त्वार्थशास्त्र को जानेगा और उसके कथनानुसार आचरण करेगा वह अव्यावाधसुख नाम के परमार्थ-मोक्ष को शीघ्र प्राप्त करेगा।"

इस प्रशस्ति में ऐतिहासिक हकीक़त को सूचित करने वाली मुख्य छ बातें हैं—१ दीक्षागुरु तथा दीक्षाप्रगुरु का नाम और दीक्षागुरु की योग्यता, २ विद्यागुरु तथा विद्याप्रगुरु का नाम, ३ गोत्र, पिता तथा माता का नाम, ४ जन्मस्थान का तथा ग्रंथरचनास्थान का नाम, ५ शाखा तथा पदवी का सूचन और ६ ग्रंथकर्ता तथा ग्रन्थ का नाम।

जिस प्रशस्ति का सार ऊपर दिया गया है और जो इस समय भाष्य के अन्त में उपलब्ध होती है वह प्रशस्ति उमास्वाति की खुद की रची हुई नहीं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। डा० हर्मन जैकोबी जैसे विचारक भी इस प्रशस्ति को उमास्वाति की ही मानते हैं और यह बात उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत किये हुए तत्त्वार्थ के जर्मन अनुवाद की भूमिका से जानी जा सकती है। इससे इसमें जिस हकीकत का उल्लेख है उसे ही यथार्थ मान कर उस पर से वा० उमास्वाति विषयक दिगम्बर-श्वेताम्बर-परम्परा में चली आई हुई मान्यताओं का खुलासा करना यही इस समय राजमार्ग है।

इस विषय में लिखता है कि "यह भौगोलिक नाम उत्तर पश्चिम प्रान्त के आधुनिक बुलन्दशहर के अन्तर्गत 'उच्चनगर' नाम के क़िले के साथ मिलता हुआ है।"—देखो, **आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ़ इंडिया रिपोर्ट**, वॉल्यूम १४, पृ० १४७।

नागरोत्पत्ति के निबन्ध में रा० रा० मानशंकर 'नागर' शब्द का सम्बन्ध दिखलाते हुए नगर नाम के अनेक ग्रामों का उल्लेख करते हैं। इसलिये यह भी विचार की सामग्री में आता है। देखो, **छठी गुजराती साहित्यपरिषद् की रिपोर्ट**।

ऊपर निर्दिष्ट छः बातों में से पहली और दूसरी बात कुन्दकुन्द के साथ दिगम्बरसम्मत उमास्वाति के सम्बन्ध को असत्य ठहराती है। कुन्दकुन्द के उपलब्ध अनेक नामों में से ऐसा एक भी नाम नहीं जो उमास्वाति द्वारा दर्शाये हुए अपने विद्यागुरु तथा दीक्षागुरु के नामों मे आता हो, इससे कुन्दकुन्द का उमास्वाति के साथ विद्या अथवा दीक्षा-विषय में गुरुशिष्यभावात्मक सम्बन्ध था इस कल्पना को स्थान ही नही। इसी प्रकार उक्त प्रशस्ति में उमास्वाति के वाचक-परम्परा में होने का तथा उच्चनागर शाखा में होने का स्पष्ट कथन है, जब कि कुन्दकुन्द के नन्दि[1]संघ में होने की दिगम्बरमान्यता है, और उच्चनागर नाम की कोई शाखा दिगम्बरसम्प्रदायमें हुई हो ऐसा आज भी जानने में नहीं आता। इससे दिगम्बरपरम्परा में कुन्दकुन्द के शिष्यरूप से माने जाने वाले उमास्वाति यदि वास्तव में ऐतिहासिक व्यक्ति हों तो भी उन्होंने यह तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र रचा था यह मान्यता विश्वस्त आधार से रहित होने के कारण पीछे से[2] कल्पना की गई मालूम होती है।

उक्त बातों में से तीसरी बात श्यामाचार्य के साथ उमास्वाति के सम्बन्ध की श्वेताम्बरीय मान्यता को असत्य ठहराती है, क्योंकि वाचक उमास्वाति अपने को कौभीषणि कह कर अपना गोत्र 'कौभीषण' सूचित करते हैं, जब कि श्यामाचार्य के गुरुरूप से पट्टावलि में दाखिल हुए 'स्वाति' को 'हारित' गोत्र[3] का वर्णन किया गया है, इसके सिवाय तत्त्वार्थ के प्रणेता उमास्वाति को उक्त प्रशस्ति स्पष्टरूप से 'वाचक' वंश में हुआ बतलाती है, जब कि श्यामाचार्य या उनके गुरुरूप से निर्दिष्ट

---

१ देखो, **'स्वामी समन्तभद्र'** पृ० १५८ से तथा प्रस्तुत **परिचय** का **परिशिष्ट**।

२ देखो प्रस्तुत **परिचय** पृ० ३ टिप्पणी नं० १ तथा प्रस्तुत **परिचय** का **परिशिष्ट**।

३ **"हारियगुत्तं साइं च वंदिमो हारियं च सामज्ज"** ॥२६॥

—नन्दिसूत्र की स्थविरावली पृ० ४९।

'स्वाति' नाम के साथ वाचक वंश-सूचक कोई विशेषण पट्टावली में नज़र नहीं आता। इस प्रकार उक्त प्रशस्ति एक तरफ दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में चली आई हुई भ्राँत कल्पनाओं का निरसन करती है और दूसरी तरफ वह ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त होते हुए भी सच्चा इतिहास प्रस्तुत करती है।

(क) वाचक उमास्वातिका समय

वाचक उमास्वाति के समय-सम्बन्ध में उक्त प्रशस्ति में कुछ भी निर्देश नहीं है, इसी तरह समय का ठीक निर्धारण कर देने वाला ऐसा दूसरा भी कोई साधन अभी तक प्राप्त नहीं हुआ, ऐसी स्थिति में इस सम्बन्ध में कुछ विचार करने के लिये यहाँ तीन बातों का उपयोग किया जाता है—१ शाखानिर्देश, २ प्राचीन से प्राचीन टीकाकारों का समय और ३ अन्य दार्शनिक ग्रंथों की तुलना।

१. प्रशस्ति में जिस 'उच्चैर्नागरशाखा' का निर्देश है वह शाखा कब निकली यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, तो भी कल्पसूत्र की स्थविरावली में 'उच्चानागरी' शाखा का उल्लेख है[१], यह शाखा आर्य 'शांतिश्रेणिक' से निकली है। आर्य शांतिश्रेणिक आर्य 'सुहस्ति' से चौथी पीढी में आते हैं। आर्य सुहस्ति के शिष्य सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध और उनके शिष्य इंद्रदिन्न, इंद्रदिन्न के शिष्य दिन्न और दिन्न के शिष्य शांतिश्रेणिक दर्ज हैं। यह शांतिश्रेणिक आर्य वज्र के गुरु जो आर्य सिंहगिरि, उनके गुरु भाई थे, इससे वे आर्य वज्र की पहली पीढी में आते हैं। आर्य सुहस्तिका स्वर्गवास-समय वीरात् २९१ और वज्र का स्वर्गवास-समय वीरात् ५८४ उल्लिखित मिलता हैं। अर्थात् सुहस्ति के स्वर्गवास-समय से

---

१ "थेरेहिंतो णं अज्जसंतिसेणिएहिंतो माढरसगुत्तेहिंतो एत्थ णं उच्चानागरी साहा निग्गया।"—मूल कल्पसूत्रस्थविरावलि पृ० ५५। आर्य शांतिश्रेणिक की पूर्व परम्परा जानने के लिये इससे आगे के कल्पसूत्र के पत्र देखो।

वज्र के स्वर्गवास-समय तक २६३ वर्ष के भीतर पाँच पीढियाँ उपलब्ध होती हैं। इस तरह सरसरी तौर पर एक एक पीढ़ी का काल साठ वर्ष का मान लेने पर सुहस्ति से चौथी पीढ़ी में होने वाले शांतिश्रेणिक का प्रारम्भ काल वीरात् ४७१ का आता है। इस समय के मध्य मे या थोडा आगे पीछे शांतिश्रेणिक से उच्चनागरी शाखा निकली होगी। वाचक उमास्वाति, शांतिश्रेणिक की ही उच्चनागर शाखा में हुए हैं ऐसा मानकर और इस शाखा के निकलने का जो समय अटकल किया गया है उसे स्वीकार करके यदि आगे चला जाय तो भी यह कहना कठिन है कि वा० उमास्वाति इस शाखा के निकलने बाद कब हुए हैं? क्योंकि अपने दीक्षागुरु और विद्यागुरु के जो नाम प्रशस्ति में उन्होंने दिये है उनमें से एक भी कल्पसूत्र की स्थविरावलि में या उस प्रकार की किसी दूसरी पट्टावली में नहीं पाया जाता। इससे उमास्वाति के समय-सबंध में स्थविरावलि के आधार पर यदि कुछ कहना हो तो अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि, वे वीरात् ४७१ अर्थात् विक्रम सवत् के प्रारम्भ के लगभग किसी समय हुए हैं, उससे पहले नहीं, इससे अधिक परिचय अभी अन्धकार में है।

२. इस अंधकार में एक अस्पष्ट प्रकाश डालने वाली एक किरण तत्त्वार्थसूत्र के प्राचीन-टीकाकार के समय-सम्बन्धी है, जो उमास्वाति के समय की अनिश्चित उत्तर सीमा को मर्यादित करती है। स्वोपज्ञ माने जाने वाले भाष्य को यदि अलग किया जाय तो तत्त्वार्थ सूत्र पर जो सीधी टीकाएँ इस समय उपलब्ध हैं उन सब में पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि' प्राचीन है। पूज्यपाद का समय विद्वानों ने विक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी निर्धारित किया है, इससे सूत्रकार वा० उमास्वाति विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से पूर्व किसी समय हुए हैं, ऐसा कह सकते है।

ऊपर की विचारसरणी के अनुसार वा० उमास्वाति का प्राचीन से प्राचीन समय विक्रम की पहली शताब्दी और अर्वाचीन से अर्वाचीन

समय तीसरी-चौथी शताब्दी आता है। इन तीन सौ चार सौ वर्ष के अन्तराल मे से उमास्वाति का निश्चित समय शोधने का काम बाकी रह जाता है।

३. समय-सम्बन्धी इस सम्भावना में और भावी शोध में उपयोगी होने वाली ऐसी कुछ विशेष बातें भी है जो उनके तत्त्वार्थ सूत्र और भाष्य के साथ दूसरे दर्शनों तथा जैन आगम की तुलना मे से फलित होती है, उन्हें भी यहाँ पर दिया जाता है। यद्यपि ऐसा नहीं है कि ये बाते सीधे तौर पर समय का ठीक निर्णय करने के लिये इस समय सहायक हो सकें, फिर भी यदि दूसरे सबल प्रमाण मिल जायँ तो इन घटनाओं का क़ीमती उपयोग होने में तो कुछ भी शका नहीं है। इस समय तो ये बातें भी हमें उमास्वाति के उपर्युक्त अटकल किये हुए समय की तरफ ही ले जाती हैं।

(क) जैन-आगम 'उत्तराध्ययन' कणाद के सूत्रों से पहले का होना चाहिए ऐसी सम्भावना परपरा से और दूसरी तरह भी होती है। कणाद के सूत्र बहुत करके ईसवी सन् से पूर्व की पहली शताब्दी के माने जाते हैं। जैन आगमों के आधार पर रचे हुए तत्त्वार्थसूत्रों में तीन सूत्र ऐसे हैं कि जिनमें उत्तराध्ययन की छाया के अतिरिक्त कणादके सूत्रों का साहश्य दिखलाई देता है। इन तीन सूत्रों में पहला द्रव्य का, दूसरा गुण का, और तीसरा काल का लक्षणविषयक है।

उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन की ६ ठी गाथा में द्रव्य का लक्षण "गुणाणमासओ दव्व"—गुणानामाश्रयो द्रव्यम्। अर्थात्, जो गुणों का आश्रय वह द्रव्य, इतना ही है। कणाद द्रव्य के लक्षण में गुण के अतिरिक्त क्रिया और समवायिकारणता को दाखिल करके कहता है कि "क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्"—१. १ १५। अर्थात्, जो क्रिया वाला, गुण वाला तथा समवायिकारण हो वह द्रव्य है। वा० उमास्वाति उत्तराध्ययन-कथित गुणपद को क़ायम रख कर कणाद-

सूत्रों मे दिखाई देने वाले 'क्रिया' शब्द की जगह जैन-परम्परा-प्रसिद्ध 'पर्याय' शब्द रखकर द्रव्य का लक्षण बाँधते हैं कि **'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्'** ५. ३७। अर्थात्, जो गुण तथा पर्याय वाला हो वह द्रव्य।

उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन की ६ठी गाथा में गुण का लक्षण **"एगदव्वस्सिओ गुणा"—एकद्रव्याश्रिता गुणा।** अर्थात् जो एक द्रव्य के आश्रित हों वे गुण, इतना ही है। कणाद के गुणलक्षण में विशेष वृद्धि देखी जाती है। वह कहता है कि **"द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोग-विभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्"**–१.१ १६। अर्थात्, द्रव्य के आश्रित, निर्गुण और सयोग-विभाग में अनपेक्ष होते हुए भी जो कारण नहीं होता वह गुण है। उमास्वाति के गुणलक्षण में उत्तराध्ययन के गुणलक्षण के अतिरिक्त कणाद के गुणलक्षण में से एक 'निर्गुण' अश है। वे कहते है कि **"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा."**—५ ४०। अर्थात्, जो द्रव्य के आश्रित और निर्गुण हों वे गुण हैं।

उत्तराध्ययन के २८वें अध्ययन की १० वीं गाथा मे काल का लक्षण **"वत्तणालक्खणो कालो"—वर्तनालक्षण· काल।** अर्थात्, वर्तना यह काल का स्वरूप, इतना ही है। कणाद के काललक्षण में 'वर्तना' पद तो नहीं है परतु दूसरे शब्दों के साथ 'अपर' शब्द दिखलाई पड़ता है **"अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि"**—२. २. ६। उमास्वाति-कृत काललक्षण में 'वर्तना' पद के अतिरिक्त जो दूसरे पद दिखलाई पडते हैं उनमें 'परत्व' और 'अपरत्व' ये दो शब्द भी हैं, जैसा कि **"वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य"**–५. २२।

ऊपर दिये हुए द्रव्य, गुण तथा काल के लक्षणवाले तत्त्वार्थ के तीन सूत्रों के लिये उत्तराध्ययन के सिवाय किसी प्राचीन श्वेताम्बरीय जैन आगम अर्थात् अग का उत्तराध्ययन जितना ही शाब्दिक आधार हो ऐसा अभी तक देखने में नहीं आया, परतु विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी

के माने जानेवाले 'कुन्दकुन्द' के प्राकृत वचनों के साथ तत्त्वार्थ के संस्कृत सूत्रों का कहीं तो पूर्ण सादृश्य है और कहीं बहुत ही कम। श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ में द्रव्य के लक्षणवाले दो ही सूत्र हैं "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"–५. २६.। "गुणपर्यायवद् द्रव्यम्"–५. ३७.। इन दोनों के अतिरिक्त द्रव्य के लक्षणविषय में एक तीसरा सूत्र दिगम्बरीय सूत्रपाठ में है—"सद् द्रव्यलक्षणम्"–५. २९। ये तीनों दिगम्बरीय सूत्रपाठ गत सूत्र कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय की निम्न प्राकृत गाथा में पूर्णरूप से विद्यमान है।

"दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्ययधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥ १०॥"

इसके सिवाय, कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध ग्रन्थों के साथ तत्त्वार्थसूत्र का जो शाब्दिक तथा वस्तुगत महत्त्व का सादृश्य है वह आकस्मिक तो है ही नहीं।

(ख) उपलब्ध योगसूत्र के रचयिता पतंजलि माने जाते हैं, व्याकरण-महाभाष्य के कर्ता पतंजलि ही योगसूत्रकार हैं या दूसरे कोई पतंजलि, इस विषय में अभी कोई निश्चय नहीं। यदि महाभाष्यकार और योगसूत्रकार पतंजलि एक हों तो योगसूत्र विक्रम के पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी का है ऐसा कहा जा सकता है। योगसूत्र का 'व्यासभाष्य' कब का है यह भी निश्चित नहीं, फिर भी उसे विक्रम की तीसरी शताब्दी से प्राचीन मानने का कोई कारण नहीं है।

योगसूत्र और उसके भाष्य के साथ तत्त्वार्थ के सूत्रों और उनके भाष्य का शाब्दिक तथा आर्थिक सादृश्य बहुत है[1] और वह आकर्षक भी है, तो भी इन दोनों में से किसी एक के ऊपर दूसरे का असर है यह भली प्रकार कहना शक्य नहीं, क्योंकि तत्त्वार्थ के सूत्रों और भाष्य

१ इसका सविस्तर परिचय पाने के लिये देखो मेरा लिखा हुआ हिन्दी योगदर्शन, प्रस्तावना पृष्ठ ५२ से।

को योगदर्शन से प्राचीन जैन आगमग्रन्थों का वारसा मिला हुआ है, उमी प्रकार योगसूत्र और उसके भाष्य को पुरातन सांख्य, योग तथा बौद्ध आदि परम्पराओं का वारसा मिला हुआ है। ऐसा होते हुए भी तत्त्वार्थ के भाष्य में एक स्थल ऐसा है जो जैन अगग्रथों में अद्यावधि उपलब्ध नहीं और योगसूत्र के भाष्य में उपलब्ध है।

पहले निर्मित हुई आयु कमती भी हो सकती है अर्थात् बीच में टूट भी सकती है और नहीं भी, ऐसी चर्चा जैन अग ग्रथों में है। परन्तु इस चर्चा में आयु के टूट सकने के पक्ष की उपपत्ति करने के लिये भीगे कपडे तथा सूखे घास का उदाहरण अगग्रन्थों में नहीं, तत्त्वार्थ के भाष्य में इसी चर्चा के प्रसग पर ये दोनों उदाहरण दिये गये है जो कि योगसूत्र के भाष्य में भी हैं। इन उदाहरणों में खूबी यह है कि दोनों भाष्यों का शाब्दिक सादृश्य भी बहुत ज्यादा है। साथ ही, यहाँ एक विशेषता भी है और वह यह कि योगसूत्र के भाष्य में जिसका अस्तित्व नहीं ऐसा गणित-विषयक एक तीसरा उदाहरण तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्य में पाया जाता है। दोनों भाष्यों का पाठ क्रमश. इस प्रकार है —

"×शेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजा. सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। × अपवर्तन शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्मफलोपभोगः उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम्। × सहतशुष्कतृणराशिदहनवत्। यथाहि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवश. क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिलप्रकीर्णोपचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याशुदाहो भवति। तद्वत्। यथा वा सख्यानाचार्य. करणलाघवार्थं गुणकारभागहाराभ्यां राशिं छेदादेवापवर्तयति न च सख्येयस्यार्थस्याभावो भवति तद्वदुपक्रमाभिहतो मरणसमुद्घातदु.खार्त. कर्मप्रत्ययमनाभोगपूर्वकं करणविशेषमुत्पाद्य फलोपभोगलाघवार्थं कर्मापवर्तयति न चास्य फलाभाव इति। किं चान्यत्। यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव च वितानित.

सूर्यरश्मिवाय्वभिहतः क्षिप्र शोषमुपयाति न च सहते तस्मिन् प्रभूतस्नेहागमो नापि वितानितेऽकृत्स्नशोष. तद्वद् यथोक्तनिमित्तापवर्तनै कर्मणः क्षिप्र फलोपभोगो भवति। न च कृतप्रणाशाकृताभ्यागमाफल्यानि।"—तत्त्वार्थ-भाष्य २. ५२।

"आयुर्विपाक कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमं च। तत्र यथार्द्रं वस्त्र वितानित ह्रसीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा वाग्नि शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत् तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम्। तदैकभविकमायुष्करं कर्म द्विविधं सोपक्रम निरुपक्रमं च।"—योग-भाष्य ३ २२।

(ग) अक्षपाद का 'न्यायदर्शन' ईस्वी सन् के आरम्भ के लगभग का रचा हुआ माना जाता है। उसका 'वात्स्यायनभाष्य' दूसरी-तीसरी शताब्दी के भाष्यकाल की प्राथमिक कृतियों में से एक कृति है। इस कृति के कुछ शब्द और विषय तत्त्वार्थभाष्य में पाये जाते हैं। न्यायदर्शन (१ १ ३)-मान्य प्रमाणचतुष्कवाद का निर्देश तत्त्वार्थ अ० १ सू० ६ और ३५ के भाष्य मे पाया जाता है[1]। तत्त्वार्थ १ १२ के *भाष्य में अर्थापत्ति*, सभव और *अभाव* आदि प्रमाणों के भेद का निरसन न्यायदर्शन (२ १ १) आदि के जैसा ही है। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष के लक्षण में "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्" (१ १ ४) ऐसे शब्द हैं। तत्त्वार्थ १. १२ के भाष्य में

---

१ "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानि"। न्यायदर्शन १ १ ३। 'चतुर्विधमित्येके नयवादान्तरेण"—तत्त्वार्थभाष्य १.६ और "यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानाप्तवचनै प्रमाणैरेकोऽर्थ प्रमीयते"—तत्त्वार्थभाष्य। १ ३५।

अर्थापत्ति आदि जुदे माने जाने वाले प्रमाणों को मति और श्रुत ज्ञान में समावेश करते हुए इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है। यथा — "सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानि इन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात्।

इसी तरह पतंजलि-महाभाष्य[1] और न्यायदर्शन (१ १.१५) आदि में पर्याय शब्द की जगह 'अनर्थान्तर' शब्द के प्रयोग की जो पद्धति है वह तत्त्वार्थ सूत्र (१.१३) में भी पाई जाती है।

(घ) बौद्ध दर्शन की शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि शाखाओं के खास मतव्यों का अथवा विशिष्ट शब्दों का जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धि में उल्लेख है उस प्रकार तत्त्वार्थभाष्य में नहीं है तो भी बौद्धदर्शन के थोडे से सामान्य मन्तव्य तन्त्रान्तर के मन्तव्यों के रूप में दो एक स्थल पर आते है। वे मतव्य पाली पिटक के ऊपर से लिये गये हैं या महायान के संस्कृत पिटकों से लिये गये हैं अथवा किसी दूसरे ही तद्विषयक ग्रन्थ के ऊपर से लिये गये हैं—यह विचारणीय है। उनमें पहला उल्लेख जैनमत के अनुसार नरकभूमियों की संख्या बतलाते हुए बौद्ध सम्मत संख्या का खंडन करने के लिये आ गया है। वह इस प्रकार है —"अपि च तन्त्रान्तरीया असंख्येपु लोकधातुष्वसंख्येया पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिता"—तत्त्वार्थभाष्य-३. १।

दूसरा उल्लेख, जैनमत के अनुसार पुद्गल का लक्षण बतलाते हुए, बौद्ध-सम्मत[2] पुद्गल शब्द के अर्थ का निराकरण करते हुए आया है। यथा—पुद्गलानिति च तंत्रान्तरीया जीवान् परिभाषन्ते— —अ० ५ सू० २३ का उत्थानभाष्य।

---

१ देखो, १,१ ५६; २ ३ १ और ५ १ ५९ का महाभाष्य।

२ यहाँ पर एक बात खास तौर से उल्लेख किये जाने योग्य है और वह यह कि उमास्वातिने बौद्धसम्मत 'पुद्गल' शब्द के 'जीव' अर्थ को मान्य न रखते हुए उसे मतान्तर के रूप में उल्लेख करके पीछे से जैनशास्त्र पुद्गल शब्द का क्या अर्थ

(ख) उमास्वाति की योग्यता

उमास्वाति के पूर्ववर्ती जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में लिखने की शक्ति को यदि विकसित किया न होता और उस भाषा में लिखने का प्रघात शुरू न किया होता तो उमास्वाति इतनी प्रसन्न संस्कृत शैली में प्राकृत परिभाषा में रूढ साम्प्रदायिक विचारों को इतनी सफलता-पूर्वक गूंथ सकते कि नहीं यह एक सवाल ही है; तो भी अद्यावधि उपलब्ध समग्र जैन वाङ्मय का इतिहास तो ऐसा ही कहता है कि जैनाचार्यों में उमास्वाति ही प्रथम संस्कृत लेखक हैं। उनके ग्रन्थों की प्रसन्न, संक्षिप्त और शुद्ध शैली संस्कृत भाषा के ऊपर उनके प्रभुत्व की साक्षी देती है। जैन आगम में प्रसिद्ध ज्ञान, ज्ञेय, आचार, भूगोल, खगोल आदि से सम्बन्ध रखने वाली बातों का जो संक्षेप में संग्रह उन्होंने तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र में किया है वह उनके 'वाचक' वंश में होने की और वाचक-पदकी यथार्थता की साक्षी देता है। उनके तत्त्वार्थ की प्रारंभिक कारिकाएँ और दूसरी पद्यकृतियाँ सूचित करती हैं कि वे गद्य की तरह पद्य के भी प्रांजल लेखक थे। उनके सभाष्य सूत्रों का बारीक अवलोकन जैन-आगम-संबंधी उनके सर्वग्राही अभ्यास के अतिरिक्त वैशेषिक, न्याय, योग और बौद्ध आदि दार्शनिक साहित्य संबंधी उनके अभ्यास की प्रतीति कराता है। तत्त्वार्थभाष्य (१. ५, २. १५) में उद्धृत व्याकरण के सूत्र उनके पाणिनीय-व्याकरण-विषयक अभ्यास की भी साक्षी देते हैं।

मानता है उसे सूत्र में बतलाया है। परन्तु भगवतीसूत्र श० ८ उ० १० और श० २० उ० २ में 'पुद्गल' शब्द का 'जीव' अर्थ स्पष्टरूप से वर्णित है। यदि भगवती में वर्णित पुद्गल शब्द का 'जीव' अर्थ जैनदृष्टि से ही वर्णन किया गया है ऐसा माना जाय तो उमास्वाति ने इसी मत को बौद्धमत के रूप में किस तरह अमान्य रखा होगा, यह सवाल है? क्या उनकी दृष्टि में भगवती गत पुद्गल शब्द का 'जीव' अर्थ यह बौद्धमत रूप ही होगा?

यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आपकी पाँच सौ ग्रन्थों के कर्ता होने की प्रसिद्धि है और इस समय आपकी कृतिरूप से कुछ ग्रन्थ प्रसिद्ध[1] भी हैं, तो भी इस विषय में आज संतोष-जनक कुछ भी कहने का साधन नहीं है। ऐसी स्थिति में भी 'प्रशमरति'[2] की भाषा और विचारसरणी इस ग्रन्थ का उमास्वातिकर्तृक होना मानने के लिये ललचाती है।

उमास्वाति अपने को 'वाचक' कहते हैं, इसका अर्थ 'पूर्ववित्'[3]

---

१ जम्बूद्वीपसमासप्रकरण, पूजाप्रकरण, श्रावकप्रज्ञप्ति, क्षेत्रविचार, प्रशमरति। सिद्धसेन अपनी वृत्ति में (पृ० ७८, प० २) उनके 'शौचप्रकरण' नामक ग्रथ का उल्लेख करते हैं, जो इस समय उपलब्ध नहीं।

२ वृत्तिकार सिद्धसेन—'प्रशमरति' को भाष्यकार की ही कृतिरूप से सूचित करते हैं। यथा—**"यत. प्रशमरतौ (का० २०८) अनेनैवोक्तम्—परमाणुर-प्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीय।" "वाचकेन त्वेतदेव बलसंज्ञया प्रशमरतौ (का० ८०) उपात्तम्"**–५. ६ तथा ९ ६ की भाष्यवृत्ति।

तथा सिद्धसेन भाष्यकार तथा सूत्रकार को एक तो समझते ही हैं। यथा—

"स्वकृतसूत्रसंनिवेशमाश्रित्योक्तम्।" —९. २२. पृ० २५३।

"इति श्रीमदर्हत्प्रवचने तत्त्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां च टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनगारागारिधर्म-प्ररूपकः सप्तमोऽध्याय.।"–तत्त्वार्थभाष्य के सातवें अध्याय की टीका की पुष्पिका।

प्रशमरतिप्रकरण की १२० वीं कारिका 'आचार्य आह' कह कर निशीथ-चूर्णि में उद्धृत की गई है। इस चूर्णि के प्रणेता जिनदास महत्तर का समय विक्रम की आठवी शताब्दी है जो उन्होंने अपनी नन्दिसूत्र की चूर्णि में बतलाया है, इस परसे ऐसा कह सकते हैं कि प्रशमरति विशेष प्राचीन है। इसने और ऊपर बतलाए हुए कारणों से यह कृति वाचक की हो तो इसमें कोई इनकार नहीं।

३ पूर्वों के चौदह होने का समवायाग आदि आगमों में वर्णन है। वे दृष्टि-वाद नामक बारहवें अङ्ग के पाचवाँ भाग थे ऐसा भी उल्लेख है। पूर्वं [illegible] भगवान महावीर द्वारा सबसे पहले दिया हुआ उपदेश, ऐसा प्रचलित परम्परा [illegible]

करके पहले से ही श्वेताम्बराचार्य उमास्वाति को 'पूर्ववित्' रूप से पह-चानते आए है। दिगम्बर परम्परा में भी उनको 'श्रुतकेवलिदेशीय' कहा है[1]।

इनका तत्त्वार्थग्रथ इनके ग्यारह अग विषयक श्रुतज्ञान की तो प्रतीति करा ही रहा है इससे इनकी इतनी योग्यता के विषय में तो कुछ भी सदेह नहीं। इन्होंने अपने को विरासत में मिले हुए आर्हत श्रुत के सभी पदार्थों का सग्रह[2] तत्त्वार्थ में किया है, एक भी महत्त्व की दीखने वाली बात को इन्होंने बिना कथन किये छोडा नहीं, इसी से आचार्य हेमचन्द्र सग्रहकार के रूप मे उमास्वाति का स्थान सर्वोत्कृष्ट आँकते हैं[3]। इसी योग्यता के कारण उनके तत्त्वार्थ की व्याख्या करने के लिये सभी श्वेता-म्बर-दिगम्बर आचार्य प्रेरित हुए हैं।

मान्यता है। पश्चिमीय विद्वानों की इस विषय में ऐसी कल्पना है कि भ० पार्श्वनाथ की परम्परा का जो पूर्वकालीन श्रुत भ० महावीर को अथवा उनके शिष्यों को मिला वह पूर्वश्रुत है। यह श्रुत क्रमश भ० महावीर के उपदिष्ट श्रुत में ही मिल गया और उसी का एक भाग रूप से गिना गया। जो भ० महावीर की द्वादशागी के धारक थे वे इस पूर्वश्रुत को जानते ही थे। कठ रखने के प्रघात और दूसरे कारणों से क्रमश पूर्वश्रुत नष्ट हो गया और आज सिर्फ 'पूर्वगतगाथा' रूप में नाम मात्र से शेष रहा उल्लिखित मिलता है।

१ नगर ताल्लुके के एक दिगम्बर शिलालेख नं० ४६ में इन्हें 'श्रुतकेवलि-देशीय' लिखा है। यथा—

"तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्॥"

२ तत्त्वार्थ में वर्णित विषयों का मूल जानने के लिये देखो उ० आत्मारामजी संपादित तत्त्वार्थसूत्र जैनागमसमन्वय।

३ "उपोमास्वातिं संग्रहीतार."—सिद्धहेम २. २. ३६।

(ग) उमास्वाति की परम्परा

दिगम्बर वाचक उमास्वाति को अपनी परम्परा का मान कर उनकी कृतिरूप से मात्र तत्त्वार्थसूत्र को ही स्वीकार करते हैं, जब कि श्वेताम्बर उन्हें अपनी परम्परा में हुआ मानते हैं और उनकी कृतिरूप से तत्त्वार्थ-सूत्र के अतिरिक्त भाष्य को भी स्वीकारते हैं। ऐसा होने से प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उमास्वाति दिगम्बर परम्परा मे हुए हैं या श्वेताम्बर परम्परा में अथवा दोनों से भिन्न किसी जुदी ही परम्परा में हुए हैं? इस प्रश्न का उत्तर भाष्य के कर्तृत्व की परीक्षा और प्रशस्ति की सत्यता की परीक्षा से जैसा निकल सकता है वैसा दूसरे एक भी साधन से निकल सकेगा ऐसा अभी मालूम नहीं होता, इससे उक्त भाष्य उमास्वाति की कृति है या अन्य की, तथा उसके अन्त में दी हुई प्रशस्ति यथार्थ है, कल्पित है, या पीछे से प्रक्षिप्त है, इन प्रश्नों की चर्चा करने की जरूरत मालूम होती है।

भाष्य के प्रारभ में जो ३१ कारिकाएँ हैं[१] वे सिर्फ मूलसूत्र रचना के उद्देश्य को जतलाने की पूर्ति करती हुई मूलग्रन्थ को ही लक्ष्य करके

---

१ इनके सिवाय, भाष्य के अन्त में प्रशस्ति से पहले ३२ अनुष्टुप् छन्द के पद्य हैं। इन पद्यों की व्याख्या भाष्य की उपलब्ध दोनों टीकाओं में पाई जाती है और व्याख्याकार इन पद्यों को भाष्य का समझ कर ही उनके ऊपर लिखते हैं। इनमें से ८ वें पद्य को उमास्वातिकर्तृक मान कर आ० हरिभद्र ने अपने **'शास्त्रवार्तासमुच्चय'** में ६९२ वें पद्य के रूप में उद्धृत किया है। इससे आठवीं शताब्दी के श्वेताम्बर आचार्य भाष्य को निर्विवाद रूप से स्वोपज्ञ मानते थे यह निश्चित है।

इन पद्यों को पूज्यपाद ने प्रारंभिक कारिकाओं की तरह छोड़ ही दिया है, तो भी पूज्यपाद के अनुगामी अकलंक ने अपने 'राजवार्तिक' के अन्त में इन पद्यों को लिया हो ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि मुद्रित राजवार्तिक के अन्त में वे पद्य दिखाई

लिखी गई मालूम होती है, उसी प्रकार भाष्य के अन्त में जो प्रशस्ति है उसे भी मूलसूत्रकार की मानने में कोई खास असंगति नहीं, ऐसा होते हुए भी यह प्रश्न खड़ा ही रहता है कि यदि भाष्यकार सूत्रकार से भिन्न होते और उनके सामने सूत्रकार की रची हुई कारिकाएँ तथा प्रशस्ति मौजूद होती तो क्या वे खुद अपने भाष्य के आरम्भ में और अन्त में मंगल और प्रशस्ति जैसा कुछ-न-कुछ बिना लिखे रहते? और यदि यह मान लिया जाय कि इन्होंने अपनी तरफ से आदि या अन्त में कुछ भी नहीं लिखा तो भी एक सवाल रहता ही है कि भाष्यकार ने जिस प्रकार सूत्र का विवरण किया है उसी प्रकार सूत्रकार की कारिकाओं और प्रशस्ति ग्रन्थ का विवरण क्यों नहीं किया? क्या यह हो सकता है कि वे सूत्रग्रन्थ की व्याख्या करने बैठें और उसके आदि तथा अन्त के मनोहर तथा महत्त्वपूर्ण भाग की व्याख्या करनी छोड़ दें? यह सवाल हमें इस निश्चित मान्यता के ऊपर ले जाता है कि भाष्यकार सूत्रकार से भिन्न नहीं हैं और इसी से उन्होंने भाष्य लिखते समय सूत्रग्रन्थ को लक्ष करके कारिकाएँ रचीं तथा शामिल कीं और अन्त में सूत्र तथा भाष्य दोनों के कर्ता रूप से अपना परिचय देने वाली अपनी प्रशस्ति लिखी है। इसके सिवाय, नीचे की दो दलीलें हमें सूत्रकार और भाष्यकार को एक मानने के लिए प्रेरित करती हैं।

देते हैं। दिगम्बराचार्य अमृतचन्द्र ने भी अपने 'तत्त्वार्थसार' में इन्हीं पद्यों को नम्बरों के कुछ थोड़े से हेर-फेर के साथ लिया है।

इन अन्त के पद्यों के सिवाय, भाष्य में बीच बीच में 'आह' 'उक्तं च' इत्यादि निर्देश पूर्वक और कहीं बिना किसी निर्देश के कितने ही पद्य आते हैं। ये पद्य भाष्यकर्ता के ही हैं या किसी दूसरे के इसके जानने का कोई विश्वस्त साधन नहीं है परन्तु भाषा और रचना को देखते हुए उन पद्यों के भाष्यकार कर्तृक होने की ही संभावना विशेष जान पड़ती है।

१ प्रारम्भिक कारिकाओं[1] में और कुछ स्थानों पर भाष्य[2] में भी 'वक्ष्यामि, वक्ष्याम ' आदि प्रथम पुरुष का निर्देश है और इस निर्देश मे की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद में सूत्र में कथन किया गया है, इससे सूत्र और भाष्य दोनों को एक की कृति मानने में सदेह नहीं रहता।

२ शुरू से अन्त तक भाष्य को देख जाने पर एक बात मन पर ठसती है और वह यह है कि किसी भी स्थल पर सूत्र का अर्थ करने में शब्दों की खींचातानी नहीं हुई, कहीं भी सूत्र का अर्थ करने में सदेह या विकल्प करने में नहीं आया, इसी प्रकार सूत्र की किसी दूसरी व्याख्या को मन में रख कर सूत्र का अर्थ नहीं किया गया और न कहीं सूत्र के पाठभेद का ही अवलम्बन लिया गया है।

यह वस्तुस्थिति सूत्र और भाष्य के एककर्तृक होने की चिरकालीन मान्यता को सत्य ठहराती है। जहाँ मूल और टीका के कर्ता जुदे होते हैं वहाँ तत्त्वज्ञान-विषयक प्रतिष्ठित तथा अनेक सम्प्रदायों में मान्य हुए ग्रन्थों में ऊपर जैसी वस्तु स्थिति नहीं होती। उदाहरण के तौर पर वैदिक दर्शन में प्रतिष्ठित 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थ को लीजिये, यदि इसका ही कर्ता खुद व्याख्याकार होता तो इसके भाष्य में आज जो शब्दों की खींचातानी, अर्थ के विकल्प और अर्थ का सदेह तथा सूत्र का पाठभेद दिखलाई पडता है वह कदापि न होता। इसी तरह तत्त्वार्थ सूत्र के प्रणेता ने ही यदि 'सर्वार्थसिद्धि', 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' आदि कोई व्याख्या लिखी होती तो उनमें जो अर्थ की खींचातानी, शब्द की तोड़-

---

१ "तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं सग्रह लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥२२॥
नर्ते च मोक्षमार्गाद् व्रतोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्।
तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥ ३१ ॥"

२ "गुणान् लक्षणतो वक्ष्याम"—५. ३७ का भाष्य, अगला सूत्र ५. ४०।
"अनादिरादिमांश्च तं परस्ताद्वक्ष्याम"—५. २२ का भाष्य, अगला सूत्र ५. ४२।

मरोड, अध्याहार, अर्थ का सदेह और पाठभेद[1] दिखाई देते हैं वे कभी न होते। यह वस्तुस्थिति निश्चित रूप से एककर्तृक मूल तथा टीका वाले ग्रन्थों को देखने से ठीक समझी जा सकती है। इतनी चर्चा मूल तथा भाष्य का कर्ता एक होने की मान्यता की निश्चित भूमिका पर हमें लाकर छोड देती[2] है।

मूल और भाष्य के कर्ता एक ही हैं, यह निश्चय इस प्रश्न के हल करने में बहु उपयोगी है कि वे किस परम्परा के थे? उमास्वाति दिगम्बर परपरा के नहीं थे ऐसा निश्चय करने के लिये नीचे की दलीलें काफी हैं–

१ प्रशस्ति में सूचित की हुई उच्चनागर शाखा या नागर शाखा के दिगम्बर सम्प्रदाय में होने का एक भी प्रमाण कहीं नहीं पाया जाता।

२ सूत्र में उद्दिष्ट[3] बारह स्वर्गों का भाष्य में वर्णन है, यह मान्यता दिगम्बर सम्प्रदाय को इष्ट नहीं[4]। 'काल' किसी के मत से वास्तविक द्रव्य

---

१ उदाहरण के तौर पर देखो, सर्वार्थसिद्धि—**"चरमदेहा इति वा पाठः"**–२ ५३। **"अथवा एकादश जिने न सन्तीति वाक्यशेपः कल्पनीय. सोपस्कारत्वात् सुत्राणाम्"**–९ ११ और **"लिङ्गेन केन सिद्धि.? अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्य सिद्धिर्भावतो न द्रव्यत, द्रव्यत पुलिङ्गेनैव अथवा निर्ग्रन्थलिङ्गेन सग्रन्थलिङ्गेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया"**–१०. ९।

२ उपलब्ध संस्कृत वाङ्मय को देखते हुए मूलकारने ही मूलसूत्र के ऊपर भाष्य लिखा हो ऐसा यह प्रथम ही उदाहरण है।

३ देखो, ४ ३ और ४ २० तथा उसका भाष्य।

४ देखो, ४. १९ की **सर्वार्थसिद्धि**। परन्तु **'जैन जगत'** वर्ष ५ अङ्क ७ में पृ० १२ पर प्रकट हुए लेख से मालूम होता है कि दिगम्बरीय प्राचीन ग्रन्थों मे बारह कल्प होने का कथन है। ये ही बारह कल्प सोलह स्वर्ग रूप वर्णन किये गये हैं। इससे असल में बारह की ही संख्या थी और बाद को किसी समय सोलह की संख्या दिगम्बरीय ग्रथों में आई है।

है ऐसा सूत्र (५. ३८) और उसके भाष्य का वर्णन दिगम्बरीय पक्ष (५. ३६) के विरुद्ध है। केवली मे (६. ११) ग्यारह परिषह होने की सूत्र और भाष्य-गत सीधी मान्यता तथा पुलाक आदि निर्ग्रंथों मे द्रव्यलिग के विकल्प की और सिद्धों में लिंगद्वार का भाष्यगत वक्तव्य दिगम्बर परपरा से उलटा है।

३ भाष्य मे केवलज्ञान के पश्चात् केवली के दूसरा उपयोग मानने न मानने की जो जुदी-जुदी मान्यताएँ (१. ३१) है उनमें से कोई भी दिगम्ब-रीय ग्रन्थों में नहीं दिखाई देतीं और श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में पाई जाती हैं।

उक्त दलीलें यद्यपि ऐसा साबित करती हैं कि वाचक उमास्वाति दिगम्बर परम्परा के नहीं थे, तो भी यह देखना तो बाकी ही रह जाता है कि तब वे कौन सी परपरा के थे? नीचे की दलीलें उन्हे श्वेताम्बर परम्परा के होने की तरफ ले जाती हैं।

१ प्रशस्ति मे उल्लिखित उच्चनागरीशाखा[2] श्वेताम्बरीय पट्टावली में पाई जाती है।

---

१ तुलना करो ६. ४६ और १०. ७ के भाष्य की इन्हीं सूत्रों की सर्वार्थ-सिद्धि के साथ। यहा पर यह प्रश्न होगा कि १० ६ की सर्वार्थसिद्धि में लिङ्ग और तीर्थ द्वार की विचारणा के प्रसग पर जैनदृष्टि के अनुकूल ऐसे भाष्य के वक्तव्य को बदल कर उसके स्थान पर रूढ दिगम्बरीयत्व-पोषक अर्थ किया गया है, तो फिर ६ ४७ की सर्वार्थसिद्धि में पुलाक आदि में लिङ्गद्वार का विचार करते हुए वैसा क्यों नहीं किया और रूढ दिगम्बरीयत्व के विरुद्ध जाने वाले भाष्य के वक्तव्य को अक्षरश कैसे लिया गया है? इसका उत्तर यही जान पड़ता है कि सिद्धों में लिङ्गद्वार की विचारणा में परिवर्तन किया जा सकता था इससे भाष्य को छोड़ कर परिवर्तन कर दिया। परन्तु पुलाक आदि में द्रव्यलिंग के विचार प्रसंग पर दूसरा कोई परि-वर्तन शक्य न था, इससे भाष्य का ही वक्तव्य अक्षरश रक्खा गया। यदि किसी भी तरह परिवर्तन शक्य जान पड़ता तो पूज्यपाद नहीं, तो अन्त में अकलङ्कदेव क्या उस परिवर्तन को न करते?

२ देखो, प्रस्तुत **परिचय** पृ० ५ तथा ८।

२ अमुक विषय-संबन्धी मतभेद या विरोध बतलाते हुए भी कोई ऐसे प्राचीन या अर्वाचीन श्वेताम्बर आचार्य नहीं पाये जाते जिन्होंने दिगम्बर आचार्यों की तरह भाष्य को अमान्य रक्खा हो।

३ जिसे उमास्वाति की कृति रूप से मानने में शंका का शायद ही अवकाश है ऐसे प्रशमरति[1] ग्रन्थ में मुनि के वस्त्र-पात्र का व्यवस्थित निरूपण देखा जाता है, जिसे श्वेताम्बर परम्परा निर्विवादरूप से स्वीकार करती है।

४ उमास्वाति के वाचकवंश का उल्लेख और उसी वंश में होने वाले अन्य आचार्यों का वर्णन श्वेताम्बरीय पट्टावलियों, पन्नवणा और नन्दी की स्थविरावली में पाया जाता है।

ये दलीलें वा० उमास्वाति को श्वेताम्बर परंपरा का सिद्ध करती हैं, और अब तक के समस्त श्वेताम्बर आचार्य उन्हें अपनी ही परंपरा का पहले से मानते आये हैं। वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा में हुए दिगम्बर में नहीं ऐसा खुद मेरा भी मन्तव्य अधिक वाचन चिन्तन के बाद आज पर्यन्त स्थिर हुआ है। इस मन्तव्य को विशेष स्पष्ट समझाने के लिए दिगम्बर श्वेताम्बर के भेद सम्बन्धी इतिहास के कुछ प्रश्नों पर प्रकाश डालना जरूरी है। पहला प्रश्न यह है कि इस समय जो दिगम्बर श्वेताम्बर के भेद या विरोध का विषय श्रुत तथा आचार देखा जाता है उसकी प्राचीन जड़ कहां तक पाई जाती है और वह प्राचीन जड़ मुख्यतया किस बात में थी? दूसरा प्रश्न यह है कि इन दोनों फिरकों को समानरूप से मान्य ऐसा श्रुत था या नहीं, और था तो कबतक वह समान मान्यता का विषय रहा, बाद उसमें मतभेद रूप से दाखिल हुआ, तथा उस मतभेद के अन्तिम फलस्वरूप एक दूसरे को परस्पर पूर्णरूपेण अमान्य ऐसे श्रुतभेद का निर्माण कब हुआ? तीसरा, पर अन्तिम प्रस्तुत प्रश्न यह है कि उमास्वाति खुद किस परम्परा के

---

१ देखो, पृ० १३५ से।

आचार का पालन करते थे, और उन्होंने जिस श्रुत को आधार बनाकर तत्त्वार्थ की रचना की वह श्रुत उक्त दोनों फिरकों को पूर्णतया समानभाव से मान्य था या किसी एक फिरके को ही पूर्णरूपेण मान्य, पर दूसरे को पूर्णरूपेण अमान्य ?

१ जो कुछ ऐतिहासिक सामग्री अभी प्राप्त है उससे निर्विवादतया इतना साफ जान पड़ता है कि भगवान् महावीर पार्श्वापत्य की[1] परम्परा में हुए और उन्होंने शिथिल या मध्यम त्याग मार्ग में अपने उत्कट त्यागमार्गमय व्यक्तित्व के द्वारा नवीन जीवन डाला। शुरू में विरोध और उदासीनता रखनेवाले भी अनेक पार्श्वसन्तानिक साधु, श्रावक भगवान् महावीर के शासन मे आ मिले[2]। भगवान् महावीर ने अपनी नायकत्वोचित उदार, पर तात्त्विक दृष्टि से अपने शासन मे उन दोनो दलों का स्थान निश्चित किया[3] जो बिलकुल नग्नजीवी तथा उत्कट विहारी था, और जो बिलकुल नग्न नहीं ऐसा मध्यममार्गी भी था। उक्त दोनों दलों का बिलकुल नग्न रहने या न रहने के विषय मे तथा थोडे बहुत अन्य

---

१. आचाराङ्गसूत्र सूत्र १७८।

२. कालासवेसियपुत्त (भगवती १. ९), केशी (उत्तराध्ययन अध्ययन २३) उदकपेढालपुत्त (सूत्रकृताङ्ग २ ७), गागेय (भगवती ९ ३२) इत्यादि। विशेष के लिये देखो **"उत्थान महावीरांक"** पृ० ५८। कुछ पार्श्वापत्यों ने तो पच-महाव्रत और प्रतिक्रमण के साथ नग्नत्व का भी स्वीकार किया ऐसा उल्लेख आज तक अगों में सुरक्षित है। उदाहरणार्थ देखो **भगवती** १.९।

३ **आचाराङ्ग** में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के मुनिओं का वर्णन है। अचेल मुनि के वर्णन के लिये प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन के १८३ सूत्र से आगे के सूत्र देखने चाहिए, और सचेल मुनि के वस्त्रविषयक आचार के लिए द्वितीय श्रुतस्कन्ध का ५ वाँ अध्ययन देखना चाहिए। और सचेल मुनि तथा अचेल मुनि ये दोनों मोह को कैसे जीतें इसके रोचक वर्णन के लिये देखो **आचाराङ्ग** १.८।

आचारों के विषय में भेद रहा[1], फिर भी वह भगवान के व्यक्तित्व के कारण विरोध का रूप धारण करने न पाया। उत्कट और मध्यम त्याग मार्ग के उस प्राचीन समन्वय में ही वर्त्तमान दिगम्बर श्वेताम्बर भेद की जड है।

उस प्राचीन समय में जैन परम्परा में दिगम्बर श्वेताम्बर जैसे शब्द न थे फिर भी आचारभेद सूचक नग्न, अचेल (उत्त० २३. १३, २६) जिनकल्पिक, पाणिप्रतिग्रह (कल्पसूत्र ६. २८), पाणिपात्र आदि शब्द उत्कट त्यागवाले दल के लिए, तथा सचेल, प्रतिग्रहधारी, (कल्पसूत्र ६ ३१) स्थविरकल्प (कल्पसूत्र० ६. ६३) आदि शब्द मध्यमत्यागवाले दल के लिए पाए जाते हैं।

२ इन दो दलों का आचारविषयक भेद होते हुए भी भगवान् के शासन के मुख्य प्राण रूप श्रुत में कोई भेद न था, दोनों दल बारह अग रूप से माने जाने वाले तत्कालीन श्रुत को समान भाव से मानते थे। आचारविषयक कुछ भेद और श्रुतविषयक पूर्ण अभेद की यह स्थिति तरतमभाव से भगवान् के बाद करीब डेढ सौ वर्ष तक रही। यह स्मरण रहे कि इस बीच मे भी दोनों दल के अनेक योग्य आचार्यों ने उसी अग श्रुत के आधार पर छोटे बडे ग्रन्थ रचे थे जिनको सामान्य रूप से दोनो दल के अनुगामी तथा विशेष रूप से उस उस ग्रन्थ के रचयिता के शिष्यगण मानते थे और अपने अपने गुरु प्रगुरु की कृति समझ कर उस पर विशेष भार देते थे। वे ही ग्रन्थ अगबाह्य, अनग, या उपाग रूप से[2] व्यवहृत हुए। दोनों दलों की श्रुत के विषय मे इतनी अधिक निष्ठा व वफादारी रही कि जिससे अग और अगबाह्य का प्रामाण्य समान रूप से मानने पर भी किसी ने अग और अनग श्रुत की भेदक रेखा को गौण न किया जो कि दोनो दल के वर्तमान साहित्य में आज भी स्थिर है।

---

१ देखो उत्तराध्ययन अ० २३।

२. दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, आवश्यक आदि।

एक तरफ से अचेलत्व, सचेलत्वादि आचार का पूर्वकालीन मतभेद जो एक दूसरे की सहिष्णुता के तथा समन्वय के कारण दबा हुआ था, वह धीरे धीरे तीव्र बनता चला। जिससे दूसरी तरफ से उसी आचार-विषयक मतभेद का समर्थन दोनो दलवाले मुख्यतया अग-श्रुत के आधार पर करने लगे, और साथ ही साथ अपने अपने दल के द्वारा रचित विशेष अगबाह्य श्रुत का भी उपयोग उसके समर्थन मे करने लगे। इस तरह मुख्यतया आचार के भेद में से जो दलभेद स्थिर हुआ उसके कारण सारे शासन में अनेकविध गड़बडी पैदा हुई। जिसके फलस्वरूप पाटलिपुत्र की वाचना (वी० नि० १६० लगभग) हुई[1]। इस वाचना तक और इसके आगे भी ऐसा अभिन्न अग श्रुत रहा जिसे दोनों दलवाले समान भाव से मानते थे पर कहते जाते थे कि उस मूलश्रुत का क्रमश. ह्रास होता जाता है। साथ ही वे अपने अपने अभिमत आचार के पोषक ग्रन्थों का भी निर्माण करते रहे। इसी आचारभेद पोषक श्रुत के द्वारा अन्तत उस प्राचीन अभिन्न अग श्रुत में मतभेद का जन्म हुआ, जो शुरू में अर्थ करने में था पर आगे जाकर पाठभेद की तथा प्रक्षेप आदि की कल्पना मे परिणत हुआ। इस तरह आचारभेदजनक विचारभेद ने उस अभिन्न अगश्रुतविषयक दोनो दल की समान मान्यता में भी भग पैदा किया। जिससे एक दल तो यह मानने मनवाने लगा कि वह अभिन्न मूल अगश्रुत बहुत अशो मे लुप्त ही हो गया है। जो बाकी है वह भी कृत्रिमता तथा नये प्रक्षेपों से खाली नहीं है। ऐसा कहकर भी वह दल उस मूल अग-श्रुत को सर्वथा छोड़ नहीं बैठा। पर साथ ही साथ अपने आचार पोषक श्रुत का विशेष निर्माण करने लगा और उसके द्वारा अपने पक्ष का प्रचार भी करता रहा। दूसरे दल ने देखा कि पहला दल उस मूल अगश्रुत में कृत्रिमता दाखिल हो जाने का आक्षेप भी करता है पर

१ परिशिष्टपर्व सर्ग ९ श्लोक ५५ से। वीरनिर्वाणसंवत् और जैनकाल गणना पृ० ९४।

यह उसे सर्वथा छोड़ता भी नहीं और न उसकी रक्षा में साथ ही देता है। यह देखकर दूसरे दलने मथुरा में[1] एक सम्मेलन किया। जिस में मूल अगश्रुत के साथ अपने मान्य अग बाह्यश्रुत का पाठनिश्चय, वर्गीकरण और सक्षेप-विस्तार आदि किया, जो उस दल मे भाग लेनेवाले सभी स्थविरों को प्राय. मान्य रहा। यद्यपि इस अग और अनग श्रुत का यह सस्करण नया था तथा उसमें अग और अनग की भेदक रेखा होने पर भी अग में अनग का प्रवेश[2] तथा हवाला जो कि दोनों के समप्रामाण्य का सूचक है आ गया था तथा उस के वर्गीकरण तथा पाठस्थापन में भी फर्क हुआ था, फिर भी यह नया सस्करण उस मूल अगश्रुत के अति निकट था, क्योंकि इसमें विरोधी दल के आचार की पोषक वे सभी बातें थीं जो मूल अगश्रुत में थीं। इस माथुर-संस्करण के समय से तो मूल अगश्रुत की समान मान्यता में दोनों दलों का बड़ा ही अन्तर पड़ गया। जिसने दोनों दलों के तीव्र श्रुतभेद की नींव डाली। अचेलत्व का समर्थक दल कहने लगा कि मूल अग श्रुत सर्वथा लुप्त हो गया है। जो श्रुत सचेल दल के पास है, और जो हमारे पास है वह सब मूल अर्थात् गणधर कृत न होकर पिछले अपने अपने आचार्यों के द्वारा रचित व सङ्कलित है। सचेल दलवाले कहते थे वेशक पिछले आचार्यों के द्वारा अनेकविध नया श्रुत रचा भी गया है, और उन्होंने नयी सङ्कलना भी की है फिर भी मूल अगश्रुत के भावों में कोई परिवर्त्तन या काट छाँट नहीं की गई है। बारीकी से देखने तथा ऐतिहासिक कसौटी से कसने पर सचेल दल का वह कथन बहुत कुछ सत्य ही जान पडता है, क्योंकि सचेलत्व का पक्षपात और

---

१ वी० नि० ८२७ और ८४० के बीच। देखो वीरनिर्वाणसंवत् और जैनकालगणना पृ० १०८।

२ जैसे भगवती सूत्र मे अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम-सूत्र और राजप्रश्नीय का उल्लेख है। देखो भगवती चतुर्थ खण्ड का परिशिष्ट।

उसका समर्थन करते रहने पर भी उस दल ने अगश्रुत मे से अचेलत्व समर्थक, अचेलत्व प्रतिपादक किसी भाग को उड़ा नहीं दिया[1]। जैसे अचेल दल कहता कि मूल अगश्रुत लुप्त हुआ वैसे ही उसके सामने सचेल दल यह कहता था कि जिनकल्प अर्थात् पाणिपात्र या अचेलत्व का जिनसम्मत आचार भी काल भेद के कारण लुप्त ही हुआ है[2] फिर भी हम देखते है कि सचेल दल के द्वारा सस्कृत, सगृहीत, और नव सङ्कलित श्रुत में अचेलत्व के आधारभूत सब पाठ तथा तदनुकूल व्याख्याएँ मौजूद हैं। सचेल दल के द्वारा अवलम्बित अगश्रुत के मूल अगश्रुत से अतिनिकटतम होने का सबूत यह है कि वह उत्सर्ग–सामान्यभूमिका वाला है, जिसमें अचेल-दल के सब अपवादों का या विशेष मार्गों का विधान पूर्णतया आज भी मौजूद है। जब कि अचेल दल के द्वारा सम्मत नग्नत्वाचारश्रुत औत्सर्गिक नहीं क्योंकि वह अचेलत्व मात्र का विधान करता है। सचेल दल का श्रुत अचेल तथा सचेल दोनों आचारों को मोक्ष का अग मानता है, वास्तविक अचेल-आचार की प्रधानता भी बतलाता है। उसका मतभेद उसकी सामयिकता मात्र मे है जब कि अचेल दल का श्रुत सचेलत्व को मोक्ष का अग ही नहीं मानता, उसे उसका प्रतिबन्धक तक मानता है[3]। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि सचेल दल का श्रुत अचेल दल के श्रुत की अपेक्षा उस मूल अगश्रुत से अतिनिकट है।

मथुरा के बाद वलभी[4] मे पुन श्रुत-सस्कार हुआ जिसमे स्थविर

---

१ देखो प्रस्तुत **परिचय** पृ० २५ की टिप्पणी नं० ३

२. **गण-परमोहि-पुलाए आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।**
संजमतिय केवलि-सिज्झणा य जम्बुम्मि वुच्छिण्णा॥ विशेषा० २५९३।

३ **सर्वार्थसिद्धि** में नग्नत्व को मोक्ष का मुख्य और अबाधित कारण माना है—पृ० २४८।

४ वी० नि० ८२७ और ८४० के बीच। देखो **वीरनिर्वाणसंवत् और जैन कालगणना** पृ० ११०।

था सचेल दल का रहा सहा मतभेद भी नाम शेष हो गया। पर इसके साथ ही उस दल के सामने अचेल दल का श्रुतविषयक विरोध उग्रतर बन गया। उस दल में से अमुक ने अब रहा सहा औदासीन्य छोड़ कर सचेल दल के श्रुत का सर्वथा बहिष्कार करने की ठानी।

३ वाचक उमास्वाति स्थविर या सचेल परम्परा के आचार वाले अवश्य रहे। अन्यथा उनके प्रशमरति ग्रन्थ में सचेल धर्मानुसारी प्रतिपादन कभी न होता, क्योंकि अचेल दल के किसी भी प्रवर मुनि की सचेल प्ररूपणा कभी संभव नहीं। अचेल दलके प्रधान मुनि कुन्दकुन्द ने भी एकमात्र अचेलत्व का[1] ही निर्देश किया है तब कुन्दकुन्द के अन्वय में होनेवाले किसी अचेल मुनि का सचेलत्व प्रतिपादन संगत नहीं। प्रशमरति की उमास्वाति-कर्तृकता भी विश्वास योग्य है। स्थविर दल की प्राचीन व विश्वस्त वंशावली में उमास्वाति की उच्चानागर शाखा तथा वाचक पद का पाया जाना भी उनके स्थविरपक्षीय होने का सूचक है। उमास्वाति विक्रम की तीसरी शताब्दी से पाँचवी शताब्दी तक में किसी भी समय में क्यों न हुए हों पर उन्होंने तत्त्वार्थ की रचना के आधाररूप जिस अंग-अनंग श्रुत का अवलम्बन किया था वह पूर्णतया स्थविरपक्ष को मान्य था। और अचेल दलवाले उसके विषय में या तो उदासीन थे या उसका त्याग ही कर बैठे थे। अगर उमास्वाति माथुरी वाचना के कुछ पूर्व हुए होंगे तब तो उनके द्वारा अवलम्बित अंग और अनंग श्रुत के विषय में अचेल पक्ष का प्रायः औदासीन्य था। अगर वे वालभी वाचना के आस पास हुए हों तब तो उनके अवलम्बित श्रुत के विषय में अचेल दल में से अमुक उदासीन ही नहीं बल्कि विरोधी भी बन गये थे। यहाँ यह प्रश्न अवश्य होगा कि जब उमास्वाति-अवलम्बित श्रुत अचेल दल में से अमुक को मान्य न था तब उस दल के अनुगामियों ने तत्त्वार्थ को इतना अधिक क्यों अपनाया? इसका जवाब भाष्य और

---

१ प्रवचनसार अधि० ३।

सर्वार्थसिद्धि की तुलना में से तथा मूलसूत्र में से मिल जाता है। उमास्वाति जिस सचेलपक्षावलम्बित श्रुत को धारण करते थे उसमें नग्नत्व का भी प्रतिपादन और आदर रहा ही जो सूत्रगत (९ ९) नाग्न्य शब्द से सूचित होता है। उनके भाष्य मे अगबाह्य रूप से जिस श्रुत का निर्देश है वह सब सर्वार्थसिद्धि में नहीं आया, क्योंकि दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार आदि अचेल पक्ष के अनुकूल ही नहीं। वह स्पष्टतया सचेल पक्ष का पोषक है, पर सर्वार्थसिद्धि में दशवैकालिक, उत्तराध्ययन का नाम आता है, जो खास अचेल पक्ष के किसी आचार्य की कृतिरूप से निश्चित न होने पर भी अचेल पक्ष का स्पष्ट विरोधी नहीं।

उमास्वाति के मूलसूत्रों की आकर्षकता, तथा भाष्य को छोड देने मात्र से उनके अपने पक्षानुकूल बनाने की योग्यता-देखकर ही पूज्यपाद ने उन सूत्रों पर ऐसी व्याख्या लिखी जो केवल अचेल धर्म का ही प्रतिपादन करे और सचेलधर्म का स्पष्टतया निरास करे। इतना ही नहीं, बल्कि पूज्यपादस्वामी ने सचेलपक्षावलम्बित एकादश अग तथा अगबाह्य श्रुत जो वाल्भी वाचना का वर्त्तमान रूप है उसका भी स्पष्टतया अप्रामाण्य सूचित कर दिया है। उन्होंने कहा है केवली को कवलाहारी मानना तथा मांस आदि के ग्रहण का बतलाना क्रमश केवली अवर्णवाद तथा श्रुतावर्णवाद है[1]। वस्तुस्थिति ऐसी जान पडती है कि पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि जो मुख्यरूप से स्पष्ट अचेलधर्म की प्रतिपादिका है, उसके बन जाने के बाद सचेलपक्षावलम्बित समग्र श्रुत का जैसा बहिष्कार, अमुक अचेल पक्ष ने

---

१ भगवती (शतक १५), आचाराङ्ग (शीलाङ्कटीकासहित पृ० ३३४, ३३५, ३४८, ३५२, ३६४,) प्रश्नव्याकरण (पृ० १४८, १५०) आदि में जो मास सम्बन्धी पाठ आते हैं उनको लक्ष्में रखकर सर्वार्थसिद्धिकारने कहा है कि आगम में ऐसी बातों का होना स्वीकार करना यह श्रुतावर्णवाद है। और भगवती (शतक १५) आदि में केवली के आहार का वर्णन है उसको लक्ष्में रख कर कहा है कि यह तो केवली का अवर्णवाद है।

किया वैसा दृढ व ऐकान्तिक बहिष्कार सर्वार्थसिद्धि की रचना के पूर्व में न हुआ था। यही कारण है कि सर्वार्थसिद्धि की रचना के बाद अचेल दल मे सचेलपक्षीय श्रुत का प्रवेश नाममात्र का ही रहा जैसा कि उत्तर कालीन दिगम्बरीय विद्वानों की श्रुतप्रवृत्ति से देखा जाता है। इस स्थिति में अपवाद है[1], जो अगण्य जैसा है। वस्तुत. पूज्यपाद के आसपास अचेल और सचेल पक्ष में इतनी खींचातानी और पक्षापक्षी बढ गई थी कि उसीके फलस्वरूप सर्वार्थसिद्धि के बन जाने तथा उसकी अति प्रतिष्ठा हो जाने पर अचेल पक्ष में से रहा सहा भी तत्त्वार्थ भाष्य का स्थान हट ही गया। विचार करने से भी इस प्रश्न का अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला कि जैसे तैसे भी सचेलपक्ष ने अगश्रुत को अभी तक किसी न किसी रूप में सम्हाल रखा, तब बुद्धि में श्रुत भक्ति में, और अप्रमाद मे सचेल पक्ष से किसी तरह कम नहीं ऐसे अचेल पक्ष ने अग श्रुत को समूल नष्ट होने क्यों दिया? जब कि अचेल पक्ष के अग्रगामी कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, समन्तभद्र आदि का इतना श्रुत विस्तार अचेल पक्ष ने सम्हाल रखा तब कोई सबब न था कि वह आज तक भी अगश्रुत के अमुक मूल भाग को सम्हाल न सकता। अगश्रुत को छोड़ कर अग बाह्य की ओर नजर डालें तब भी प्रश्न ही है कि पूज्य-पाद के द्वारा निर्दिष्ट दशवैकालिक, उत्तराध्यन जैसे छोटे से ग्रन्थ अचेल पक्षीय श्रुत में से लुप्त कैसे हुए? जब कि उनसे भी बडे ग्रन्थ उस पक्ष में बराबर रहे। सब बातों पर विचार करने से मैं अभी तक इसी निश्चित नतीजे पर पहुँचा हूँ कि मूल अगश्रुत का प्रवाह अनेक अवश्यम्भावी परिवर्त्तनों की चोटें सहन करता हुआ भी आज तक चला आया है जो अभी श्वेताम्बर फिरके के द्वारा सर्वथा माना जाता है और जिसे दिगम्बर फिरका बिल्कुल नहीं मानता।

---

१ अकलङ्क और विद्यानन्द आदि सिद्धसेन के ग्रन्थों से परिचित रहे। देखो राजवार्तिक ८. १. १७। श्लोकवार्तिक पृ० ३।

श्रुत के इस सिलसिले में एक प्रश्न की ओर ऐतिहासिक विद्वानो का ध्यान खींचना आवश्यक है। वह प्रश्न यह है कि पूज्यपाद तथा अकलङ्क के द्वारा दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन का निर्देश किया गया है। इतना ही नहीं वल्कि दशवैकालिक के ऊपर तो दिगम्बर पक्ष के समझे जाने वाले अपराजित आचार्य ने टीका भी रची थी[१]। जिन्होंने कि भगवती-आराधना पर भी टीका लिखी है। ऐसी दशा मे सारी दिगम्बर परम्परा में से दशवैकालिक और उत्तराध्ययन का प्रचार क्यों उठ गया? तिस पर जब हम देखते हैं कि मूलाचार, भगवती आराधना जैसे अनेक ग्रन्थ जो कि वस्त्र आदि उपधि का भी मुनि के लिए निरूपण करते हैं और जिनमें आर्यिकाओं के मार्ग का भी निरूपण है और जो दशवैकालिक तथा उत्तराध्ययन की अपेक्षा मुनि-आचार का किसी तरह उत्कट प्रतिपादन नहीं करते, वे ग्रन्थ सारी दिगम्बर परम्परा में एक से मान्य हैं और जिन पर कई प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वानों ने सस्कृत तथा भाषा में टीकाएँ भी लिखी हैं। तव वो हमारा उपर्युक्त प्रश्न और भी वलवान वन जाता है। मूलाचार तथा भगवती आराधना जैसे ग्रन्थों को श्रुत मे स्थान देने वाली दिगम्बर परम्परा दशवैकालिक और उत्तराध्ययन को क्यों नहीं मानती? अथवा यों कहिये कि दशवैकालिक आदि को छोड़ देने वाली दिगम्बरपरम्परा मूलाचार आदि को कैसे मान सकती है? इस असगति सूचक प्रश्न का जवाव सरल भी है और कठिन भी। सरल तव जव कि हम ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें। कठिन तव जव कि हम केवल पन्थ दृष्टि से सोचें।

जो इतिहास नहीं जानते वे वहुधा यही सोचते हैं कि अचेल या दिगम्बर परम्परा एक मात्र नग्नत्व को ही मुनित्व का अग मानती है या मान सकती है। नग्नत्व के अतिरिक्त थोडे भी उपकरणधारण को दिगम्बरत्व के विचार मे कोई स्थान ही नहीं। और जव से दिगम्बर परम्परा मे

१ देखो अनेकान्त वर्ष २ अंक १. पृ० ५७।

तेरापन्थ की भावना ने जोर पकड़ा और दूसरे दिगम्बरीय अवान्तर पक्ष या तो नामशेष हो गए या तेरापन्थ के प्रभाव में दब गए; तब से तो पन्थ दृष्टि वालों का उपर्युक्त विचार और भी पुष्ट हो गया कि मुनित्व का अंग तो एकमात्र नग्नत्व है थोडी भी उपधि उसका अंग हो नहीं सकती और नग्नत्व के असंभव के कारण न स्त्री ही मुनि धर्म की अधिकारिणी बन सकती है। ऐसी पन्थ दृष्टि वाले उपर्युक्त असंगति का सच्चा समाधान पा ही नहीं सकते। उनके वास्ते यही मार्ग बच जाता है कि या तो वे कह देवें कि वैसे उपधि प्रतिपादक सभी ग्रन्थ श्वेताम्बरीय है या श्वेताम्बरीय प्रभाववाले किन्हीं विद्वानों के बनाए हुए हैं या उनका तात्पर्य पूर्ण दिगम्बर मुनित्व का प्रतिपादन करना, इतना ही नहीं। ऐसा कह कर भी वे अनेक उलझनों से मुक्त तो हो ही नहीं सकते। अत एव उनके वास्ते प्रश्न का सच्चा जवाब कठिन है।

परन्तु जैन परम्परा के इतिहास की अनेक बाजुओं का अध्ययन तथा विचार करनेवाले के लिए वैसी कोई कठिनाई नहीं। जैनपरम्परा का इतिहास कहता है कि अचेल या दिगम्बर कहलाने वाले पक्ष में भी अनेक संघ या गच्छ हुए जो मुनिधर्म के अंगरूप से उपधिका आत्यन्तिक त्याग मानने न मानने के विषय में पूर्ण एकमत नहीं थे। कुछ संघ ऐसे भी थे जो नग्नत्व और पाणिपात्रत्व का पक्ष करते हुए भी व्यवहार में थोड़ी बहुत उपधिका स्वीकार अवश्य करते थे। वे एक तरह से मृदु या मध्यममार्गी अचेलदल वाले थे। कोई संघ या कुछ संघ ऐसे भी थे जो मात्र नग्नत्व का पक्ष करते थे और व्यवहार में भी उसीका अनुसरण करते थे। वे ही तीव्र या उत्कृष्ट अचेलदल वाले थे। जान पड़ता है कि संघ या दल कोई भी हो पर पाणिपात्रत्व सब का साधारण रूप था। इसी से वे सभी दिगम्बर ही समझे जाते थे। इसी मध्यम और उत्कट भावनावाले जुदे जुदे संघ या गच्छों के विद्वानों या मुनिओं के द्वारा रचे जानेवाले आचार ग्रन्थों में नग्नत्व और वस्त्र

आदि का विरोधी निरूपण आ जाय यह स्वाभाविक है। इसके सिवाय यापनीय जैसे कुछ ऐसे भी संघ हुए जो न तो बिलकुल सचेल पक्ष के समझे गए और जो न बिलकुल अचेल पक्ष मे ही स्थान पा सके। ऐसे संघ जब लुप्त हो गए तब उनके आचार्यों की कुछ कृतियाँ तो श्वेताम्बर पक्ष के द्वारा ही मुख्यतया रक्षित हुई जो उस पक्ष के विशेष अनुकूल थीं और कुछ कृतियाँ दिगम्बर पक्ष मे ही विशेषतया रह गईं और कालक्रम से दिगम्बरीय ही मानी जाने लगीं। इस तरह प्राचीन और मध्यकालीन तथा मध्यम और उत्कट भावनावाले अनेक दिगम्बरीय संघों के विद्वानों की कृतियों मे समुचितरूप से कहीं नग्नत्व का आत्यन्तिक प्रतिपादन और कहीं मर्यादित उपधिका प्रतिपादन दिखाई देवे तो यह असंगति की बात नहीं। इस समय जो दिगम्बर फिरके में नग्नत्व का आत्यन्तिक आग्रह रखने वाली तेरापन्थीय भावना प्रधानतया देखी जाती है वह पिछले २००-३०० वर्ष का परिणाम है। केवल वर्तमान इस भावना के आधार से पुराने सब दिगम्बरीय समझे जानेवाले साहित्य का खुलासा कभी संभव नहीं। दशवैकालिक आदि ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा मे इतनी अधिक प्रतिष्ठा को पाये हुए हैं कि जिनका त्याग आप ही आप दिगम्बर परम्परा मे सिद्ध हो गया। संभव है अगर मूलाचार आदि ग्रन्थों को भी श्वेताम्बर परम्परा पूरे तौर से अपनाती तो वे दिगम्बर परम्परा मे शायद ही अपना ऐसा स्थान बनाए रखते।

(घ) उमास्वाति की जाति और जन्म-स्थान

प्रशस्ति में स्पष्टरूप से जातिविषयक कोई कथन नहीं, तो भी माता का गोत्रसूचक 'वात्सी' नाम इसमें मौजूद है और 'कौभीषणि' यह भी गोत्रसूचक विशेषण है। गोत्र का यह निर्देश उमास्वाति के ब्राह्मण जाति के होने की सूचना करता है, ऐसा कहना गोत्र परम्परा को ठेठ से पकड रखनेवाली ब्राह्मण जाति के वंशानुक्रम के अभ्यासी को शायद

ही सदोष मालूम पडे। वाचक उमास्वाति के जन्म-स्थान रूप से प्रशस्ति 'न्यग्रोधिका' ग्राम का निर्देश करती है, यह न्यग्रोधिका स्थान कहाँ है, इसका इतिहास क्या है और इस समय उसकी क्या स्थिति है? यह सब अंधकार में है। इसकी शोध करना यह एक रस का विषय है। तत्त्वार्थ सूत्र के रचना-स्थान रूप से प्रशस्ति मे 'कुसुमपुर' का निर्देश है। यही कुसुमपुर इस समय विहार का पटना है। प्रशस्ति मे कहा गया है कि विहार करते-करते पटने मे तत्त्वार्थ रचा। इस पर से नीचे की कल्पनाएँ स्फुरित होती हैं।

१—उमास्वाति के समय मे और उसके कुछ आगे पीछे मगध में जैन भिक्षुओं का खूब विहार होना चाहिए और उस तरफ जैन संघ का बल तथा आकर्षण भी होना चाहिए।

२—विशिष्ट शास्त्र के लेखक भी जैन भिक्षुक अपनी अनियत स्थान-वास की परम्परा को बराबर कायम रख रहे थे और ऐसा करके उन्होंने अपने कुल को 'जंगम विद्यालय' बना लिया था।

३—विहार-स्थान पाटलीपुत्र (पटना) और मगधदेश से जन्म-स्थान न्यग्रोधिका सामान्य तौर पर बहुत दूर तो नहीं होगा।

२. तत्त्वार्थसूत्र के व्याख्याकार

तत्त्वार्थ के व्याख्याकार श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में हुए हैं, परन्तु इसमें भेद यह है कि मूल सूत्र पर सीधी व्याख्या [illegible] उमास्वाति के सिवाय दूसरे किसी भी श्वेताम्बर विद्वान् ने लिखी हो ऐसा मालूम नहीं होता, जब कि दिगम्बरीय सभी लेखकों ने सूत्रों के ऊपर ही अपनी अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं। श्वेताम्बरीय अनेक विद्वानों ने सूत्रों पर के भाष्य की व्याख्याएँ की हैं, जब कि दिगम्बरीय किसी भी प्रसिद्ध विद्वान् ने सूत्रों के [illegible] भाष्य की व्याख्या [illegible] मालूम नहीं होता। दोनों सम्प्रदायों के इन व्याख्याकारों में [illegible] ऐसे विशिष्ट विद्वान् हैं [illegible] स्थान भारतीय दार्शनिकों में [illegible]

सकता है, इसमें ऐसे कुछ विशिष्ट व्याख्याकारों का ही यहाँ संक्षेप में परिचय दिया जाता है।

(क) उमास्वाति

तत्त्वार्थ सूत्र पर भाष्य रूप से व्याख्या लिखने वाले खुद सूत्रकार उमास्वाति ही हैं, इससे इनके विषय में यहाँ जुदा लिखने की जरूरत नहीं है क्योंकि इनके विषय में प्रथम लिखा जा चुका है। सिद्धसेनगणि[१] तथा आचार्य हरिभद्र[२] भी भाष्यकार और सूत्रकार को एक ही समझते हैं ऐसा उनकी भाष्य टीका का अवलोकन करने से स्पष्ट जान पड़ता है। हरिभद्र प्रशमरति[३] को भाष्यकार की ही रचना समझते हैं। ऐसी दशा में भाष्य को स्वोपज्ञ न मानने की आधुनिक कल्पनाएँ भ्रान्त हैं। पूज्यपाद, अकलङ्क आदि किसी प्राचीन दिगम्बरीय टीकाकार ने ऐसी बात नहीं चर्ची है जो भाष्य की स्वोपज्ञता के विरुद्ध हो।

(ख) गन्धहस्ती[४]

वाचक उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र पर व्याख्या या भाष्य के रचयिता के रूप से दो गंधहस्ती जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं। उनमें एक दिगम्बराचार्य और दूसरे श्वेताम्बराचार्य माने जाते हैं।

---

१ देखो प्रस्तुत **परिचय** पृ० १७ टि० १।

२ "एतन्निबन्धनत्वात् संसारस्येति **स्वाभिप्राय**मभिधाय मतान्तरमुपन्यस्यन्नाह —एके त्वित्यादिना"—पृ० १४१।

३ "**यथोक्तमनेनैव सूरिणा प्रकरणान्तरे**" ऐसा कहकर हरिभद्र भाष्य-टीका में प्रशमरति की २१० वीं और २११ वीं कारिका उद्धृत करते हैं।

४ "शक्रस्तव" नाम से प्रसिद्ध "नमोत्थुणं" के प्राचीन स्तोत्र में "पुरिसवरगन्धहत्थीणं" कह कर श्रीतीर्थंकरको गंधहस्ती विशेषण दिया हुआ है। तथा, दसवीं और ग्यारहवीं शक-शताब्दी के दिगम्बरीय शिला लेखों में एक वीर सैनिक

गधहस्ती यह विशेषण है। दिगम्बर परम्परा में हुए प्रसिद्ध विद्वान् समन्तभद्र का यह विशेषण समझा जाता है और इससे ऐसा फलित होता है कि आप्तमीमांसा के रचयिता गधहस्तिपदधारी स्वामी समन्तभद्र ने वा० उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर व्याख्या लिखी थी। श्वेताम्बर परम्परा में गधहस्ती विशेषण वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर का होने की मान्यता इस समय प्रचलित है। इस मान्यता के अनुसार यह फलित होता है कि सन्मति के रचयिता और वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर ने वा० उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र पर व्याख्या रची थी। ये दोनों मान्यताएँ और उन पर से फलित उक्त मन्तव्य अप्रामाणिक होने से ग्राह्य नहीं हैं। दिगम्बराचार्य समन्तभद्र की कृति के लिए गधहस्ती विशेषण व्यवहृत मिलता है। जो लघुसमन्तभद्र कृत अष्टसहस्री के टिप्पण में स्पष्टतया देखा जाता है। लघुसमन्तभद्र[१] १४वीं, १५वीं शताब्दी के आसपास कभी हुए समझे जाते हैं। उनके प्रस्तुत उल्लेख का समर्थन करने वाला एक भी सुनिश्चित प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं है। अभी तक के वाचन-चिन्तन से मैं केवल इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कहीं भाष्य, कहीं महाभाष्य, कहीं तत्त्वार्थभाष्य कहीं गन्धहस्तिभाष्य जैसे अलग अलग बिखरे हुए अनेक उल्लेख दिगम्बरीय साहित्य में देखे जाते हैं और कहीं स्वामी समन्तभद्र के नाम का तत्त्वार्थ-महाभाष्य के साथ निर्देश भी है। यह सब देख कर पिछले अर्वाचीन लेखकों को यह भ्रान्ति-मूलक विश्वास हुआ कि स्वामी समन्तभद्र ने उमास्वाति के तत्त्वार्थ पर गन्ध-

---

को भी गन्धहस्ती का उपनाम दिया हुआ उपलब्ध होता है। और एक जैन मन्दिर का नाम भी 'सवति गधवारण जिनालय' है। देखो प्रो० हीरालाल सम्पादित जैन शिला लेख संग्रह पृ० १२३ तथा १२६. चन्द्रगिरि पर्वत पर के शिलालेख।

१ देखो प० जुगलकिशोर जी लिखित **स्वामी समन्तभद्र**—पृ० २१४-२२०।

हस्ती नाम का महाभाष्य रचा था। इसी विश्वास ने उन्हें ऐसा लिखने को प्रेरित किया। वस्तुत. उनके सामने न तो कोई प्राचीन ऐसा आधार था और न कोई ऐसी कृति थी जो तत्त्वार्थ सूत्र के ऊपर गन्धहस्ती-भाष्य नामक व्याख्या को समन्तभद्र-कर्तृक सिद्ध करते। भाष्य, महाभाष्य, गन्धहस्ती आदि जैसे बडे बडे शब्द तो थे ही, अतएव यह विचार आना स्वाभाविक है कि समन्तभद्र जैसे महान् आचार्य के सिवाय ऐसी कृति कौन रचते?, विशेषतया इस हालत में कि जब अकलङ्क आदि पिछले आचार्यों के द्वारा रची गई कोई कृति गन्धहस्ति-भाष्य नाम से निश्चित की न जा सकती हो। उमास्वाति के अतिप्रचलित तत्त्वार्थ पर स्वामी समन्तभद्र जैसे की छोटी-बडी कोई कृति हो तो उसके उल्लेख या किसी अवतरण का सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि जैसी अति-शास्त्रीय टीकाओं में सर्वथा न पाया जाना कभी संभव नहीं। यह भी सभव नहीं है कि वैसी कोई कृति सर्वार्थसिद्धि आदि के समय तक लुप्त ही हो गई हो जब कि समन्तभद्र के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मौजूद हैं। जो कुछ हो, पर इस बारे में मुझे तो अब कोई सन्देह ही नहीं है कि तत्त्वार्थ के ऊपर समन्तभद्र कृत गन्धहस्ती नामक कोई भाष्य ही न था।

श्रीयुत प० जुगलकिशोरजी ने अनेकान्त (वर्ष १ पृ० २१६) में लिखा है कि 'धवला' में गन्धहस्ती भाष्य का उल्लेख आता है, पर हमें धवला की असल नकल की जाँच करने वाले प० हीरालालजी न्यायतीर्थ के द्वारा विश्वस्त रूप से मालूम हुआ है कि धवला में गन्धहस्ती भाष्य शब्द का कोई उल्लेख नहीं है।

वृद्धवादी के शिष्य सिद्धसेन दिवाकर गन्धहस्ती हैं ऐसी श्वेताम्बरीय मान्यता सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशोविजय जी के एक उल्लेख[1] पर से प्रचलित हुई है। उपाध्याय यशो-

---

१ "अनेनैवाऽभिप्रायेणाह गन्धहस्ती सम्मतौ—" न्यायखण्डखाद्य श्लोक० १६ पृ० १६ द्वि०।

विजय जी ने अपने 'महावीरस्तव' में गन्धहस्ती के कथन रूप से सिद्ध-सेन दिवाकर के 'सन्मति' की एक गाथा उद्धृत की है। उस पर से आज कल ऐसा माना जाता है कि सिद्धसेन दिवाकर ही गधहस्ती हैं। परन्तु, उ० यशोविजयजी का यह उल्लेख भ्रान्ति जन्य है। इसे सिद्ध करने वाले दो प्रमाण इस समय स्पष्ट हैं। एक तो यह कि उ० यशोविजय जी से पूर्व के किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थकार ने सिद्धसेन दिवाकर के साथ या उनकी निश्चित मानी जाने वाली कृतियों के साथ, या उन कृतियों मे से उद्धृत अवतरणों के साथ एक भी स्थल पर गधहस्ती विशेषण का प्रयोग नहीं किया है। सिद्धसेन दिवाकर की कृति के अवतरण के साथ गधहस्ती विशेषण का व्यवहार करनेंवाले मात्र उक्त यशोविजयजी ही हैं। अत. उनका यह कथन किसी भी प्राचीन आधार से रहित है। इसके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकर के जीवन वृत्तान्तवाले जितने [1]प्राचीन या अर्वाचीन प्रबन्ध मिलते हैं उनमें कहीं भी गन्धहस्ती पद व्यवहृत दृष्टिगोचर नहीं होता, जब कि दिवाकर पद प्राचीन प्रबन्धों तक में और दूसरे आचार्यों के ग्रन्थों [2] में भी प्रयुक्त मिलता है। दूसरा प्रबल और अकाट्य प्रमाण है

---

१ भद्रेश्वरकृत कथावलीगत सिद्धसेन प्रबन्ध, अन्य लिखित सिद्धसेनप्रबन्ध, प्रभावकचरित्रगत वृद्धवादिप्रबन्धांतर्गत सिद्धसेन प्रबन्ध, प्रबन्धचिंतामणिगत विक्रम प्रबन्ध और चतुर्विंशतिप्रबन्ध।

सिद्धसेन के जीवन प्रबन्धों में जैसे दिवाकर उपनाम आता है और उसका समर्थन मिलता है वैसे गन्धहस्ती के विषय में कुछ भी नहीं है। यदि गन्धहस्ती पद का इतना प्राचीन प्रयोग मिलता है तो यह प्रश्न होता ही है कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने दिवाकर पद की तरह गन्धहस्तीपद सिद्धसेन के नाम के साथ या उनकी किसी निश्चित कृति के साथ प्रयुक्त क्यों नहीं किया?

२ देखो हरिभद्रकृत पंचवस्तु गाथा १०४८, पृ० १५६।

कि उ० यशोविजयजी से पहले के [1]अनेक ग्रन्थों मे जो गन्धहस्ती के अवतरण मिलते हैं वे सभी अवतरण कहीं तो जरा भी परिवर्तन बिना

---

१ तुलना के लिए देखो—

"निद्रादयो यत्र समधिगताया एव दर्शनलब्धे उपयोगघाते प्रवर्त्तन्ते चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्टय तूद्गमोच्छेदित्वात् मूलघातं निहन्ति दर्शनलब्धिम् इति।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० १३५, प० ४।

"आह च गन्धहस्ती—निद्रादय समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते दर्शनावरणचतुष्टयन्तूद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति" प्रवचनसारोद्धार की सिद्धसेनीय वृत्ति-पृ० ३५८, प्र० प० ५। सित्तरीटीका मलयगिरि कृत गाथा ५। देवेन्द्रकृत प्रथम कर्मग्रन्थ टीका गाथा १२।

"या तु भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगाऽयोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीयसप्तकक्षयादपायसद्द्रव्यक्षयाच्चोदपादि सा सादिरपर्यवसाना इति।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ५९, प० २७।

"यदाह गन्धहस्ती—भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगायोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीसप्तकक्षयाविर्भूता सम्यग्दृष्टि सादिरपर्यवसाना इति।" नवपदवृत्ति पृ० ८८ द्वि०

"तत्र याऽपायसद्द्रव्यवर्तिनी श्रेणिकादीना सद्द्रव्यापगमे च भवति अपायसहचारिणी सा सादिसपर्यवसाना"— तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ५९ प० २७

"यदुक्त गन्धहस्तिना—तत्र याऽपायसद्द्रव्यवर्तिनी, अपायो—मतिज्ञानाशः, सद्द्रव्याणि—शुद्धसम्यक्त्वदलिकानि तद्वर्तिनी श्रेणिकादीना च सद्द्रव्यापगमे भवत्यपायसहचारिणी सा सादिसपर्यवसाना इति।" नवपदवृत्ति पृ० ८८ द्वि०

"प्राणापानावुच्छ्वासनि श्वासक्रियालक्षणौ।" तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० १६१ प० १३।

"यदाह गन्धहस्ती—प्राणापानौ उच्छ्वासनि श्वासौ इति" धर्मसंग्रहणीवृत्ति (मलयगिरि) पृ० ४२, प्र० प० २।

ही और कहीं तो वहुत ही थोड़े परिवर्तन के साथ और कहीं तो भावसाम्य के साथ सिंहसूर के प्रशिष्य और भास्वामी के शिष्य सिद्धसेन की तत्त्वार्थ-भाष्य पर की वृत्ति में मिलते हैं। इस पर से इतना तो निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि गन्धहस्ती प्रचलित परम्परा के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर नहीं, किन्तु उपलब्ध तत्त्वार्थभाष्य के रचयिता भास्वामी के शिष्य सिद्धसेन ही हैं। नाम के सादृश्य से और प्रकाण्डवादी तथा कुशल ग्रन्थकार के रूप से प्रसिद्धि प्राप्त सिद्धसेन दिवाकर ही गन्धहस्ती हो सकते हैं ऐसी मान्यता में से उ० यशोविजयजी को दिवाकर के लिये गन्धहस्ती विशेषण के प्रयोग करने की भ्रान्ति उत्पन्न हुई हो—ऐसा सम्भव है।

ऊपर की दलीलों पर से हम स्पष्ट देख सकते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में प्रसिद्ध गंधहस्ती तत्त्वार्थ सूत्र के भाष्य की उपलब्ध विस्तीर्ण वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन ही हैं। इस पर से हमें निश्चित रूप से ऐसा मानने के कारण मिलते हैं कि सन्मति के टीकाकार दसवीं शताब्दी के अभयदेव ने अपनी टीका[1] में दो स्थानोंपर गंधहस्ति पद का प्रयोग

"अतएव च भेद प्रदेशानामवयवानां च, ये न जातुचिद् वस्तुव्यतिरेकेणोपलभ्यन्ते ते प्रदेशा, ये तु विशकलिता परिकलितमूर्तय प्रज्ञापथमवतरन्ति तेऽवयवा।' तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ३२= पं० २१।

"यद्यप्यवयवप्रदेशयोर्गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति"—स्याद्वादमंजरी पृ० ६३, श्लो० ६।

१ सन्मति के दूसरे काण्ड की प्रथम गाथा की व्याख्या की नन्दि मे टीकाकार अभयदेव ने तत्त्वार्थ के प्रथम अध्याय के ६ से १२ सूत्र उद्धृत किये हैं और वहाँ उन सूत्रों की व्याख्या के विषय में गन्धहस्ती की सिफारिश करते हुए ये कहते हैं कि—'अस्य च सूत्रसमूहस्य व्याख्या गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विहितेति न

कर उनकी रचित तत्त्वार्थ व्याख्या देख लेने की जो सूचना की है वह इतर कोई नहीं, प्रत्युत उपलब्ध भाष्यवृत्ति के रचयिता सिद्धसेन ही हैं। इसलिए सन्मति टीका में अभयदेव ने तत्त्वार्थ पर की जिस गधहस्ती कृत व्याख्या देख लेने की सूचना की है उस व्याख्या के लिए अब नष्ट या अनुपलब्ध साहित्य की ओर दृष्टिपात करने की आवश्यकता नहीं है। इसी अनुसधान में यह भी मानना आवश्यक प्रतीत होता है कि नवमी-दसवीं शताब्दी के ग्रन्थकार शीलाङ्क[1] ने अपनी आचाराग सूत्र की टीका मे जिस गन्धहस्ति कृत[2] विवरण का उल्लेख किया है वह विवरण भी तत्त्वार्थ भाष्य की वृत्ति के रचयिता सिद्धसेन का ही होना चाहिए, क्योंकि, बहुत ही नजदीक के अन्तर में हुए शीलाङ्क और अभयदेव, दोनों भिन्न-भिन्न आचार्यों के लिए गन्धहस्ती पद का प्रयोग करें यह असम्भव है। और, अभयदेव जैसे बहुश्रुत विद्वान् ने, जैन आगमों में प्रथम स्थान धारण करने वाले आचाराङ्ग सूत्र की थोडे ही समय पूर्व हुए शीलाङ्क सूरि रचित वृत्ति न देखी हो ऐसी कल्पना करना ही कठिन है। और फिर, शीलाङ्क ने स्वय ही अपनी टीकाओं में जहाँ जहाँ

प्रदर्श्यते"—पृ० ५९५ प० २४। इसी प्रकार तृतीय काण्ड की ४४वीं गाथा में आए हुए 'हेतुवाद' पद को व्याख्या करते हुए उन्होंने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' रख कर इसके लिए भी लिखा है "तथा गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विक्रान्तमिति नेह प्रदर्श्यते"—पृ० ६५१ प० २०।

१ देखो आचार्य जिनविजयजी द्वारा सम्पादित 'जीतकल्प' की प्रस्तावना पृ० १६। परिशिष्ट, शीलाङ्काचार्य के विषय में अधिक ब्योरा।

२ "शस्त्रपरिज्ञा विवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम्"। तथा—

"शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनमितीव किल वृतं पूज्यै।
श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम्॥"

आचारांगटीका पृ० १ तथा ८२ का प्रारंभ।

सिद्धसेन दिवाकर कृत सन्मति की गाथाएँ उद्धृत की हैं वहाँ किसी भी स्थल पर गन्धहस्ति-पद का प्रयोग नहीं किया, अत एव शीलाङ्क के अभिमत गन्धहस्ती दिवाकर नहीं है यह स्पष्ट है।

ऊपर की विचारसरणी के बल पर हमने दस वर्ष के पहिले जो निश्चित किया था[1] उसका सपूर्णतया समर्थक उल्लिखित प्राचीन प्रमाण भी अभी मिल गया है जो हरिभद्रीय अधूरी वृत्ति के पूरक यशोभद्र सूरि के शिष्य ने लिखा है। सो इस प्रकार है—

"सूरियशोभद्रस्य (हि) शिष्येण समुद्धृता स्वबोधार्थम्।
तत्त्वार्थस्य हि टीका जडकायार्जना धृता यात्यां नृद्धृता ॥
(० यर्जुनोद्धृतान्त्यार्धा) ॥ १ ॥
हरिभद्राचार्येणारब्धा विवृतार्धषडध्यायाश्च ।
पूज्यैः पुनरुद्धृतेय तत्त्वार्थार्द्धस्य टीकान्त्या ॥ २ ॥ इति ॥

एतदुक्त भवति–हरिभद्राचार्येणार्धषण्णामध्यायानामाद्यानां टीका कृता, भगवता तु गन्धहस्तिना सिद्धसेनेन नव्या कृता तत्त्वार्थटीका नव्यैर्वाद-स्थानैर्व्याकुला, तस्या एव शेष उद्धृतश्चाचार्येण (शेष मया) स्वबो-धार्थम्। साऽत्यन्तगुर्वी च डुपडुपिका निष्पन्नेत्यलम्।"—पृ० ५२१

(ग) सिद्धसेन

तत्त्वार्थभाष्यके ऊपर श्वेताम्बराचार्यों की रची हुई दो पूर्ण वृत्तियाँ इस समय मिलती हैं। इनमें एक बडी और दूसरी उससे छोटी है। बडी वृत्ति के रचने वाले सिद्धसेन ही यहाँ पर प्रस्तुत हैं। ये सिद्धसेन दिन्नगणि के शिष्य सिंहसूर के शिष्य भास्वामी के शिष्य थे, यह बात इनकी भाष्यवृत्ति के अन्त में दी हुई प्रशस्ति पर से सिद्ध है। गन्धहस्ती के विचार प्रसंग में दी हुई युक्तियों से यह भी जाना जाता है कि

---

१ देखो गुजराती तत्त्वार्थविवेचन परिचय पृ० ३६।

गधहस्ती प्रस्तुत सिद्धसेन ही हैं। जब तक दूसरा कोई खास प्रमाण न मिले तब तक उनकी दो कृतियाँ मानने में शङ्का नहीं रहती— एक तो आचारांग विवरण जो अनुपलब्ध है और दूसरी तत्त्वार्थभाष्य की उपलब्ध बड़ी वृत्ति। इनका 'गंधहस्ती' नाम किसने और क्यों रक्खा, इस विषय में सिर्फ कल्पना ही कर सकते हैं। इन्होंने स्वयं तो अपनी प्रशस्ति में गंधहस्तिपद जोड़ा नहीं, जिससे यह मालूम होता है कि जैसा सामान्य तौर पर बहुतों के लिये घटित होता है वैसा इनके लिये भी घटित हुआ है—अर्थात् इनके किसी शिष्य या भक्त अनुगामी ने इनको गंधहस्ती के तौर पर प्रसिद्ध किया है। यह बात यशोभद्रसूरि के शिष्य के उपर्युक्त उल्लेख से और भी स्पष्ट हो जाती है। ऐसा करने का कारण यह जान पड़ता है कि प्रस्तुत सिद्धसेन सैद्धान्तिक थे और आगमशास्त्रों का विशाल ज्ञान धारण करने के अतिरिक्त वे आगमविरुद्ध मालूम पडने वाली चाहे जैसी तर्कसिद्ध बातों का भी बहुत ही आवेशपूर्वक खंडन करते थे और सिद्धान्तपक्ष का स्थापन करते थे। यह बात उनकी तार्किकों के विरुद्ध की गई कटुक चर्चा देखने से अधिक संभवित जान पड़ती है। इसके सिवाय उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य पर जो वृत्ति लिखी है वह अठारह हजार श्लोक प्रमाण होकर उस वक्त तक की रची हुई तत्त्वार्थभाष्य परकी सभी व्याख्याओं में कदाचित् बड़ी होगी, और यदि राजवार्तिक के पहले ही इनकी वृत्ति रची हुई होगी तो ऐसा भी कहना उचित होगा कि तत्त्वार्थ-सूत्र पर उस वक्त तक अस्तित्व रखनेवाली सभी श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय व्याख्याओं में यह सिद्धसेन की ही वृत्ति बड़ी होगी। इस बड़ी वृत्ति और उसमें किये गये आगम के समर्थन को देख कर उनके किसी शिष्य या भक्त अनुगामी ने उनके जीवन में अथवा उनके पीछे उनके लिये 'गंधहस्ती' विशेषण प्रयुक्त किया हो, ऐसा जान पड़ता है। उनके समय के सम्बन्ध में निश्चयरूप से कहना अभी शक्य नहीं, तो भी वे विक्रमीय सातवीं और नववीं शताब्दी के मध्य में होने चाहिएँ, यह

निःसन्देह है। क्योंकि उन्होंने अपनी भाष्यवृत्ति में वसुबधु[1] आदि अनेक बौद्ध विद्वानों का उल्लेख किया है। उसमें एक सातवीं शताब्दी के धर्मकीर्ति[2] भी हैं अर्थात् सातवीं शताब्दी के पहिले वे नहीं हुए, इतना तो निश्चित होता है। दूसरी तरफ नववीं शताब्दी के विद्वान् शीलाङ्क ने गंधहस्ती नाम से उनका उल्लेख[3] किया है, इससे वे नवमी शताब्दी के पहले किसी समय होने चाहिएँ। आठवीं-नववीं शताब्दी के विद्वान् याकिनीसूनु हरिभद्र के ग्रन्थों में प्रस्तुत सिद्धसेन के सम्बन्ध में कोई उल्लेख देखने में नहीं आया। प्रस्तुत सिद्धसेन की भाष्यवृत्ति मे इन हरिभद्र का अथवा उनकी कृतियों का उल्लेख भी अभी तक देखने में नहीं आया। इससे अधिक सम्भावना ऐसी जान पडती है कि याकिनीसूनु 'हरिभद्र' और प्रस्तुत 'सिद्धसेन' ये दोनों या तो समकालीन हों और या इनके बीच में बहुत ही थोड़ा अन्तर होना चाहिए। प्रशस्ति में लिखे मुताबिक प्रस्तुत सिद्धसेन के प्रगुरु सिंहसूर यदि मल्लवादि-कृत 'नयचक्र' के टीकाकार 'सिंहसूरि' ही हों तो ऐसा कह सकते हैं कि नयचक्र की उपलब्ध सिंहसूरि-कृत टीका सातवीं शताब्दी के लगभग की कृति होनी चाहिए।

---

१ प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् 'वसुवधु' का वे 'आमिषगृद्ध' कह कर निर्देश करते हैं—"**तस्मादेनःपदमेतत् वसुबन्धोरामिषगृद्धस्य गृध्रस्येवाऽप्रेक्ष्यकारिण**"। "**जातिरुपन्यस्ता वसुबन्धुवैधेयेन।**" —तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ६८, प० १ तथा २६। नागार्जुन-रचित **धर्मसंग्रह** पृ० १३ पर जो आनन्तर्य पाँच पाप आते हैं और जिनका वर्णन शीलांक ने **सूत्रकृतांग** की (पृ० २१५) टीका में भी दिया है, उनका उल्लेख भी सिद्धसेन करते हैं—**भाष्यवृत्ति** पृ० ६७।

२ "**भिक्षुवरधर्मकीर्त्तिनाऽपि विरोध उक्तः प्रमाणविनिश्चयादौ।**"
—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ० ३९७ प० ४।

३ देखो प्रस्तुत **परिचय** पृ० ४३. टि० २

(घ) हरिभद्र

ऊपर सूचित की हुई तत्त्वार्थभाष्य की छोटी वृत्ति के प्रणेता हरिभद्र ही यहाँ प्रस्तुत है। यह छोटी वृत्ति रतलामस्थ श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी नामक संस्था की ओर से प्रकाशित हुई है। यह वृत्ति केवल हरिभद्राचार्य की कृति नहीं है, किन्तु इसकी रचना में कम से कम[1] तीन आचार्यों का हाथ है। उनमें से एक हरिभद्र भी हैं। इन्हीं हरिभद्र का विचार यहाँ प्रस्तुत है। श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र नाम के कई आचार्य हो गए हैं[2] जिनमें से याकिनीसूनु रूप से प्रसिद्ध सेकड़ों ग्रन्थों के रचयिता आ० हरिभद्र ही इस छोटी वृत्ति के रचयिता माने जाते हैं।

उपलब्ध नये साधन के आधार पर इस समय मेरा मत भी उस परम्परागत मान्यता की ओर ही झुकता है। और प्रथम का मेरा सन्देह[3] अब नहीं रहता। यद्यपि श्रीमान् सागरानन्दजी ने उपर्युक्त संस्था से प्रकाशित उस लघुवृत्ति की प्रस्तावना में आचार्य हरिभद्र को ही लघुवृत्ति के प्रणेता रूप से सिद्ध किया है, फिर भी उनकी सब दलीलें समान रूप से साधक नहीं हैं। अलबत्ता, उनकी कुछ दलीलें[4] हरिभद्र के लघुवृत्तिकर्तृत्व की ओर बलवान् संकेत अवश्य करती है। उस लघुवृत्ति के याकिनीसूनु हरिभद्र की कृति होने न होने का मेरा प्रथम का सन्देह

---

१ तीन से ज्यादा भी इस वृत्ति के रचयिता हो सकते हैं क्योंकि हरिभद्र यशोभद्र और यशोभद्र के शिष्य ये तीन तो निश्चित ही हैं किन्तु नवम अध्याय के अन्त की पुष्पिका के आधार पर अन्य की भी कल्पना हो सकती है—"**इति श्री तत्त्वार्थटीकायां हरिभद्राचार्यप्रारब्धायां डुपडुपिकाभिधानायां तस्यामेवान्यकर्तृकायां नवमोऽध्यायः समाप्त**"।

२ देखो मुनि कल्याणविजयजी लिखित **धर्मसंग्रहणी** की प्रस्तावना पृ० २ से।

३ गुजराती **तत्त्वार्थ विवेचन** का परिचय पृ० ४५।

४ **हरिभद्रवृत्ति**की प्रस्तावनागत १,३,७ और ९ नंबर की दलीलें।

मुख्यतया उक्त वृत्ति की अन्तिम समाप्ति करने वाले यशोभद्रसूरि के शिष्य के निम्नलिखित वाक्यों से ही दूर हुआ है। वे लिखते हैं कि[1]—"आचार्य हरिभद्र ने शुरू के साढे पाँच अध्यायों की टीका बनाई, भगवान् गन्धहस्ती सिद्धसेन ने तो नवीनवादों से युक्त नवीन ही टीका रची। बाकी का भाग उसी से आचार्य ने और मैंने उद्धृत किया।" इन वाक्यों के लेखक यशोभद्र के शिष्य अगर अभ्रान्त हैं, जैसा कि बहुत सम्भव है, तो उन वाक्यों से तीन बातें स्पष्ट जान पडती हैं—(१) शुरू के साढ़े पाँच अध्यायों की वृत्ति के रचयिता उस समय हरिभद्राचार्य ही समझे जाते थे जिन्होंने गन्धहस्ती की बडी वृत्ति के पहले ही अपनी वृत्ति लिखी थी जो किसी कारण से पूरी न हो सकी। (२) उस अधूरी वृत्ति को पूर्ण न करके ही गन्धहस्ती ने बिल्कुल नई वृत्ति पूर्ण रूप से लिखी और जिसमें उन्हें दार्शनिक वादों को अधिक स्थान दिया जैसा कि हरिभद्रीय लघुवृत्ति में नहीं था। (३) हरिभद्र की अधूरी टीका का बाकी का भाग गुरु यशोभद्र और शिष्य ने सिद्धसेनीय वृत्ति से ही उद्धृत करके पूर्ण किया।

ऊपर सूचित शब्दों पर से फलित यह होता है कि यशोभद्र और उनके शिष्य दोनों गन्धहस्ती सिद्धसेन के समकालीन होंगे या उत्तरकालीन; पर उनके सामने गन्धहस्ती की बड़ी वृत्ति विद्यमान अवश्य थी और वे यह भी समझते थे कि हरिभद्र की वृत्ति अधूरी होने पर भी गन्धहस्ती ने उसे पूर्ण न करके नवीन ही वृत्ति रची। यशोभद्र के शिष्य की कथन शैली से इतना तो स्पष्ट सूचित होता है कि उस अधूरी वृत्ति के रचयिता आ० हरिभद्र या तो गन्धहस्ती के पूर्वकालीन होने चाहिएँ या समकालीन; क्योंकि वह साफ लिखता है कि हरिभद्रीय-वृत्ति पहले से थी और वह अपूर्ण भी थी, फिर भी गन्धहस्ती ने तो उसे पूर्ण नहीं किया और नई तथा नवीन-वाद संकुल ही वृत्ति लिखी।

उस अधूरी वृत्ति के रचयिता हरिभद्र को सिद्धसेन से पूर्वकालीन

---

१ संस्कृतपाठ के लिये देखो प्रस्तुत परिचय पृ० ४४।

मानकर या समकालीन मानकर विचार करें, तब भी नतीजा एक ही निकलता है और वह यह कि वे हरिभद्र याकिनीसूनु ही हो सकते हैं, दूसरे नहीं, क्योंकि विक्रमीय ६वीं शताब्दी गन्धहस्ती का समय ठहरता है। उस समय या कुछ उसके पूर्व याकिनीसूनु हरिभद्र के सिवाय दूसरे किसी हरिभद्र का पता इतिहास से नहीं चलता। अलवत्ता, गन्धहस्ती के समकालीन या पूर्वकालीन, ऐसे याकिनीसूनुभिन्न हरिभद्र का पता जबतक न चले तबतक उस अधूरी वृत्ति के रचयिता याकिनीसूनु हरिभद्र ही माने जा सकते हैं। इस विचारसरणि से मैं भी श्रीमान् सागरानन्द सूरिजी के निकाले हुए नतीजे पर ही पहुँचा हूँ। पर, उन्होंने गन्धहस्ती सिद्धसेन से हरिभद्र की पूर्ववर्त्तिता साधक जो युक्तियाँ दी हैं वे आभास मात्र हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने अपनी प्रस्तावना में लिखा है कि ज्ञानावरणीय की सम्यक्त्वावारकता के मन्तव्य को हरिभद्र ने खण्डित किया है (पृ० ४२) जब कि सिद्धसेन ने उस मन्तव्य को माना है (पृ० ५७) अतएव हरिभद्र सिद्धसेन से पूर्ववर्त्ती हैं। श्रीमान् सागरानन्दजी का यह कथन हरिभद्र को सिद्धसेन से पूर्ववर्त्ती कैसे साबित कर सकता है? उससे तो इतना ही सिद्ध हो सकता है कि ज्ञानावरणीय की सम्यक्त्वावारकता का हरिभद्र ने निरास किया है जब कि सिद्धसेन ने उसका समर्थन किया है अगर इस मुद्दे पर से सागरजी हरिभद्रको पूर्ववर्त्ती बतलाना चाहते हों तो उन्हे प्रथम यह बतलाना चाहिए था कि वह सम्यक्त्वावारकता वाला मत सिद्धसेनोपज्ञ नहीं है पर हरिभद्र के पूर्ववर्त्ती या समकालीन और किसी का है। इसी तरह श्रीमान् सागरानन्दजी की कुणिमादि आहार के सग्रह (६. १६) वाली दलील भी प्रस्तुत पौर्वापर्य में साधक नहीं है। समुदायार्थ-अवयवार्थ शब्दरहित (अध्याय ६ सू० १६ से २२ की) भाष्य व्याख्या को हरिभद्रकृत मान भी लिया जाय तथापि सिद्धसेन ने जो कुणिमादि आहार के सग्रह का निरास किया है वह हरिभद्रकृत सग्रह का नहीं है। क्योंकि मैं आगे जाकर बतलाऊगा कि हरिभद्रकृत-वृत्ति को सिद्धसेन ने देखा हो यह सभव

नहीं। ऐसी दशा में सागरजी की उक्त सग्रहनिरास वाली दलील भी हरिभद्र के पूर्ववर्त्तित्व को साबित कर नहीं सकती। ऐसी उलझन में प्रश्न कर्ता मुझसे भी तो पूछ सकता है कि तब तुम्हीं हरिभद्र और सिद्धसेन के पौर्वापर्य विषयक अपना विचार बताओ ? अलबत्ता मेरे पास भी उस पौर्वापर्य के अन्तिम निर्णय को कराने वाला कोई साधन नहीं है। फिर भी उस सम्बन्ध में मैं अभी तक का अपना विचार तो प्रगट कर देना उचित ही समझता हूँ।

हरिभद्र का समय विक्रम की ८ वीं और ९ वीं शताब्दी सुनिश्चित है जैसा कि श्रीमान् जिनविजयजी ने अकाट्य युक्तियों से सिद्ध किया है[1]। नहीं कि श्रीमान् सागरानन्दजी के कथनानुसार विक्रम की ५-६ ठी शताब्दी। जो हरिभद्र सुनिश्चित रूप से विक्रम की ७ वीं ८ वीं शताब्दी के अनेक ग्रन्थकारों का निर्देश करें उन्हें केवल पारम्परिक मान्यता के आधार पर ५वीं शताब्दी का कह देना परम्परा की ऐकान्तिक श्रद्धा मात्र है। इसी तरह गन्धहस्ती सिद्धसेन भी विक्रमीय ८-९ वीं शताब्दी के विद्वान् अकलङ्क के सिद्धिविनिश्चय का उल्लेख करने के कारण तथा ९-१० वीं शताब्दी के विद्वान् शीलाङ्क के द्वारा निर्दिष्ट[2] किये जाने से उनसे कुछ-न-कुछ पूर्ववर्ती या वयो-दीक्षा वृद्ध होने के कारण विक्रमीय ८-९ वीं शताब्दी में ही वर्तमान सिद्ध होते हैं।

हरिभद्र ने कहीं गन्धहस्ती सिद्धसेन का या गन्धहस्ती ने हरिभद्र का कहीं उल्लेख किया हो ऐसा देखने में नहीं आया। फिर भी तत्त्वार्थ भाष्य के ऊपर की उन दोनों की वृत्तियों में इतना अधिक शब्द-साम्य है कि प्रथम दृष्टि से देखनेवाला यही कहेगा कि किसी एक ने दूसरे की वृत्ति का सक्षेप या विस्तार किया है। पर यह तो प्रश्न ही है कि कोई एक दूसरे की वृत्ति का संक्षेपक या विस्तारक हो तो वह उस दूसरे का नाम

---

१ जैन साहित्य संशोधक वर्ष १. अंक १।

२ देखो प्रस्तुत परिचय पृ० ४३ टिप्पण नं० २।

तक न ले यह जैनाचार्यों के लिए कैसे सम्भव है ? इसलिए अभी तक मेरा निर्णय यह है कि हरिभद्र और गन्धहस्ती दोनों समकालीन हैं, दोनों के समय में कोई खास अन्तर नहीं। भले ही उन दोनों में वय और दीक्षा सम्बन्धी ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व हो। उन दोनों की तत्त्वार्थभाष्य पर की वृत्तियों का शब्द-साम्य या सक्षेप विस्तार एक दूसरे की कृति के अवलोकन का परिणाम नहीं है और न तो हरिभद्र ने गन्धहस्ती को लक्ष्य में रखकर ज्ञानावरणीय की सम्यक्त्वावारकता का खण्डन किया है और न गन्धहस्ती ने हरिभद्र को लक्ष्य में रखकर कुणिमादि आहार के सग्रह का निरास किया है। उन दोनों ने अपनी अपनी वृत्तियाँ तत्त्वार्थ भाष्य की अन्य पूर्वकालीन टीकाओं के आधार पर सक्षेप या विस्तार से रची है। दोनों की वृत्तियों में दिखाई देनेवाला शब्द-साम्य प्राचीन समानसम्पत्ति-मूलक है। हरिभद्र के द्वारा निरस्त किया गया ज्ञानावरणीय की सम्यक्त्वावारकता का मत किसी पूर्व टीकाकार का रहा होगा या जैन परम्परा में ऐसी मान्यता प्रथम से प्रचलित रही होगी जिसका विशेष समर्थन गन्धहस्ती ने किया। इसी तरह कुणिमादि आहार का सग्रह भी किसी पूर्व टीकाकार का हो सकता है या यों ही ऐसी मान्यता प्रचलित होगी जिसे हरिभद्र ने तो स्वीकार किया पर गन्धहस्ती ने स्वीकार न किया। उस जमाने के लिए ऐसी कल्पना करना सगत नहीं कि दोनों ने अपनी अपनी वृत्ति रचते समय ही एक दूसरे के थोड़े बहुत लिखित भाग को किसी तरह देख कर या सुन कर ही उसका खडन या मण्डन किया हो। यह तो सुनिश्चित बात है कि हरिभद्र और गन्धहस्ती के पहले भी तत्त्वार्थभाष्य के ऊपर अनेक व्याख्याएँ रहीं जो सम्भवत. प्रमाण में छोटी और कदाचित् बहुत ही छोटी होंगी। हरिभद्र और गन्धहस्ती की तत्त्वार्थभाष्य पर की व्याख्याशैली पूर्वाधार-शून्य नहीं है। अतएव मेरी राय मे उन दोनों का अधिकाश मे समकालीनत्व ही सगत है। अगर दोनों में कोई एक वृद्ध होगा तो भी गन्धहस्ती के होने की सम्भावना है। अनेक समकालीन और समर्थ

विद्वान् जैन आचार्यों के बारे में यह देखा गया है कि कोई एक दूसरे से परिचित होकर भी दूसरे का नाम निर्देश तक नहीं करता। बहुधा यह भी देखा गया है कि गच्छ-भेद, मन्तव्य-भेद, आचार भेद आदि कारणों से या समान सामर्थ्य के अभिमान से कोई एक समकालीन या पूर्वकालीन दूसरे का नाम निर्देश नहीं करता। हरिभद्र और गन्धहस्ती के बीच भी ऐसा ही कोई गूढ रहस्य न हो यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

उक्त दोनों वृत्तिकारों में चाहे कोई वृद्ध रहा हो, पर इतना तो अवश्य जान पड़ता है कि हरिभद्र की वृत्ति गन्धहस्ती की वृत्ति से पूर्व लिखी गई है। यह बात यशोभद्र के शिष्य के ऊपर निर्दिष्ट वाक्यों से जैसे सूचित होती है वैसे ही इसका पोषण प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति के एक वाक्य से भी होता है। इसमें कहा गया है कि[1]—"तत्त्वार्थ-मूल-टीका मे हरिभद्र सूरि भी कहते हैं।" यहाँ हरिभद्र के नाम के साथ 'तत्त्वार्थ की टीका' मात्र नहीं है किन्तु 'मूल टीका' है। 'मूल टीका' का अर्थ इसके सिवाय और कुछ हो ही नहीं सकता कि उस समय ज्ञात तत्त्वार्थ की सब टीकाओं में असली या प्राचीन टीका। प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति का रचयिता अपने समय तक की मान्यता के अनुसार यह समझता था कि तत्त्वार्थ की सब टीकाओं में हरिभद्र की टीका ही मूल है। उस समय दूसरी पूर्ववर्ती टीका-टिप्पणियों का अस्तित्व रहा न होगा। और हरिभद्रीय टीका ही मूल समझी जाती होगी तथा गन्धहस्ती की टीका इसके बाद की रचना समझी जाती होगी। इस समझ को भ्रान्त मानने का अभी कोई साधन नहीं है। अतएव हरिभद्रीय वृत्ति को ही

---

१ "तथा च तत्त्वार्थमूलटीकायां हरिभद्रसूरि"—पृ० ३३७ ऐसा लिख कर जो पाठ दिया है वह हरिभद्रवृत्ति का न होकर सिद्धसेनीय वृत्ति का है। लेकिन इसने उपर्युक्त अनुमान में कोई बाधा नहीं आती। यह तो उनका एक भ्रम मात्र है कि जिस पाठ को वे हरिभद्रीय वृत्ति का समझते थे वह उसका न होकर सिद्ध-सेनीय वृत्ति का था।

गन्धहस्ती की वृत्ति से प्रथम निर्मित मानना युक्तिसंगत है। प्रथम रची जाने पर भी वह किसी कारण से गन्धहस्ती के देखने में आई न होगी। इस कल्पना का पोषक मुख्यतया इस बात से होता है कि पाँचवें अध्याय के अन्तिम सूत्र "उ[illegible]भोऽन्ययुक्त वत् ॥२६॥" के जिस भाष्यपाठ को लेकर हरिभद्र ने वृत्ति रची है वह पाठ गन्धहस्ती के आश्रित पाठ से बिल्कुल भिन्न है। जो गन्धहस्ती अनेक स्थलों में सूत्र तथा भाष्य के भिन्न भिन्न पाठान्तरों का निर्देश करके उनकी समीक्षा करते हैं वे हरिभद्र के द्वारा अवलम्बित नितान्त भिन्न भाष्यपाठ का निर्देश तक न करें और उसकी समीक्षा करने से बाज रहें यह कभी सम्भव नहीं। प्रस्तुत चर्चा से निष्पन्न मेरे विचार का सार संक्षेप में इस प्रकार है।

१. आदि पाँच अध्याय की अधूरी वृत्ति के रचयिता हरिभद्र याकिनी-सूनु ही होने चाहिए। और उन्हीं की वृत्ति तत्त्वार्थ की मूलटीका समझी जाती नहीं जो गन्धहस्ती की वृत्ति के पहले ही रची गई होगी।

२. हरिभद्र और गन्धहस्ती के बीच समय का कोई खास अन्तर नहीं, वय या दीक्षाकृत ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व भले ही हो पर दोनों हैं समकालीन और विक्रम की ८–९ वीं शताब्दी ही उनका जीवन और कार्यकाल है।

३. हरिभद्र और गन्धहस्ती की दोनों वृत्तियों में एक दूसरे के मन्तव्य का जो खण्डन दिखाई देता है वह एक दूसरे की वृत्ति के अवलोकन का परिणाम न होकर पूर्ववर्ती मन्तव्यों का स्वीकार या अस्वीकार मात्र है।

४. हरिभद्र और गन्धहस्ती के पहले भी तत्त्वार्थसूत्र और उसके ऊपर अनेक छोटी छोटी व्याख्याएँ थीं जो विरल स्थानों की टिप्पणी रूप भी होंगी और समूचे ग्रन्थ पर भी होंगी तो भी प्राचीन ढंग से संक्षिप्त ही होंगी।

५ उन प्राचीन छोटी छोटी टिप्पणियों के आधार से तथा जैन तत्त्वज्ञान एव आचार विषयक तव तक प्रचलित अन्य विविध मन्तव्यों के आधार से हरिभद्र ने एक सग्राहक वृत्ति लिखनी शुरू की जो पूरी न हो सकी। गन्धहस्ती ने दूसरी ही वडी वृत्ति लिखी और उसमें जगह जगह दार्शनिक वादों का समावेश भी किया।

(ड) देवगुप्त, यशोभद्र तथा यशोभद्र के शिष्य

उक्त हरिभद्र ने साढ़े पाँच अध्याय की वृत्ति रची। इसके वाद तत्त्वार्थभाष्य के सारे भाग के ऊपर जो वृत्ति है उसकी रचना दो व्यक्तियों के द्वारा हुई तो निश्चित ही जान पड़ती है। जिनमें से एक यशोभद्र नाम के आचार्य हैं। दूसरे उनके शिष्य हैं, जिनके नाम का कोई पता नहीं। यशोभद्र के अज्ञात नामक उस शिष्य ने दशम अध्याय के अन्तिम सूत्रमात्र के भाष्य के ऊपर वृत्ति लिखी है। इसके पहले के हरिभद्र त्यक्त सव भाष्य भाग के ऊपर यशोभद्र की वृत्ति है। यह वात उस यशोभद्रसूरि के शिष्य के वचनों से ही स्पष्ट है[1]।

श्वेताम्बर परम्परा में यशोभद्र नाम के अनेक आचार्य व ग्रन्थकार हुए हैं[2]।

इनमें से प्रस्तुत यशोभद्र कौन है यह अज्ञात है। प्रस्तुत यशोभद्र भाष्य की अधूरी वृत्ति के रचयिता हरिभद्र के शिष्य थे इसका कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है। इसके विरुद्ध यह तो कहा जा सकता है कि अगर प्रस्तुत यशोभद्र उन हरिभद्र के शिष्य होते तो यशोभद्र का शिष्य जो वृत्ति की समाप्ति करनेवाला है और जिसने हरिभद्र की अधूरी वृत्ति का अपने गुरु यशोभद्र के द्वारा निर्वाहित होना।लिखा है वह अपने गुरु के नाम के साथ हरिभद्र शिष्य इत्यादि कोई विशेषण विना लगाये

---

१ देखो प्रस्तुत परिचय पृ० ४४।

२ देखो जैन साहित्यका सक्षिप्त इतिहास, परिशिष्ट में यशोभद्र।

शायद ही रहता। अस्तु, जो कुछ हो पर इतना तो अभी विचारणीय है ही कि वे यशोभद्र कब हुए और उनकी दूसरी कृतियाँ हैं या नहीं? यह भी विचारणीय है कि यशोभद्र आखिरी एकमात्र सूत्र की वृत्ति रचने क्यों नहीं पाए? और वह उनके शिष्य को क्यों रचनी पडी?

तुलना करने से ज्ञान पड़ता है कि यशोभद्र और उनके शिष्य की भाष्यवृत्ति गन्धहस्ती की वृत्ति के आधार पर ही लिखी गई है। गन्धहस्ती की और हरिभद्र की वृत्तिगत शब्दसाम्य और पारस्परिक मतभेद का निरसन ये दोनों एक दूसरे की वृत्ति के अवलोकन का परिणाम नहीं है–ऐसा मानने को वाधित होना पड़ता है। पर यशोभद्र की वृत्ति के बारे में ऐसा नहीं है क्योंकि यशोभद्र का शिष्य साफ लिखता है कि गन्धहस्ती ने जो नव्य वृत्ति रची उसीसे मैंने और मेरे गुरु यशोभद्र आचार्य ने शेष भाग उद्धृत किया।

हरिभद्र के षोडशक प्रकरण के ऊपर वृत्ति लिखने वाले एक यशोभद्र सूरि हुए हैं वे ही प्रस्तुत यशोभद्र हैं या अन्य, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। पाये जाने वाले विस्तृत दार्शनिकवाद छोटी में नहीं है या कहीं हैं तो बिलकुल ही संक्षिप्त है। अधिक ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" सूत्र का भाष्य दोनों वृत्तियों में न एक है और न किसी एक में दूसरी वृत्ति का अवलंबित भाष्यपाठ निर्दिष्ट भी है।

(च) मलयगिरि

मलयगिरि[1] की लिखी तत्त्वार्थभाष्य पर की व्याख्या नहीं मिलती।

---

१ मलयगिरि ने तत्त्वार्थटीका लिखी थी ऐसी मान्यता उनकी प्रज्ञापनावृत्ति में उपलब्ध होने वाले निम्न उल्लेख तथा इसी प्रकार के दूसरे उल्लेखों पर से रूढ हुई है —"**तच्चाप्राप्तकारित्वं तत्त्वार्थटीकादौ सविस्तरेण प्रसाधितमिति ततोऽवधारणीयम्।**"—पद–१५ पृ० २९८।

ये विक्रम की १२वीं, १३वीं शताब्दी में होने वाले विश्रुत श्वेताम्बर विद्वानों में से एक हैं। ये आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन और सर्वश्रेष्ठ टीकाकार के तौर पर प्रसिद्ध हैं। इनकी बीसों महत्त्वपूर्ण कृतियाँ[1] उपलब्ध हैं।

(छ) चिरंतनमुनि

चिरतनमुनि एक अज्ञात नाम के श्वेताम्बर साधु हैं। तत्त्वार्थ के ऊपर साधारण टिप्पण लिखा है, ये विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के बाद किसी समय हुए हैं, क्योंकि इन्होंने अध्याय ५, सूत्र ३१ के टिप्पण में में चौदहवीं शताब्दी में होने वाले मल्लिषेण की 'स्याद्वादमजरी' का उल्लेख किया है।

(ज) वाचक यशोविजय

वाचक यशोविजय की लिखी भाष्य पर की वृत्ति का अपूर्ण प्रथम अध्याय-जितना भाग मिलता है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण जैन सप्रदाय में सबसे अन्त में होने वाले सर्वोत्तम प्रामाणिक विद्वान् के तौर पर प्रसिद्ध हैं। इनकी संख्याबद्ध कृतियाँ[2] उपलब्ध हैं। सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दी तक होने वाले न्यायशास्त्र के विकास को अपना कर इन्होंने जैन श्रुत को तर्कबद्ध किया है और भिन्न भिन्न विषयों पर अनेक प्रकरण लिखकर जैनतत्त्वज्ञान के सूक्ष्म अभ्यास का मार्ग तैयार किया है।

(झ) गणी यशोविजय

गणी यशोविजय ऊपर के वाचक यशोविजय से भिन्न हैं। ये कब हुए ? यह मालूम नहीं। इनके विषय में दूसरा भी ऐतिहासिक परिचय

---

१ देखो, 'धर्मसंग्रहणी' की प्रस्तावना पृ० ३६।

२ देखो, जैनतर्कभाषा प्रस्तावना–सिंघी सिरीज़।

इस समय कुछ नहीं है। इनकी कृति के तौर पर अभी तक सिर्फ तत्त्वार्थ-सूत्र पर का गुजराती टबा-टिप्पण प्राप्त है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य कुछ रचना की होगी या नहीं, यह ज्ञात नहीं। टिप्पण की भाषा और शैली को देखते हुए ये सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में हुए जान पड़ते हैं। इनकी उल्लेख करने योग्य दो विशेषताएँ हैं।

(१) जैसे वाचक यशोविजयजी वगैरह श्वेताम्बर विद्वानो ने 'अष्ट-सहस्री' जैसे दिगम्बरीय ग्रन्थों पर टीकाएँ रची हैं, वैसे ही गणी यशो-विजयजी ने भी तत्त्वार्थसूत्र के दिगम्बरीय सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ को लेकर उस पर मात्र सूत्रों का अर्थपूरक टिप्पण लिखा है और टिप्पण लिखते हुए उन्होंने जहाँ जहाँ श्वेताम्बरों और दिगम्बरों का मतभेद या मतविरोध आता है वहाँ सर्वत्र श्वेताम्बर परम्परा का अनुसरण करके ही अर्थ किया है। इस प्रकार सूत्रपाठ दिगम्बरीय होते हुए भी अर्थ श्वेताम्बरीय है।

(२) आजतक तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती मे टिप्पण लिखने वाले प्रस्तुत यशोविजय गणी ही प्रथम गिने जाते हैं, क्योंकि उनके सिवाय तत्त्वार्थसूत्र पर गुजराती मे किसी का कुछ लिखा हुआ अभी तक भी जानने में नहीं आया।

गणी यशोविजयजी श्वेताम्बर हैं, यह बात तो निश्चित है, क्योंकि टिप्पण के अन्त मे ऐसा उल्लेख[1] है, और दूसरा सबल प्रमाण तो उनका बालावबोध-टिप्पण ही है। सूत्र का पाठभेद[2] और सूत्रों की

---

१ "इति श्वेताम्बराचार्यश्रीउमास्वामिगण(णि)कृततत्त्वार्थसूत्रं तस्य बालावबोधः श्रीयशोविजयगणिकृत समाप्त।"—प्रवर्तक श्री कान्तिविजय के शास्त्र संग्रह में की लिखित टिप्पणी की पुस्तक।

२ इसे स्वीकार करने में अपवाद भी हैं जो कि बहुत ही थोड़े हैं। उदा-हरण के तौर पर अध्याय ४ का १९ वाँ सूत्र इन्होंने दिगम्बरीय [illegible] नहीं लिया। दिगम्बर सोलह स्वर्ग मानते हैं इस लिये उनका पाठ [illegible]

सख्या दिगम्बरीय स्वीकार करने पर भी उसका अर्थ किसी जगह उन्होंने दिगंबर परम्परा के अनुकूल नहीं किया। हाँ, यहाँ एक प्रश्न होता है, और वह यह कि यशोविजयी श्वेताम्बर होते हुए भी उन्होंने दिगम्बर सूत्रपाठ कैसे लिया होगा? क्या वे श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ से परिचित नहीं थे, या परिचित होने पर भी उन्हें दिगम्बरीय सूत्रपाठ में ही श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिखाई दिया होगा? इसका उत्तर यही उचित जान पड़ता है कि वे श्वेताम्बर सूत्रपाठ से परिचित तो अवश्य होंगे ही और उनकी दृष्टि में उसी पाठ का महत्त्व भी होगा ही, क्योंकि वैसा न होता तो वे श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार टिप्पणी रचते ही नहीं, ऐसा होने पर भी उन्होंने दिगम्बरीय सूत्रपाठ ग्रहण किया इसका कारण यह होना चाहिए कि जिस सूत्रपाठ के आधार पर दिगम्बरीय सभी विद्वान् हजार वर्ष हुए दिगम्बर परम्परा के अनुसार[1] ही श्वेताम्बर आगमों से विरुद्ध अर्थ करते आए हैं, उसी सूत्रपाठ में से श्वेताम्बर परम्परा को ठीक अनुकूल पड़े, ऐसा अर्थ निकालना और करना बिलकुल शक्य तथा संगत है, ऐसी छाप दिगम्बरीय पक्ष पर डालनी और साथ ही श्वेताम्बरीय अभ्यासियों को बतलाना कि दिगम्बरीय सूत्रपाठ या श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ चाहे जो लो इन दोनों में पाठ-भेद होते हुए भी अर्थ तो एक ही प्रकार का निकलता है और वह श्वेताम्बर परम्परा को ठीक बैठे वैसा ही है। इससे दिगम्बरीय सूत्रपाठ से भड़कने की या उसे विरोधी पक्ष का सूत्रपाठ समझ कर फेंक देने की कोई जरूरत नहीं। तुम चाहो तो भाष्यमान्य सूत्रपाठ सीखो या सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ याद करो। तत्त्व दोनों में एक ही है। इस रीति से एक तरफ दिगम्बरीय विद्वानों को उनके सूत्रपाठ में से सरल

म्बरीयता नहीं रह सकता, इससे उन्होंने इस स्थल पर श्वेताम्बर सूत्रपाठों में से ही बराबर स्थानों का नामनाम ग्रहण किया है।

१ देखो, सर्वार्थसिद्धि २. ५३, ६. ११ और १०. ६।

रीति से सत्य अर्थ क्या निकल सकता है यह बतलाने के लिये और दूसरी तरफ श्वेताम्बर अभ्यासियों को पक्षभेद के कारण दिगम्बरीय सूत्रपाठ से न भड़कें ऐसा समझाने के उद्देश्य से ही, इन यशोविजय जी ने श्वेताम्बरीय सूत्रपाठ छोड़ कर दिगम्बरीय सूत्रपाठ पर टिप्पणी लिखी हो, ऐसा जान पड़ता है।

(ञ) पूज्यपाद

पूज्यपाद का असली नाम देवनन्दी है। ये विक्रम की पाँचवीं, छठी, शताब्दी में हुए हैं। इन्होंने व्याकरण आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ लिखे है, जिनमें से कुछ तो उपलब्ध[1] हैं और कुछ अभी तक मिले नहीं। दिगम्बर व्याख्याकारों में पूज्यपाद से पहले सिर्फ शिवकोटि[2] के ही होने की सूचना मिलती है। इन्हीं की दिगम्बरीयत्व समर्थक 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की तत्त्वार्थव्याख्या पीछे सम्पूर्ण दिगम्बरीय विद्वानों को आधारभूत हुई है।

(ट) भट्ट अकलङ्क

भट्ट अकलङ्क, विक्रम की आठवीं-नववीं शताब्दी के विद्वान् हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' के बाद तत्त्वार्थ पर इनकी ही व्याख्या मिलती है, जो 'राजवार्त्तिक' के नाम से प्रसिद्ध है। ये जैन न्याय प्रस्थापक विशिष्ट गण्यमान्य विद्वानों मे से एक है। इनकी कितनी ही कृतियाँ[3] उपलब्ध हैं, जो हरएक जैन न्याय के अभ्यासी के लिये महत्त्व की हैं।

---

१ देखो, जैनसाहित्य संशोधक प्रथम भाग पृ० ८३।

२ शिवकोटि कृत तत्त्वार्थ व्याख्या या उनके अवतरण वगैरह आज उपलब्ध नहीं हैं। इन्होंने तत्त्वार्थ पर कुछ लिखा था ऐसी सूचना कुछ अर्वाचीन शिला लेखों में की प्रशस्ति पर से होती है। शिवकोटि समन्तभद्र के शिष्य थे, ऐसी मान्यता है। देखो, 'स्वामी समन्तभद्र' पृष्ठ ९६।

३ देखो, न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना।

(ठ) विद्यानन्द

विद्यानन्द का दूसरा नाम 'पात्रकेसरी' प्रसिद्ध है। परन्तु पात्रकेसरी विद्यानन्द से भिन्न थे यह विचार हाल में ही प० जुगलकिशोरजी ने प्रस्तुत किया है, जिसके स्पष्टीकरण के लिए उनके 'अनेकान्त' मासिक पत्र की प्रथम वर्ष की दूसरी किरण देखनी चाहिये। ये विद्यानन्द भी विक्रम की नववीं-दसवीं शताब्दी में हुए हैं। इनकी कितनी ही कृतियाँ उपलब्ध हैं[1]। ये भारतीय दर्शनों के विशिष्ट अभ्यासी हैं और इन्होंने तत्त्वार्थ पर 'श्लोकवार्तिक' नाम की पद्यबध विस्तृत व्याख्या लिख कर कुमारिल जैसे प्रसिद्ध मीमांसक ग्रन्थकारों की स्पर्द्धा की है और जैनदर्शन पर किये गये मीमासकों के प्रचण्ड आक्रमण का सवल उत्तर दिया है।

(ड) श्रुतसागर

'श्रुतसागर' नाम के दिगम्बर पण्डित ने तत्त्वार्थ पर टीका लिखी है।

(ढ) विवुधसेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव और अभयनन्दिसूरि आदि—

अनेक दिगम्बर विद्वानों ने तत्त्वार्थ पर साधारण सस्कृत व्याख्याएँ लिखी हैं। उनके विपय में मुझे खास परिचय नहीं मिला। इतने सस्कृत व्याख्याकारों के अतिरिक्त तत्त्वार्थ की भापा मे टीका लिखनेवाले अनेक दिगम्बर विद्वान् हो गए है, जिनमे से अनेक ने तो कर्णाटक भाषा में टीकाएँ लिखी हैं और दूसरों ने हिन्दी भाषा मे टीकाएँ लिखी हैं[2]।

३. तत्त्वार्थसूत्र।

तत्त्वार्थशास्त्र का बाह्य तथा आभ्यन्तर सविशेष परिचय प्राप्त कराने के लिए—मूल ग्रन्थ के आधार पर नीचे लिखी चार बातों पर विचार

---

१ देखो, अष्टसहस्री और तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक की प्रस्तावना।

२ देखो तत्त्वार्थभाष्य के हिन्दी अनुवाद की श्री नाथूराम प्रेमी की प्रस्तावना।

किया जाता है—(क) प्रेरक सामग्री, (ख) रचना का उद्देश्य, (ग) रचनाशैली और (घ) विषयवर्णन।

(क) प्रेरक सामग्री

जिस सामग्री ने ग्रन्थकार को 'तत्त्वार्थसूत्र' लिखने की प्रेरणा की वह मुख्यरूप से चार भागों में विभाजित की जाती है।

१ **आगमज्ञान का उत्तराधिकार**—वैदिक दर्शनों में वेद की तरह जैनदर्शन में आगम ग्रन्थ ही मुख्य प्रमाण माने जाते हैं, दूसरे ग्रन्थों का प्रामाण्य आगम का अनुसरण करने में ही है। इस आगमज्ञान का पूर्व परम्परा से चला आया हुआ उत्तराधिकार वाचक उमास्वाति को भले प्रकार मिला था, इससे सभी आगमिक विषयों का ज्ञान उन्हें स्पष्ट तथा व्यवस्थित था।

२. **संस्कृत भाषा**—काशी, मगध, विहार आदि प्रदेशों मे रहने तथा विचरने के कारण और कदाचित् ब्राह्मणजाति के कारण वा० उमास्वाति ने अपने समय में प्रधान ऐसी सस्कृत भाषा का गहरा अभ्यास किया था। ज्ञानप्राप्ति के लिए प्राकृत भाषा के अतिरिक्त सस्कृत भाषा का द्वार ठीक खुलने से सस्कृत भाषा में रचे हुए वैदिक दर्शनसाहित्य और बौद्ध दर्शनसाहित्य को जानने का उन्हे अवसर मिला और उस अवसर का यथार्थ उपयोग करके उन्होंने अपने ज्ञानभण्डार को खूब समृद्ध किया।

३. **दर्शनान्तरों का प्रभाव**—सस्कृत भाषा द्वारा उन्होंने वैदिक और बौद्ध साहित्य में जो प्रवेश किया, उसके कारण नई नई तत्कालीन रचनाएँ देखीं, उनमें से वस्तुएँ तथा विचारसरणियाँ जानीं, उन सब का उनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा और इसी प्रभाव ने उन्हे जैन साहित्य में पहले से स्थान न पानेवाली ऐसी 'सक्षिप्त दार्शनिक सूत्रशैली' तथा सस्कृत भाषा में ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा की।

४. प्रतिभा—उक्त तीनों हेतुओं के होते हुए भी यदि उनमें प्रतिभा न होती तो तत्त्वार्थ का इस स्वरूप में कभी जन्म ही न होता। इससे उक्त तीनों हेतुओं के साथ प्रेरक सामग्री में उनकी प्रतिभा को स्थान दिये विना चल ही नहीं सकता।

(ख) रचना का उद्देश्य

कोई भी भारतीय शास्त्रकार जब अपने विषय का शास्त्र रचता है तब वह अपने विषय निरूपण के अन्तिम उद्देश्य में मोक्ष को ही रखता है, फिर भले ही वह विषय अर्थ, काम, ज्यौतिष या वैद्यक जैसा आधिभौतिक दिखाई देता हो अथवा तत्त्वज्ञान और योग जैसा आध्यात्मिक दिखाई पड़ता हो। सभी मुख्य-मुख्य विषयों के शास्त्रों के प्रारम्भ में उस उस विद्या के अन्तिम फलस्वरूप मोक्ष का ही निर्देश हुआ और उस उस शास्त्र के उपसहार में भी अतत उस विद्या से मोक्षसिद्धि होने का कथन किया गया है।

वैशेषिकदर्शन का प्रणेता 'कणाद' अपनी प्रमेय की चर्चा करने से पहले उस विद्या के निरूपण को मोक्ष का साधनरूप बतला कर ही उसमें प्रवर्तता है[1]। न्यायदर्शन का सूत्रधार 'गौतम' प्रमाणपद्धति के ज्ञान को मोक्ष का द्वार मान कर ही उसके निरूपण में प्रवृत्त होता है[2]। सांख्यदर्शन का निरूपण करनेवाला भी मोक्ष के उपायभूत ज्ञान की पूर्ति के लिये अपनी विश्वोत्पत्ति विद्या का वर्णन करता है[3]। ब्रह्ममीमांसा के ब्रह्म और जगत का विषय का निरूपण भी मोक्ष के साधन की पूर्ति के लिये ही है। योगदर्शन में योगक्रिया और दूसरी बहुत सी प्रासंगिक बातों का वर्णन मात्र मोक्ष का उद्देश्य सिद्ध करने के लिये ही है। भक्तिमार्गियों के शास्त्र भी, जिनमें जीव, जगत और ईश्वर आदि

---

१ देखो, कणाद सूत्र १, १, ४। २ देखो, न्याय सूत्र १, १ १,।
३ देखो, ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका का० २।

विषयों का वर्णन है, भक्ति की पुष्टि द्वारा अन्त में मोक्ष प्राप्त कराने के लिये ही हैं। बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद का अथवा चार आर्यसत्यों में समावेश पानेवाले आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक विषय के निरूपण का उद्देश भी मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं। जैनदर्शन के शास्त्र भी इसी मार्ग का अवलम्बन कर रचे गये हैं। वाचक उमास्वाति ने भी अन्तिम उद्देश मोक्ष का ही रख कर उसकी प्राप्ति का उपाय[1] सिद्ध करने के लिये स्वय वर्णनार्थ निश्चित की हुई सभी वस्तुओं का वर्णन तत्त्वार्थ में किया है।

(ग) रचना-शैली

पहले से ही जैन आगमों की रचना शैली बौद्ध पिटकों जैसी लम्बे वर्णनात्मक सूत्रों के रूप में चली आती थी और वह प्राकृत भाषा में थी दूसरी तरफ ब्राह्मण विद्वानों द्वारा सस्कृत भाषा में शुरू की हुई सक्षिप्त सूत्रों के रचने की शैली धीरे-धीरे बहुत ही प्रतिष्ठित हो गई थी,

---

१ वा० उमास्वाति की तत्त्वार्थ रचने की कल्पना 'उत्तराध्ययन' के २८ वें अध्ययन की आभारी है ऐसा जान पड़ता है। इस अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्ग' है; इस अध्ययन में मोक्ष के मार्गों को सूचित कर उनके विषय रूप से जैन तत्त्व ज्ञान क बिलकुल सक्षेप में निरूपण किया गया है। इसी वस्तु को वा० उमास्वाति ने विस्तार कर उसमें समग्र आगम के तत्त्वों को गूँथ दिया है। उन्होंने अपने सूत्र ग्रन्थ का प्रारम्भ भी मोक्षमार्ग प्रतिपादक सूत्र से ही किया है। दिगम्बर सम्प्रदाय में तो तत्त्वार्थसूत्र 'मोक्षशास्त्र' के नाम से अति प्रसिद्ध है। बौद्ध परपरा में विशुद्धिमार्ग अतिमहत्त्व का ग्रन्थ प्रसिद्ध है जो बुद्धघोष के द्वारा पाँचवीं सदी के आस पास पाली में रचा गया है और जिसमें समग्र पाली पिटकों का सार है, इसका पूर्ववर्ती विमुक्तिमार्ग नामक ग्रन्थ भी बौद्ध परंपरा में था जिसका अनुवाद चीनी भाषा में मिलता है। विशुद्धिमार्ग और विमुक्ति मार्ग दोनों शब्दों का अर्थ मोक्षमार्ग ही है।

इस शैली ने वाचक उमास्वाति को आकर्षित किया और उसी में लिखने की प्रेरणा की। जहाँ तक हम जानते हैं वहाँ तक जैनसम्प्रदाय में संस्कृत भाषा में छोटे छोटे सूत्रों के रचयिता सब से पहले उमास्वाति ही हैं, उनके पीछे ही ऐसी सूत्रशैली जैन परम्परा में अतीव प्रतिष्ठित हुई और व्याकरण, अलंकार, आचार, नीति, न्याय आदि अनेक विषयों पर श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय के विद्वानों ने उस शैली में संस्कृत भाषाबद्ध ग्रन्थ लिखे।

उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र कणाद के वैशेषिक सूत्रों की तरह दस अध्यायों में विभक्त है, इनकी संख्या मात्र ३४४ जितनी है, जब कि कणाद के सूत्रों की संख्या ३३३ जितनी ही है। इन अध्यायों में वैशेषिक आदि सूत्रों के सदृश आह्निक-विभाग अथवा ब्रह्मसूत्र आदि के समान पाद-विभाग नहीं है। जैन साहित्य में 'अध्ययन' के स्थान पर 'अध्याय' का आरम्भ करने वाले भी उमास्वाति ही हैं। उनके द्वारा शुरू न किया गया आह्निक और पाद-विभाग भी आगे चलकर उनके अनुयायी 'अकलङ्क' आदि के द्वारा अपने अपने ग्रंथों में शुरू कर दिया गया है। बाह्य रचना में कणादसूत्र के साथ तत्त्वार्थ सूत्र का विशेष साम्य होते हुए भी उसमें एक खास जानने योग्य अन्तर है, जो जैनदर्शन के परम्परागत मानस पर प्रकाश डालता है। कणाद अपने मतव्यों को सूत्र में प्रतिपादित करके, उनको साबित करने के लिये अक्षपाद गौतम के सदृश पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष न करते हुए भी, उनकी पुष्टि में हेतुओं का उपन्यास तो बहुधा करते ही हैं, जब कि वा० उमास्वाति अपने एक भी सिद्धान्त की सिद्धि के लिये कहीं भी युक्ति प्रयुक्ति या हेतु नहीं देते। वे अपने वक्तव्य को स्थापित सिद्धान्त के रूप में ही, कोई भी दलील या हेतु दिये बिना अथवा पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष किये बिना ही, योगसूत्रकार 'पतञ्जलि' की तरह वर्णन करते चले जाते हैं। उमास्वाति के सूत्रों और वैदिक दर्शनों के सूत्रों की तुलना करते हुए एक छाप मन के ऊपर

पड़ती है और वह यह कि जैन परम्परा श्रद्धा-प्रधान है, वह अपने सर्वज्ञ के वक्तव्य को अक्षरश. स्वीकार कर लेती है और उसमे शका-समाधान का अवकाश नहीं देखती, जिसके परिणामस्वरूप सशोधन, परिवर्धन और विकास करने योग्य अनेक बुद्धि के विषय तर्कवाद के जमाने में भी अचर्चित रह कर मात्र श्रद्धा के आधार पर आज तक टिके हुए हैं[१]। जब कि वैदिक दर्शन-परम्परा बुद्धिप्रधान होकर अपने माने हुए सिद्धान्तों की परीक्षा करती है, उसमें शका-समाधान वाली चर्चा करती है, और बहुतसी बार तो पहले से माने जाने वाले सिद्धान्तों को तर्कवाद के बल पर उलट कर नये सिद्धान्तों की स्थापना करती है अथवा उनमें सशोधन-परिवर्धन करती है। साराश यह है कि जैन परम्परा ने विरासत में मिले हुए तत्त्वज्ञान और आचार को बनाये रखने में जितना भाग लिया है उतना नूतन सर्जन में नहीं लिया।

---

१ सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि जैसे अनेक धुरंधर तार्किकों द्वारा किया हुआ तर्कविकास और तार्किक चर्चा भारतीय विचार विकास में खास स्थान रखते हैं, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता, तो भी प्रस्तुत कथन गौण-प्रधानभाव और दृष्टिभेद की अपेक्षा से ही समझने का है। इसे एकाध उदाहरण से समझना हो तो तत्त्वार्थसूत्रों और उपनिषदों आदि को लीजिये। तत्त्वार्थ के व्याख्याकार धुरधर तार्किक होते हुए भी और सम्प्रदाय भेद में विभक्त होते हुए भी जो चर्चा करते हैं और तर्क बल का प्रयोग करते हैं• वह सब प्रथम से स्थापित जैनसिद्धान्त को स्पष्ट करने अथवा उसका समर्थन करने के लिये ही है। इनमें से किसी व्याख्याकार ने नया विचार सर्जन नहीं किया या श्वेताम्बर-दिगम्बर की तात्त्विक मान्यता में कुछ भी अन्तर नहीं डाला। जब कि उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के व्याख्याकार तर्कबल से यहाँ तक स्वतन्त्र चर्चा करते हैं कि उनके बीच तात्त्विक मान्यता में पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर खड़ा हो गया है। इसमें क्या गुण और क्या दोष है, यह वक्तव्य नहीं, वक्तव्य केवल वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना है। गुण और दोष सापेक्ष होने से, दोनों परम्पराओं में हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं।

(घ) विषय-वर्णन

विषय की पसंदगी—कितने ही दर्शनो मे विषय का वर्णन ज्ञेय-मीमासा-प्रधान है, जैसा कि वैशेषिक, साख्य और वेदान्त दर्शन मे। वैशेषिक दर्शन अपनी दृष्टि से जगत् का निरूपण करते हुए उसमें मूल द्रव्य कितने हैं ? कैसे हैं ? और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे पदार्थ कितने तथा कैसे हैं ? इत्यादि वर्णन करके मुख्य रूप से जगत के प्रमेयों की ही मीमासा करता है। साख्यदर्शन प्रकृति और पुरुष का वर्णन करके प्रधान रूप से जगत के मूलभूत प्रमेय तत्त्वों की ही मीमासा करता है। इसी प्रकार वेदान्तदर्शन भी जगत के मूलभूत ब्रह्मतत्त्व की ही मीमासा प्रधान रूप से करता है। परन्तु कुछ दर्शनों में चारित्र की मीमासा मुख्य है, जैसे कि योग और बौद्ध दर्शन में। जीवन की शुद्धि क्या ? उसे कैसे साधना ? उसमें कौन कौन बाधक हैं ? इत्यादि जीवन सम्बन्धी प्रश्नों का हल योगदर्शन ने हेय—दु:ख, हेयहेतु—दु:ख का कारण, हान—मोक्ष और हानोपाय—मोक्ष का कारण इस चतुर्व्यूह का निरूपण करके और बौद्धदर्शन ने चार आर्यसत्यों का निरूपण करके, किया है। अर्थात् पहले दर्शनविभाग का विषय ज्ञेयतत्त्व और दूसरे दर्शनविभाग का चारित्र है।

भगवान् महावीर ने अपनी मीमासा मे ज्ञेयतत्त्व और चारित्र को समान स्थान दिया है, इससे उनकी तत्त्वमीमासा एक ओर जीव, अजीव के निरूपण द्वारा जगतका स्वरूप वर्णन करती है और दूसरी तरफ आस्रव, सवर आदि तत्त्वों का वर्णन करके चारित्र का स्वरूप दरसाती है। इनकी तत्त्वमीमासा का अर्थ है ज्ञेय और चारित्र का समानरूप से विचार। इस मीमांसा में भगवान् ने नवतत्त्वों को रखकर इन पर की जाने वाली अचल श्रद्धा को जैनत्व की प्राथमिक शर्त के रूप में वर्णन किया है। त्यागी या गृहस्थ कोई भी महावीर के मार्ग का अनुयायी तभी माना जा सकता है जब कि उसने चाहे इन नवतत्त्वों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त न

किया हो, तो भी इनके ऊपर वह श्रद्धा रखता ही हो, अर्थात् 'जिनकथित ये तत्त्व ही सत्य हैं' ऐसी रुचि-प्रतीति वाला हो। इस कारण से जैनदर्शन में नवतत्त्व जितना दूसरे किसी का भी महत्त्व नहीं है। ऐसी वस्तुस्थिति के कारण ही वा० उमास्वाति ने अपने प्रस्तुत शास्त्र के विषयरूप से इन नवतत्त्वों को पसंद किया और उन्हीं का वर्णन सूत्रों में शास्त्र संख्या द्वारा करके इन सूत्रों के विषयानुरूप 'तत्त्वार्थाधिगम' ऐसा नाम दिया। वा० उमास्वाति ने नवतत्त्वों की मीमांसा में ज्ञेय प्रधान और चारित्र प्रधान दोनों दर्शनों का समन्वय देखा, तो भी उन्होंने उसमें अपने समय में विशेष चर्चाप्राप्त प्रमाणमीमांसा के निरूपण की उपयोगिता महसूस की, इससे उन्होंने अपने ग्रन्थ को अपने ध्यान में आनेवाली सभी मीमांसाओं से परिपूर्ण करने के लिये नवतत्त्व के अतिरिक्त ज्ञान-मीमांसा को विषय रूप से स्वीकार करके तथा न्यायदर्शन की प्रमाण-मीमांसा की जगह जैन ज्ञानमीमांसा कैसी है उसे बतलाने के लिये अपने ही सूत्रों में योजना की। इससे समुच्चय रूप से ऐसा कहना चाहिये कि वा० उमास्वाति ने अपने सूत्र के विषय रूप से ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीनों मीमांसाओं को जैन दृष्टि के अनुसार लिया है।

विषय का विभाग—पसंद किये हुए विषय को वा० उमास्वाति ने अपनी दशाध्यायी में इस प्रकार से विभाजित किया है—पहले अध्याय में ज्ञान की, दूसरे से पाँचवें तक चार अध्यायों में ज्ञेय की और छठे से दसवें तक पाँच अध्यायों में चारित्र की मीमांसा की है। उक्त तीनों मीमांसाओं की क्रमशः मुख्य सार बातें देकर प्रत्येक की दूसरे दर्शनों के साथ यहाँ संक्षेप में तुलना की जाती है।

ज्ञानमीमांसा की सारभूत बातें—पहले अध्याय में ज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली मुख्य बातें आठ हैं और वे इस प्रकार हैं:—१ नय और प्रमाण रूप से ज्ञान का विभाग। २ मति आदि आगम प्रसिद्ध पाँच ज्ञान और उनका प्रत्यक्ष परोक्ष दो प्रमाणों में विभाजन। ३ मतिज्ञान की उत्पत्ति के

साधन, उनके भेद-प्रभेद और उनकी उत्पत्ति के क्रमसूचक प्रकार। ४ जैन परम्परा में प्रमाण माने जानेवाले आगम शास्त्र का श्रुतज्ञान रूप से वर्णन। ५ अवधि आदि तीन दिव्य प्रत्यक्ष और उनके भेद-प्रभेद तथा पारस्परिक अन्तर। ६ इन पाँचों ज्ञानों का तारतम्य बतलाते हुए उनका विषय निर्देश और उनकी एक साथ सम्भवनीयता। ७ कितने ज्ञान भ्रमात्मक भी हो सकते है यह और ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता के कारण। ८ नय के भेद-प्रभेद।

तुलना—ज्ञानमीमासा मे जो ज्ञानचर्चा है वह 'प्रवचनसार' के ज्ञानाधिकार जैसी तर्कपुरस्सर और दार्शनिक शैली की नहीं, बल्कि नन्दीसूत्र की ज्ञानचर्चा जैसी आगमिक शैली की होकर ज्ञान के सम्पूर्ण भेद-प्रभेदों का तथा उनके विषयों का मात्र वर्णन करनेवाली और ज्ञान-अज्ञान के बीच का भेद बतानेवाली है। इसमें जो अवग्रह, ईहा आदि लौकिक ज्ञान की उत्पत्ति का क्रम[1] सूचित किया गया है वह न्यायशास्त्र[2] में आनेवाली निर्विकल्प, सविकल्प ज्ञान की और बौद्ध अभिधम्मत्थसगहो[3] में आनेवाली ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया का स्मरण कराती है, इसमे जो अवधि आदि तीन दिव्य[4] प्रत्यक्ष ज्ञानों का वर्णन है वह वैदिक[5] और बौद्ध दर्शन के सिद्ध, योगी तथा ईश्वर के ज्ञान का स्मरण कराता है। इसके दिव्य ज्ञान में वर्णित मन:पर्याय का निरूपण योगदर्शन[6] और बौद्धदर्शन[7] के परचित्तज्ञान की याद दिलाता है। इसमें जो प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से[8] प्रमाणों का विभाग है वह वैशेषिक और बौद्धदर्शन में वर्णित[9]

---

१ १. १५–१९। २ देखो मुक्तावली का० ५२ से आगे। ३ परिच्छेद ४ पैरेग्राफ़ ८ से। ४ १. २१-२६ और ३०। ५ प्रशस्तपादकंदली पृ० १८७। ६ ३. १९। ७ अभिधम्मत्थसंगहो परि० ९ पैरेग्राफ़ २४ और नागार्जुन का धर्मसंग्रह पृ० ४। ८ १ १०-१२। ९ प्रशस्तपादकदली पृ० २१३ प० १२ और न्यायबिन्दु १. २।

दो प्रमाणों का, सांख्य और योगदर्शन में वर्णित[1] तीन प्रमाणों का, न्यायदर्शन[2] में प्ररूपित चार प्रमाणों का और मीमासादर्शन[3] में प्रतिपादित छ: आदि प्रमाणों के विभागों का समन्वय है। इस ज्ञानमीमासा मे जो ज्ञान-अज्ञान[4] का विवेक है वह न्यायदर्शन[5] की यथार्थ-अयथार्थ बुद्धि का तथा योगदर्शन[6] के प्रमाण और विपर्यय का विवेक—जैसा है। इसमें जो नय[7] का स्पष्ट निरूपण है वैसा दर्शनान्तर मे कहीं भी नहीं। संक्षेप में ऐसा कह सकते है कि वैदिक और बौद्धदर्शन में वर्णित प्रमाणमीमासा के स्थान पर जैनदर्शन क्या मानता है वह सब तफसीलवार प्रस्तुत ज्ञानमीमासा में वा० उमास्वाति ने दरसाया है।

ज्ञेयमीमांसा की सारभूत बातें—ज्ञेयमीमासा में जगत के मूलभूत जीव और अजीव इन दो तत्त्वों का वर्णन है, इनमे से मात्र जीवतत्त्व की चर्चा दूसरे से चौथे तक तीन अध्याओं में है। दूसरे अध्याय मे जीवतत्त्व के सामान्य स्वरूप के अतिरिक्त ससारी जीव के अनेक भेद-प्रभेदों का और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों का वर्णन है। तीसरे अध्याय में अधोलोक में बसनेवाले नारकों और मध्यलोक में बसनेवाले मनुष्यों तथा पशु-पक्षी आदि का वर्णन होने से उनसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों के साथ पाताल और मनुष्य लोक का सम्पूर्ण भूगोल आ जाता है। चौथे अध्याय मे देव-सृष्टि का वर्णन होने से उसमें खगोल के अतिरिक्त अनेक प्रकार के दिव्य धामों का और उनकी समृद्धि का वर्णन है। पाँचवें अध्याय में प्रत्येक द्रव्य के गुण-धर्म का वर्णन करके उसका सामान्य स्वरूप बतला कर साधर्म्य-वैधर्म्य द्वारा द्रव्य मात्र की विस्तृत चर्चा की है।

---

१ ईश्वरकृष्ण कृत **सांख्यकारिका** का० ४ और **योगदर्शन** १. ७। २ १. १. ३। ३ **शाबर-भाष्य** १. ५। ४ १, ३३। ५ **तर्कसंग्रह**—बुद्धि-निरूपण। ६ **योगसूत्र** १. ६। ७ १ ३४-३५।

ज्ञेयमीमासा मे मुख्य सोलह बातें आती है जो इस प्रकार हैं:—

दूसरे अध्याय में—१ जीवतत्त्व का स्वरूप। २ ससारी जीव के भेद। ३ इन्द्रिय के भेद-प्रभेद, उनके नाम, उनके विषय और जीव-राशि में इन्द्रियों का विभाजन। ४ मृत्यु और जन्म के बीच की स्थिति। ५ जन्मों के और उनके स्थानों के भेद तथा उनका जाति की दृष्टि से विभाग। ६ शरीर के भेद, उनके तारतम्य, उनके स्वामी और एक साथ उनका सम्भव। ७ जातियों का लिंग-विभाग और न टूट सके ऐसे आयुष्य को भोगनेवालों का निर्देश। तीसरे और चौथे अध्याय में—८ अधो-लोक के विभाग, उसमे वसनेवाले नारक जीव और उनकी दशा तथा जीवनमर्यादा वगैरह। ९ द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र आदि द्वारा मध्यलोक का भौगोलिक वर्णन तथा उसमें वसनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का जीवनकाल। १० देवों की विविध जातियाँ, उनके परिवार, भोग, स्थान, समृद्धि, जीवनकाल और ज्योतिर्मंडल द्वारा खगोल का वर्णन। पाँचवें अध्याय में—११ द्रव्य के भेद, उनका परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य, उनका स्थितिक्षेत्र और प्रत्येक का कार्य। १२ पुद्गल का स्वरूप, उनके भेद और उसकी उत्पत्ति के कारण। १३ सत् और नित्य का सहेतुक स्वरूप। १४ पौद्गलिक बन्ध की योग्यता और अयोग्यता। १५ द्रव्य-सामान्य का लक्षण, काल को द्रव्य माननेवाला मतान्तर और उसकी दृष्टि से काल का स्वरूप। १६ गुण और परिणाम के लक्षण और परिणाम के भेद।

तुलना—उक्त बातों मे की बहुत-सी बातें आगमों और प्रकरण ग्रन्थों में हैं, परन्तु वे सभी इस ग्रन्थ की तरह सक्षेप मे सकलित और एक ही स्थल पर न होकर इधर-उधर बिखरी हुई हैं। 'प्रवचनसार' के ज्ञेयाधिकार मे और 'पचास्तिकाय' के द्रव्याधिकार मे ऊपर बतलाये हुए पाँचवें अध्याय के ही विषय है परन्तु उनका निरूपण इस ग्रन्थ से जुदा पड़ता है। पचास्तिकाय और प्रवचनसार में तर्कपद्धति तथा विस्तार है, जब कि उक्त पाँचवे अध्याय में सक्षिप्त तथा सीधा वर्णन मात्र है।

ऊपर जो दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय की सार बातें दी हैं वैसा अखण्ड, व्यवस्थित और सागोपाग वर्णन किसी भी ब्राह्मण या बौद्ध मूल दार्शनिक सूत्र ग्रन्थ में नहीं दिखाई देता। बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र[1] के तीसरे और चौथे अध्याय मे जो वर्णन दिया है वह उक्त दूसरे, तीसरे और चौथे अध्याय की कितनी ही बातों के साथ तुलना किये जाने के योग्य है, क्योंकि इसमें मरण के बाद की स्थिति, उत्क्राति, जुदी-जुदी जाति के जीव, जुदे-जुदे लोक और उनके स्वरूप का वर्णन है।

उक्त दूसरे अध्याय में जीव का जो उपयोग लक्षण[2] कहा गया है वह आत्मवादी सभी दर्शनों द्वारा स्वीकृत उनके ज्ञान या चैतन्य लक्षण से जुदा नहीं। वैशेषिक और न्यायदर्शन के इन्द्रियवर्णन की अपेक्षा उक्त दूसरे अध्याय[3] का इन्द्रियवर्णन जुदा दिखाई देते हुए भी उसके इद्रियसम्बन्धी भेद, उनके नाम और प्रत्येक के विषय न्याय[4] तथा वैशेषिक दर्शन के साथ लगभग शब्दश. समान है। वैशेषिकदर्शन[5] में जो पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय शरीरों का वर्णन है तथा साख्यदर्शन[6] में जो सूक्ष्म लिंग और स्थूल शरीर का वर्णन है वह तत्त्वार्थ[7] के शरीरवर्णन से जुदा दिखाई देते हुए भी वास्तव में एक ही अनुभव के भिन्न पहलुओं (पार्श्वों) का सूचक है। तत्त्वार्थ[8] में जो बीच से टूट सके और न टूट सके ऐसे आयुष्य का वर्णन है और उसकी जो उपपत्ति दरसाई गई है वह योगसूत्र[9] और उसके भाष्य के साथ शब्दश साम्य रखती है। उक्त तीसरे और चौथे अध्याय मे प्रदर्शित भूगोलविद्या का किसी भी दूसरे दर्शन के सूत्रकार ने स्पर्श

---

१ देखो, 'हिन्दतत्त्वज्ञाननो इतिहास' द्वितीय भाग, पृ० १६२ से आगे। २ २. ८। ३ २. १५-२१। ४ न्यायसूत्र १. १. १२ और १४। ५ देखो, 'तर्कसंग्रह' पृथ्वी से वायु तक का निरूपण। ६ 'सांख्यकारिका' का० ४० से ४२। ७ २. ३७-४६। ८ २. ५२। ९ ३. २२ विस्तार के लिये देखो, प्रस्तुत परिचय पृ० १३, १४।

नहीं किया, ऐसा होते हुए भी योगसूत्र ३. २६ के भाष्य में नरक-भूमियों का; उनके आधारभूत घन, सलिल, वात, आकाश आदि तत्त्वों का, उनमें रहनेवाले नारकों का; मध्यमलोक का, मेरु का, निषध नील आदि पर्वतों का, भरत, इलावृत्त आदि क्षेत्रों का जम्बूद्वीप, लवण-समुद्र आदि द्वीप-समुद्रों का तथा ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी विविध स्वर्गों का, उनमें बसनेवाली देवजातियों का उनके आयुषों का; उनकी स्त्री, परिवार आदि भोगों का और उनके रहन-सहन का जो विस्तृत वर्णन है वह तत्त्वार्थ के तीसरे, चौथे अध्याय की त्रैलोक्य-प्रज्ञप्ति की अपेक्षा कमती मालूम देता है। इसी प्रकार बौद्धग्रंथों[१] में वर्णित द्वीप, समुद्र, पाताल, शीत-उष्ण, नारक, और विविध देवों का वर्णन भी तत्त्वार्थ की त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति की अपेक्षा संक्षित ही है। ऐसा होते हुए भी इन वर्णनों का शब्दसाम्य और विचारसरणी की समानता देख कर आर्य दर्शनों की जुदी जुदी शाखाओं का एक मूल शोधने की प्रेरणा हो आती है।

पाँचवाँ अध्याय वस्तु, शैली और परिभाषा में दूसरे किसी भी दर्शन की अपेक्षा वैशेषिक और सांख्य दर्शन के साथ अधिक साम्य रखता है। इसका षड्द्रव्यवाद वैशेषिकदर्शन[२] के षट्पदार्थवाद की याद दिलाता है। इसमें प्रयुक्त साधर्म्य-वैधर्म्य-वाली शैली वैशेषिक दर्शन[३] का प्रतिबिम्ब हो ऐसा भासित होता है। यद्यपि धर्मास्तिकाय[४] अधर्मास्तिकाय इन दो द्रव्यों की कल्पना दूसरे किसी दर्शनकार ने नहीं की और जैनदर्शन का आत्मस्वरूप[५] भी दूसरे सभी दर्शनों की अपेक्षा जुदे ही प्रकार का है, तो भी आत्मवाद और पुद्गलवाद से

१ धर्मसंग्रह पृ० २६-३१ तथा अभिधम्मत्थसंगहो परि० ५ पेरा ३ से आगे। २ १. १.४। ३ प्रशस्तपाद पृ० १६ से। ४ ५. १ और ५. १७, विशेष विवरण के लिये देखो, 'जैनसाहित्यसंशोधक' खण्ड तृतीय अङ्क पहला तथा चौथा। ५ तत्त्वार्थ ५. १५-१६।

सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी बातें वैशेषिक, सांख्य आदि के साथ अधिक साम्य रखती हैं। जैनदर्शन[1] की तरह न्याय, वैशेषिक[2], सांख्य[3] आदि दर्शन भी आत्मबहुत्ववादी ही हैं। जैनदर्शन का पुद्गलवाद[4] वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद[5] और सांख्य दर्शन के प्रकृतिवाद[6] के समन्वय का भान कराता है, क्योंकि इसमें आरंभ और परिणाम उभय-वाद का स्वरूप आता है। एक तरफ तत्त्वार्थ में कालद्रव्य को मानने वाले मतान्तर[7] का किया हुआ उल्लेख और दूसरी तरफ उसके निश्चित रूप से बतलाये हुए लक्षणों[8] पर से ऐसा मानने के लिये जी चाहता है कि जैन तत्त्वज्ञान के व्यवस्थापकों के ऊपर कालद्रव्य के विषय में वैशेषिक[9] और सांख्य दोनों दर्शनों के मतव्य की स्पष्ट छाप है, क्योंकि वैशेषिकदर्शन काल को स्वतंत्र द्रव्य मानता है, जब कि सांख्य दर्शन ऐसा नहीं मानता। तत्त्वार्थ में सूचित किये गये कालद्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व-नास्तित्व-विषयक दोनों पक्ष, जो आगे जाकर दिगम्बर[10] और श्वेताम्बर परम्परा की जुदी जुदी मान्यता रूप से विभाजित हो गये हैं, पहले से ही जैनदर्शन में होंगे या उन्होंने वैशेषिक और सांख्यदर्शन के विचार संघर्ष के परिणामस्वरूप किसी समय जैनदर्शन में स्थान प्राप्त किया होगा, यह एक शोध का विषय है। परन्तु एक बात तो दीपक जैसी स्पष्ट है कि मूल तत्त्वार्थ और उसकी व्याख्याओं[11] में जो काल के लिंगों का वर्णन है वह वैशेषिक सूत्र के साथ शब्दशः मिलता जुलता

---

१ तत्त्वार्थ ५. २। २ "व्यवस्थातो नाना–" ३.२.२०। ३ "पुरुष-बहुत्वं सिद्धम्"–सांख्यकारिका १८। ४ तत्त्वार्थ ५. २३–२८। ५ देखो, 'तर्कसंग्रह' पृथ्वी आदि भूतों का निरूपण। ६ सांख्यकारिका २२ से आगे। ७ ५, ३८,। ८ ५, २२। ९ २.२.६। १० देखो, कुन्दकुन्द के प्रवचनसार और पंचास्तिकाय का कालनिरूपण तथा सर्वार्थसिद्धि ५. ३९। ११ देखो, भाष्यवृत्ति ५. २२ और प्रस्तुत परिचय पृ० ११।

है। सत् और नित्य की तत्त्वार्थगत व्याख्या यदि किसी भी दर्शन के साथ सादृश्य रखती हो तो वह सांख्य और योग दर्शन ही हैं, इनमें वर्णित परिणामिनित्य का स्वरूप तत्त्वार्थ के सत् और नित्य के स्वरूप के साथ शब्दशः मिलता है। वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं में द्रव्यारम्भ की जो योग्यता[1] बतलाई गई है वह तत्त्वार्थमें[2] वर्णित पौद्गलिक बंध—द्रव्यारंभ की योग्यता की अपेक्षा जुदे ही प्रकार की है।[3] तत्त्वार्थ की द्रव्य और गुण की व्याख्या वैशेषिक दर्शन की व्याख्या के साथ अधिक[4] सादृश्य रखती है। तत्त्वार्थ और सांख्यदर्शन की परिणाम सम्बन्धी परिभाषा समान ही है। तत्त्वार्थ का द्रव्य, गुण और पर्याय रूप से सत् पदार्थ का विवेक सांख्य के सत् और परिणामवाद की तथा वैशेषिक दर्शन के द्रव्य, गुण और कर्म को मुख्य सत् मानने की प्रवृत्ति की याद दिलाता है।

चारित्रमीमांसा की सारभूत बातें—जीवन में कौन कौन सी प्रवृत्तियाँ हेय है, ऐसी हेय प्रवृत्तियों का मूल बीज क्या है, हेय प्रवृत्तियों को सेवन करनेवालों के जीवन में कैसा परिणाम आता है, हेय प्रवृत्तियों का त्याग शक्य हो तो वह किस २ प्रकार के उपायों से हो सकता है, और हेय प्रवृत्तियों के स्थान में किस प्रकार की प्रवृत्तियाँ जीवन में दाखिल करना, उसका परिणाम जीवन में क्रमशः और अन्त में क्या आता है—ये सब विचार छठे से दसवें अध्याय तक की चारित्रमीमांसा में आते हैं। ये सब विचार जैन दर्शन की बिल्कुल जुदी परिभाषा और सांप्रदायिक प्रणाली के कारण मानों किसी भी दर्शन के साथ साम्य न रखते हों ऐसा आपाततः भास होता है, तो भी बौद्ध और योग दर्शन का सूक्ष्मता से अभ्यास करने वाले को यह मालूम हुए बिना कभी नहीं रहता कि

---

१ प्रशस्तपाद, वायुनिरूपण पृ० ४८। २ ५ ३२-३५। ३ ५, ३७ और ४०। ४ प्रस्तुत परिचय पृ० १०, ११।

जैन चारित्र मीमासा का विपय चारित्र-प्रधान उक्त दो दर्शनों के साथ अधिक से अधिक और अद्भुत रीति से साम्य रखता है। यह साम्य भिन्न भिन्न शाखाओं मे विभाजित, जुदी जुदी परिभापाओं मे सगठित और उन उन शाखाओं मे न्यूनाधिक विकास प्राप्त परतु असल मे आर्य जाति के एक ही आचारदाय—आचार-विषयक उत्तराधिकार का भान कराता है।

चारित्र मीमासा की मुख्य बातें ग्यारह है। छठे अध्याय मे—१ आस्रव का स्वरूप, उसके भेद और किस किस प्रकार के आस्रवसेवन से कौन कौन कर्म बँधते है उसका वर्णन। सातवें अध्याय मे—२ व्रतका स्वरूप, व्रत लेने वाले अधिकारियों के भेद और व्रत की स्थिरता के मार्ग। ३ हिंसा आदि दोषों का स्वरूप। ४ व्रत मे सभवित दोष। ५ दान का स्वरूप और उसके तारतम्य के हेतु। आठवें अध्याय मे—६ कर्मबन्ध के मूल हेतु और कर्मबन्ध के भेद। नववें अध्याय में—७ सवर और उसके विविध उपाय तथा उसके भेद-प्रभेद। ८ निर्जरा और उसका उपाय। ९ जुदे जुदे अधिकार वाले साधक और उनकी मर्यादा का तारतम्य। दसवें अध्याय मे—१० केवल ज्ञान के हेतु और मोक्ष का स्वरूप। ११ मुक्ति प्राप्त करने वाले आत्मा की किसी रीति से कहाँ गति होती है उसका वर्णन।

तुलना—तत्त्वार्थ की चारित्रमीमासा प्रवचनसार के चारित्र वर्णन से जुदी पडती है, क्योंदि उसमें तत्त्वार्थ के सदृश आस्रव, सवर आदि तत्त्वों की चर्चा नहीं, उसमें तो केवल साधु की दशा का और वह भी दिगम्बर साधु के खास अनुकूल पडे ऐसा वर्णन है। पचास्तिकाय और समयसार मे तत्त्वार्थ के सदृश ही आस्रव, सवर, बध आदि तत्त्वों को लेकर चारित्र मीमासा की गई है, तो भी इन दो के बीच अन्तर है और वह यह कि तत्त्वार्थ के वर्णन में निश्चय की अपेक्षा व्यवहार का चित्र अधिक खींचा गया है, इसमें प्रत्येक तत्त्व से सबन्ध रखने वाली सभी

-बातें हैं और त्यागी गृहस्थ तथा साधु के सभी प्रकार के आचार तथा नियम वर्णित हैं जो जैनसंघ का सगठन सूचित करते हैं, जब कि पचास्तिकाय और समयसार में वैसा नहीं, उनमें तो आस्रव, सवर आदि तत्त्वों की निश्चयगामी तथा उपपत्ति-वाली चर्चा है, उनमें तत्त्वार्थ के सदृश जैन गृहस्थ तथा साधु के प्रचलित व्रत, नियम और आचारों आदि का वर्णन नहीं है।

योगदर्शन के साथ प्रस्तुत चारित्र मीमासा की तुलना को जितना अवकाश है उतना ही यह विषय रसप्रद है, परन्तु यह विस्तार एक स्वतन्त्र लेख का विषय होने से यहाँ उसको स्थान नहीं, तो भी अभ्यासियों का ध्यान खींचने के लिये उनकी स्वतन्त्र तुलना शक्ति पर विश्वास रख कर नीचे सक्षेप में तुलना करने योग्य सार बातों की एक सूची दी जाती है.—

तत्त्वार्थसूत्र	योगदर्शन
१ कायिक, वाचिक, मानसिक प्रवृत्ति रूप आस्रव (६, १)	१ कर्माशय (२, १२)
२ मानसिक आस्रव (८, १)	२ निरोध के विषय रूप से ली जानेवाली चित्तवृत्तियाँ (१,६)
३ सकषाय और अकषाय यह दो प्रकार का आस्रव (६, ५)	३ क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार का कर्माशय (२, १२)
४ सुख-दुःख-जनक शुभ, अशुभ आस्रव (६, ३–४)	४ सुख-दुःख-जनक पुण्य, अपुण्य कर्माशय (२, १४)
५ मिथ्यादर्शन आदि पाँच बन्ध के हेतु (८, १)	५ अविद्या आदि पाँच बन्धक क्लेश (२, ३)
६ पाँचों मे मिथ्यादर्शन की प्रधानता	६ पाँचों में अविद्या की प्रधानता (२, ४)

७ आत्मा और कर्म का विलक्षण सम्बन्ध सो बन्ध (८, २–३)	७ पुरुष और प्रकृति का विलक्षण सयोग सो बन्ध (२, १७)
८ बन्ध ही शुभ, अशुभ हेय विपाक का कारण है	८ पुरुष, प्रकृति का सयोग ही हेय दु:ख का हेतु है (२,१७)
९ अनादि बन्ध मिथ्यादर्शन के अधीन है	९ अनादि सयोग अविद्या के अधीन है (२, २४)
१० कर्मों के अनुभागबन्ध का आधार कषाय है (६, ५)	१० कर्मों के विपाकजनन का मूल क्लेश है (२, १३)
११ आस्रवनिरोध यह सवर (९,१)	११ चित्तवृत्तिनिरोध यह योग (१,२)
१२ गुप्ति, समिति आदि और विविध तप आदि ये सवर के उपाय (९, २–३)	१२ यम, नियम आदि और अभ्यास, वैराग्य आदि योग के उपाय (१, १२ से और २, २९ से)
१३ अहिसा आदि महाव्रत (७, १)	१३ अहिंसा आदि सार्वभौम यम (२, ३०)
१४ हिसा आदि वृत्तियों में ऐहिक, पारलौकिक दोषों का दर्शन करके उन वृत्तियों का रोकना (७, ४)	१४ प्रतिपक्ष भावना-द्वारा हिसा आदि वितर्कों को रोकना (२, ३३–३४)
१५ हिसा आदि दोषों मे दु:खपने की ही भावना करके उन्हें त्यागना (७, ५)	१५ विवेकी की दृष्टि में सपूर्ण कर्माशय दु:खरूप ही है (२, १५)
१६ मैत्री आदि चार भावनाएँ (७, ६)	१६ मैत्री आदि चार[1] भावनाएँ (१, ३३)

१ ये चार भावनाएँ बौद्ध परम्परा में 'ब्रह्मविहार' कहलाती हैं और उनके ऊपर बहुत जोर दिया गया है ।

१७ पृथक्त्ववितर्कसविचार और एकत्ववितर्कनिर्विचार आदि चार शुक्ल ध्यान (४, ४१-४६)	१७ सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार रूप चार[1] सम्प्रज्ञात समाधियाँ (१, १६ और ४१, ४४)
१८ निर्जरा और मोक्ष (६, ३ और १०, ३)	१८ आंशिकहान-बन्धोपरम और सर्वथा हान[2] (२, २५)
१९ ज्ञानसहित चारित्र ही निर्जरा और मोक्ष का हेतु (१, १)	१९ सांगयोगसहित विवेकख्याति ही हान का उपाय (२,२६)
२० जातिस्मरण, अवधिज्ञानादि दिव्य ज्ञान और चारण विद्यादि लब्धियाँ (१, १२ और १०, ७ का भाष्य)	२० संयमजनित वैसी ही विभूतियाँ[3] (२, ३९ और ३, १६ से आगे)
२१ केवल ज्ञान (१०, १)	२१ विवेकजन्य तारक ज्ञान (३,५४)
२२ शुभ, अशुभ, शुभाशुभ और न शुभ न अशुभ ऐसी कर्म की चतुर्भंगी।	२२ शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण और अशुक्लाकृष्ण ऐसी चतुष्पदी कर्मजाति (४, ७)।

इसके सिवाय, कितनी ही बातें ऐसी भी हैं कि जिनमें से एक बात के ऊपर एक दर्शन द्वारा तो दूसरी बात के ऊपर दूसरे दर्शनद्वारा जोर दिया गया होने से वह वह बात उस उस दर्शन के एक खास विषय के तौर पर अथवा एक विशेषता के रूप में प्रसिद्ध हो गई है। उदाहरण के तौर पर कर्म के सिद्धान्तों को लीजिये। बौद्ध और योगदर्शन[4] में कर्म

---

१ ये चार ध्यान के भेद बौद्धदर्शन में प्रसिद्ध हैं। २ इसे बौद्धदर्शन में 'निर्वाण' कहते हैं, जो तीसरा आर्यसत्य है। ३ बौद्धदर्शन में इनके स्थान में पाँच अभिज्ञाएँ हैं। देखो, धर्मसंग्रह पृ० ४ और अभिधम्मत्थसंगहो परिच्छेद ९ पैरा २४। ४ देखो, २. ३-१४।

के मूल सिद्धान्त तो हैं ही। योगदर्शन में तो इन सिद्धान्तों का तफसील-वार वर्णन भी है, तो भी इन सिद्धान्तों के विषय का जैन दर्शन मे एक विस्तृत और गहरा शास्त्र बन गया है, जैसा कि दूसरे किसी भी दर्शन में नहीं दिखाई देता। इसी से चारित्रमीमासा में, कर्म के सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए, जैनसम्मत सम्पूर्ण कर्मशास्त्र[1] वाचक उमास्वाति ने सक्षेप में ही समाविष्ट कर दिया है। उसी प्रकार तात्त्विक दृष्टि से चारित्र की मीमासा जैन, बौद्ध और योग तीनों दर्शनों मे समान होते हुए भी कुछ कारणों से व्यवहार में अतर पडा हुआ नजर पड़ता है, और यह अतर ही उस उस दर्शन के अनुगामियों की विशेषता रूप हो गया है। क्लेश और कषाय का त्याग यही सभी के मत में चारित्र है, उसको सिद्ध करने के अनेक उपायों मे से कोई एक के ऊपर तो दूसरा दूसरे के ऊपर अधिक जोर देता है। जैन आचार के संगठन मे देहदमन[2] की प्रधानता दिखाई देती है, बौद्ध आचार के सगठन में देहदमन की जगह ध्यान पर जोर दिया गया है और योगदर्शनानुसारी परिव्राजकों के आचार के सगठन मे प्राणायाम, शौच आदि के ऊपर अधिक जोर दिया गया है। यदि मुख्य चारित्र की सिद्धि में ही देहदमन, ध्यान तथा प्राणायाम आदि का बराबर उपयोग होवे तब तो इनमें से प्रत्येक का समान ही महत्त्व है; परन्तु जब ये बाह्य अग मात्र व्यवहार की लीक जैसे बन जाते हैं और उनमें से मुख्य चारित्र की सिद्धि की आत्मा उड़ जाती है तभी इनमें विरोध की दुर्गंध आती है, और एक सप्रदाय का अनुगामी दूसरे सप्रदाय के आचार की निरर्थकता बतलाता है। बौद्ध साहित्य मे और बौद्ध अनुगामी वर्ग में जैनों के देहदमन की प्रधानता वाले तप[3] की निन्दा दिखाई पड़ती है, जैन साहित्य और जैन अनुगामी वर्ग में बौद्धों के

---

१ तत्त्वार्थ ६. ११-२६ और ८ ४-२६। २ तत्त्वार्थ ६. ६। "देहदुक्खं महाफलं"—दशवैकालिक अ० ८ उ० २। ३ मज्झिमनिकाय सूत्र १४।

सुखशील वर्तन और ध्यान का तथा परिव्राजकों के प्राणायाम और शौच का परिहास [1] दिखाई देता है। ऐसा होने से उस उस दर्शन की चारित्र-मीमासा के ग्रथों में व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाला वर्णन विशेष भिन्न दिखलाई पडे तो वह स्वाभाविक है। इसी से तत्त्वार्थ की चारित्रमीमांसा में हम प्राणायाम या शौच के ऊपर एक भी सूत्र नहीं देखते, तथा ध्यान का उसमें पुष्कल वर्णन होते हुए भी उसको सिद्ध करने के लिये बौद्ध या योग दर्शन मे वर्णन किये गए हैं, वैसे व्यावहारिक उपाय हम नहीं देखते। इसी तरह तत्त्वार्थ में जो परीषहों और तप का विस्तृत तथा व्यापक वर्णन है वैसा हम योग या बौद्ध की चारित्रमीमासा मे नहीं देखते।

इसके सिवाय, चारित्र मीमांसा के सम्बन्ध मे एक बात खास लक्ष्य मे रखने जैसी है और वह यह कि उक्त तीनों दर्शनों मे ज्ञान और चारित्र-क्रिया दोनों को स्थान होते हुए भी जैन दर्शन मे चारित्र को ही मोक्ष का साक्षात् कारण रूप से स्वीकार कर के ज्ञान को उसका अग-रूप से स्वीकार किया गया है, जब कि बौद्ध और योग दर्शन में ज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मान कर ज्ञान के अग रूप से चारित्र को स्थान दिया गया है। यह वस्तु उक्त तीनों दर्शनों के साहित्य का और उनके अनुयायी वर्ग के जीवन का बारीकी से अभ्यास करने वाले को मालूम हुए बिना नहीं रहती, ऐसा होने से तत्त्वार्थ की चारित्र मीमासा में चारित्रलक्षी क्रियाओं का और उनके भेद-प्रभेदों का अधिक वर्णन होवे तो यह स्वाभाविक ही है।

तुलना को पूरा करने से पहले चारित्र मीमासा के अन्तिम साध्य मोक्ष के स्वरूप सबध मे उक्त दर्शनों की क्या और कैसी कल्पना है यह भी जान लेना आवश्यक है। दु ख के त्याग में से ही मोक्ष की कल्पना

---

१ सूत्रकृतांग अ० ३ उ० ४ गा० ६ की टीका तथा अ० ७ गा० १४ से आगे।

उत्पन्न हुई होने से सभी दर्शन दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्ष मानते हैं। न्याय[1], वैशेषिक[2], योग और बौद्ध ये चारों ऐसा मानते हैं कि दुःख के नाश के अतिरिक्त मोक्ष में दूसरी कोई भावात्मक वस्तु नहीं है, इससे उनके मत में मोक्ष में यदि सुख हो तो वह कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं, बल्कि उस दुःख के अभाव में ही पर्यवसित है, जब कि जैनदर्शन वेदान्त के सदृश ऐसा मानता है कि मोक्ष अवस्था मात्र दुःख निवृत्ति नहीं, बल्कि इसमें विषय निरपेक्ष स्वाभाविक सुख जैसी स्वतन्त्र वस्तु भी है, मात्र सुख ही नहीं बल्कि उसके अतिरिक्त ज्ञान जैसे दूसरे स्वाभाविक गुणों का आविर्भाव जैनदर्शन इस अवस्था में स्वीकार करता है, जब कि दूसरे दर्शनों की प्रक्रिया ऐसा स्वीकार करने से इनकार करती है। मोक्ष के स्थान-सबंध में जैन दर्शन का मत सब से निराला है। बौद्ध दर्शन मे तो स्वतन्त्र आत्मतत्त्वका स्पष्ट स्थान न होने से मोक्ष के स्थान सबंध मे उसमें से किसी भी विचार-प्राप्ति की आशा को स्थान नहीं है, प्राचीन सभी वैदिक दर्शन आत्मविभुत्व-वादी होने से उनके मत में मोक्ष का स्थान कोई पृथक् हो ऐसी कल्पना ही नहीं हो सकती, परतु जैनदर्शन स्वतंत्र आत्मतत्त्व-वादी है और ऐसा होते हुए भी आत्मविभुत्व-वादी नहीं, इससे उसको मोक्ष का स्थान कहाँ है इसका विचार करना पडता है और यह विचार उसने दरसाया भी है, तत्त्वार्थ के अन्त में वाचक उमास्वाति कहते हैं कि "मुक्त हुए जीव हरएक प्रकार के शरीर से छूटकर ऊर्ध्वगामी होकर अन्त में लोक के अग्रभाग में स्थिर होते हैं और वहीं ही हमेशा के लिये रहते हैं।"

४. तत्त्वार्थ की व्याख्याएँ

अपने ऊपर रची गई साम्प्रदायिक व्याख्याओं के विषय में 'तत्त्वार्थाधिगम' सूत्र की तुलना 'ब्रह्मसूत्र' के साथ हो सकती है। जिस प्रकार बहुत

---

१ देखो, १. १. २२। २ देखो, ५. २. १८।

से विषयों में परस्पर बिलकुल भिन्न मत रखने वाले अनेक आचार्यों ने[1] ब्रह्मसूत्र पर व्याख्याएँ लिखी है और उसमें से ही अपने वक्तव्य को उपनिषदों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उसी प्रकार दिगम्बर, श्वेताम्बर इन दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों ने तत्त्वार्थ पर व्याख्याएँ लिखी हैं और इसमें से ही अपने परस्पर विरोधी मन्तव्यों को भी आगम के आधार पर फलित करने का प्रयत्न किया है। इस पर से सामान्य बात इतनी ही सिद्ध होती है कि जैसे ब्रह्मसूत्र की वेदान्त साहित्य में प्रतिष्ठा होने के कारण भिन्न भिन्न मत रखनेवाले प्रतिभाशाली आचार्यों ने उस ब्रह्मसूत्र का आश्रय लेकर उसके द्वारा ही अपने विशिष्ट वक्तव्य को दरसाने की आवश्यकता अनुभव की वैसे ही जैन वाङ्मय में जमी हुई तत्त्वार्थाधिगम की प्रतिष्ठा के कारण ही उसका आश्रय लेकर दोनों सम्प्रदायों के विद्वानों को अपने अपने मन्तव्यों को प्रकट करने की जरूरत मालूम हुई है। इतना स्थूल साम्य होते हुए भी ब्रह्मसूत्र और तत्त्वार्थ की साम्प्रदायिक व्याख्याओं में एक खास महत्त्व का भेद है और वह यह कि जगत्, जीव, ईश्वर आदि जैसे तत्त्वज्ञान के मौलिक विषयों में ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार एक दूसरे से बहुत ही भिन्न पड़ते हैं और बहुत बार तो उनके विचारों में पूर्व-पश्चिम जितना अंतर दिखलाई देता है; तब दिगम्बर, श्वेताम्बर संप्रदाय का अनुसरण करनेवाले तत्त्वार्थ के व्याख्याकारों में वैसा नहीं है। उनके बीच में तत्त्वज्ञान के मौलिक विषयों पर कुछ भी भेद नहीं है और जो कुछ थोड़ा बहुत भेद है भी वह बिलकुल साधारण जैसी बातों में है और वह भी ऐसा नहीं कि जिसमें समन्वय को अवकाश ही न हो अथवा वह पूर्व-पश्चिम-जितना अंतर हो। वस्तुतः तो जैनतत्त्वज्ञान के मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में दिगम्बर, श्वेताम्बर सम्प्रदायों में खास मतभेद पड़ा ही नहीं,

---

१ शंकर, निम्बार्क, मध्व, रामानुज, वल्लभ, आदि ने।

इससे उनकी तत्त्वार्थव्याख्याओं में दिखाई देनेवाला मतभेद बहुत गम्भीर नहीं गिना जाता।

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के ही ऊपर लिखी हुई प्राचीन, अर्वाचीन, छोटी, बड़ी, सस्कृत तथा लौकिक भाषामय अनेक व्याख्याएँ हैं; परन्तु उनमें से जिनका ऐतिहासिक महत्त्व हो, जिन्होंने जैनतत्त्वज्ञान को व्यवस्थित करने में तथा विकसित करने में प्रधान भाग लिया हो और जिनका खास दार्शनिक महत्त्व हो ऐसी चार ही व्याख्याएँ इस समय मौजूद हैं। उनमें से तीन तो दिगंबर सम्प्रदाय की हैं, जो मात्र साम्प्रदायिक भेद की ही नहीं बल्कि विरोध की तीव्रता होने के बाद प्रसिद्ध दिगम्बर विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं, और एक खुद सूत्रकार वाचक उमास्वाति की स्वोपज्ञ ही है। साम्प्रदायिक विरोध के जम जाने के बाद किसी भी श्वेताम्बर आचार्य के द्वारा सिर्फ मूल सूत्रों पर लिखी हुई दूसरी वैसी महत्त्व की व्याख्या अभी तक जानने में नहीं आई। इससे इन चार व्याख्याओं के विषय में ही प्रथम यहाँ पर कुछ चर्चा करना उचित जान पड़ता है।

(क) *भाष्य और सर्वार्थसिद्धि*

'भाष्य' और 'सर्वार्थसिद्धि' इन दोनों टीकाओं के विषय में कुछ विचार करने के पहले इन दोनों के सूत्रपाठों के विषय में विचार करना ज़रूरी है। यथार्थ में एक ही होते हुए भी पीछे से साम्प्रदायिक भेद के कारण सूत्रपाठ दो हो गये हैं, जिनमें एक श्वेताम्बरीय और दूसरा दिगम्बरीय तौर पर प्रसिद्ध है। श्वेताम्बरीय माने जानेवाले सूत्रपाठ का स्वरूप भाष्य के साथ ठीक बैठता होने से, उसे 'भाष्यमान्य' कह सकते हैं, और दिगम्बरीय माने जानेवाले सूत्रपाठ का स्वरूप सर्वार्थसिद्धि के साथ ठीक बैठता होने से उसे 'सर्वार्थसिद्धिमान्य' कह सकते हैं। सभी श्वेताम्बरीय आचार्य भाष्यमान्य सूत्रपाठ का ही अनुसरण करते हैं, और सभी दिगम्बरीय आचार्य सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठ का अनु-

सरण करते हैं। सूत्रपाठ के संबन्ध में नीचे की चार बातें यहाँ जाननी जरूरी हैं—१ सूत्रसंख्या, २. अर्थभेद, ३. पाठान्तर विषयक भेद, ४. असलीपना।

१ सूत्रसंख्या—भाष्यमान्य सूत्रपाठ की संख्या ३४४ और सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ की संख्या ३५७ है।

२ अर्थभेद—सूत्रों की संख्या और कहीं कहीं शाब्दिक रचना में फेर होते हुए भी मात्र मूलसूत्रों पर से ही अर्थ में महत्त्वपूर्ण फेरफार दिखाई दे ऐसे तीन स्थल हैं, बाकी सब मूलसूत्रों पर से खास अर्थ में फेर नहीं पडता। इन तीन स्थलों में स्वर्ग की बारह और सोलह संख्या विषयक पहला (४. १६), काल का स्वतन्त्र अस्तित्व-नास्तित्व विषयक दूसरा (५. ३८) और तीसरा स्थल पुण्य प्रकृतियों में हास्य आदि चार प्रकृतियों के होने न होने का (८. २६)।

३ पाठान्तर विषयक भेद—दोनों सूत्रपाठों के पारस्परिक भेद के अतिरिक्त फिर इस प्रत्येक सूत्रपाठ में भी भेद आता है। सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठ में ऐसा भेद खास नहीं है, एकाध स्थल पर सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता ने जो पाठान्तर निर्दिष्ट किया है[1] उसको यदि अलग कर दिया जाय तो सामान्य तौर पर यही कहा जा सकता है कि सभी ही दिगम्बरीय टीकाकार सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठ में कुछ भी पाठ भेद सूचित नहीं करते। इससे ऐसा कहना चाहिये कि पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि रचते समय जो सूत्रपाठ प्राप्त किया तथा सुधारा बढ़ाया उसी को निर्विवाद रूप से पीछे के सभी दिगम्बरीय टीकाकारों ने मान्य रक्खा। जब कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ के विषय में ऐसा नहीं, यह सूत्रपाठ श्वेताम्बरीय तौर पर एक होने पर भी उसमें कितने ही स्थानों पर भाष्य के वाक्य सूत्र रूप में दाखिल हो जाने का, कितने ही स्थानों पर सूत्र रूप न माने जानेवाले वाक्यों का भाष्यरूप में भी गिने जाने का, कहीं कहीं असल

१ देखो, २. ५३।

के एक ही सूत्र के दो भागों मे बँट जाने का और कहीं असल के दो सूत्र मिल कर वर्तमान में एक ही सूत्र हो जाने का सूचन भाष्य की लभ्य दोनों टीकाओं में सूत्रों की पाठान्तर विषयक चर्चा पर से स्पष्ट होता है[1]।

४ असलीपना—उक्त दोनों सूत्रपाठों में असली कौन और फेर-फार-प्राप्त कौन ? यह प्रश्न सहज उत्पन्न होता है, इस वक्त तक के किये हुए विचार पर से मुझे निश्चय हुआ है कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ ही असली है अथवा वह सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठ की अपेक्षा असली सूत्रपाठ के बहुत ही निकट है।

सूत्रपाठ-विषय में इतनी चर्चा करने के पश्चात् अब उनके ऊपर सर्व प्रथम रचे हुए भाष्य तथा सर्वार्थसिद्धि इन दो टीकाओं के विषय में कुछ विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। भाष्यमान्य सूत्रपाठ का असलीपना अथवा असली पाठ के विशेष निकट होना तथा पूर्व कथनानुसार भाष्य का वा० उमास्वाति कर्तृकत्व दिगम्बर परपरा कभी भी स्वीकार नहीं कर सकती, यह स्पष्ट है, क्योंकि दिगम्बर परपरामान्य सभी तत्त्वार्थ पर की टीकाओं का मूल आधार सर्वार्थसिद्धि और उसका मान्य सूत्रपाठ ही है। इससे भाष्य या भाष्यमान्य सूत्र पाठ को ही उमास्वाति कर्तृक मानते हुए उनके माने हुये सूत्रपाठ और टीका ग्रथों का प्रामाण्य पूरा पूरा नहीं रहता। इससे किसी भी स्थल पर लिखित प्रमाण न होते हुए भी दिगम्बर परपरा का भाष्य और भाष्यमान्य सूत्र-पाठ के विषय में क्या कहना हो सकता है उसे साम्प्रदायिकत्वका हर एक अभ्यासी कल्पना कर सकता है। दिगम्बर परम्परा सर्वार्थसिद्धि और उसके मान्य सूत्रपाठ को प्रमाणसर्वस्व मानती है और ऐसा मान कर यह स्पष्ट सूचित करती है कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है और उसका मान्य सूत्रपाठ भी असली नहीं। ऐसा होने से भाष्य और सर्वार्थसिद्धि दोनों

१ देखो, २. १९। २. ३७। ३. ११। ५. २–३। ७. ३ और ५ इत्यादि।

का प्रामाण्य-विषयक बलाबल जाँचने के बिना प्रस्तुत परिचय अधूरा ही रहता है। भाष्य की स्वोपज्ञता के विषय में कोई सन्देह न होते हुए भी थोडी देर दलील के लिये यदि ऐसा मान लिया जाय कि यह स्वोपज्ञ नही तो भी इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भाष्य सर्वार्थ-सिद्धि की अपेक्षा प्राचीन तथा तत्त्वार्थ सूत्र पर की पहली ही टीका है, क्योंकि वह सर्वार्थसिद्धि जैसी साम्प्रदायिक नहीं। इस तत्त्व को समझने के लिये यहाँ तीन बातों की पर्यालोचना की जाती है—(क) शैली भेद (ख) अर्थ विकास और (ग) साम्प्रदायिकता।

(क) *शैली भेद*—किसी भी एक ही सूत्र पर के भाष्य और उसकी सर्वार्थसिद्धि सामने रख कर तुलना की दृष्टि से देखनेवाले अभ्यासी को ऐसा मालूम पडे बिना कभी नहीं रहता कि सर्वार्थसिद्धि से भाष्य की शैली प्राचीन है तथा पद पद पर सर्वार्थसिद्धि मे भाष्य का प्रतिबिम्ब है। इन दोनो टीकाओं से भिन्न और दोनों से प्राचीन ऐसी तीसरी कोई टीका तत्त्वार्थ सूत्र पर होने का यथेष्ट प्रमाण जब तक न मिले तब तक भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की तुलना करनेवाले ऐसा कहे बिना कभी नहीं रहेंगे कि भाष्य को सामने रख कर सर्वार्थसिद्धि की रचना की गई है। भाष्य की शैली प्रसन्न और गभीर होने हुए भी दार्शनिकत्व की दृष्टि से सर्वार्थसिद्धि की शैली भाष्यकी शैली की अपेक्षा विशेष विकसित और विशेष परिशीलित है ऐसा नि.सन्देह जान पड़ता है। संस्कृत भाषा के लेखन और जैन साहित्य मे दार्शनिक शैली के जिस विकास के पश्चात् सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है वह विकास भाष्य मे दिखाई नहीं देता, ऐसा होने पर भी इन दोनो की भाषा में जो बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है वह स्पष्ट सूचित करता है कि दोनों मे भाष्य ही प्राचीन है।

उदाहरण के तौर पर पहले अध्याय के पहले सूत्र के भाष्य मे सम्यक् शब्द के विषय में लिखा है कि 'सम्यक्' निपात है अथवा 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'अञ्च' धातु का रूप है, इसी विषय में सर्वार्थसिद्धिकार लिखते हैं

कि 'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न अर्थात् व्युत्पत्ति-रहित अखंड है अथवा व्युत्पन्न है—धातु और प्रत्यय दोनों मिलकर व्युत्पत्तिपूर्वक सिद्ध हुआ है। 'अञ्च' धातु को 'क्विप्' प्रत्यय लगाया जाय तब 'सम्+अञ्चति' इस रीति से 'सम्यक्' शब्द बनता है। 'सम्यक्' शब्द विषयक निरूपण की उक्त दो शैलियों में भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि की स्पष्टता विशेष है। इसी प्रकार भाष्य में 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे सिर्फ इतना ही लिखा है कि 'दर्शन' 'दृशि' धातु का रूप है, जब कि सर्वार्थ-सिद्धि में 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से स्पष्ट बतलाई गई है। भाष्य में 'ज्ञान' और 'चारित्र' शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट बतलाई नहीं है; जब कि सर्वार्थसिद्धि मे इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति तीन प्रकार से स्पष्ट बतलाई है और बाद में उसका जैनदृष्टि से समर्थन किया गया है। इसी तरह से समास में दर्शन और ज्ञान शब्दों में से पहले कौन आवे और पीछे कौन आवे यह सामासिक चर्चा भाष्य में नहीं, जब कि सर्वार्थसिद्धि में वह स्पष्ट है। इसी तरह पहले अध्याय के दूसरे सूत्र के भाष्य में 'तत्त्व' शब्द के सिर्फ दो अर्थ सूचित किये गये हैं; जब कि सर्वार्थसिद्धि में इन दोनों अर्थों की उपपत्ति की गई है और 'दृशि' धातु का श्रद्धा अर्थ कैसे लेना, यह बात भी दरसाई गई है, जो भाष्य में नहीं है।

(ख) *अर्थविकास*[1]—अर्थ की दृष्टि से देखें तो भी भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि अर्वाचीन है ऐसा ही मालूम पड़ता है। जो एक बात भाष्य में होती है उसको विस्तृत करके—उसके ऊपर अधिक चर्चा करके—सर्वार्थसिद्धि में निरूपण किया गया है। व्याकरणशास्त्र और जैनेतर दर्शनों की जितनी चर्चा सर्वार्थसिद्धि मे है उतनी भाष्य में नहीं। जैन परिभाषा का, संक्षिप्त होते हुए भी, जो स्थिर विशदीकरण और वक्तव्य का जो पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि में है वह भाष्य में कम से कम है।

१ उदाहरण के तौर पर तुलना करो १. २; १. १२; १. ३२ और २. १ इत्यादि सूत्रों का भाष्य और सर्वार्थसिद्धि।

भाष्य की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि की तार्किकता बढ़ जाती है, और भाष्य में नहीं ऐसे विज्ञानवादी बौद्ध आदिकों के मन्तव्य उसमें जोडे जाते हैं और दर्शनान्तर का खंडन जोर पकड़ता है। ये सब बातें सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा भाष्य की प्राचीनता को सिद्ध करती हैं।

(ग) साम्प्रदायिकता[1]—उक्त दो बातों की अपेक्षा साम्प्रदायिकता की बात अधिक महत्त्व की है। कालतत्त्व, केवलिकवलाहार, अचेलकत्व और स्त्रीमोक्ष जैसे विषयों के तीव्र मतभेद का रूप धारण करने के बाद और इन बातों पर साम्प्रदायिक आग्रह बँध जाने के बाद ही सर्वार्थसिद्धि लिखी गई है, जब कि भाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का यह तत्त्व दिखाई नहीं देता। जिन जिन बातों में रूढ श्वेताम्बर साम्प्रदाय के साथ मे दिगम्बर सम्प्रदाय का विरोध है उन सभी बातों को सर्वार्थसिद्धि के प्रणेता ने सूत्रों में फेरफार करके या उनके अर्थ में खींचतान करके या असंगत अध्याहार आदि करके चाहे जिस रीति से दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुकूल पड़े उस प्रकार सूत्रों में से उत्पन्न करके निकालने का साम्प्रदायिक प्रयत्न किया है, वैसा प्रयत्न भाष्य में कहीं दिखाई नहीं देता; इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि सर्वार्थसिद्धि साम्प्रदायिक विरोध का वातावरण जम जाने के बाद पीछे से लिखी गई है और भाष्य इस विरोध के वातावरण से मुक्त है।

तब यहाँ प्रश्न होता है कि यदि इस प्रकार भाष्य प्राचीन हो तो उसे दिगम्बर परम्परा ने छोडा क्यों? इसका उत्तर यही है कि सर्वार्थसिद्धि के कर्त्ता को जिन बातों मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यताओं का जो खडन करना था उनका वह खडन भाष्य में नहीं था, इतना ही नहीं किन्तु भाष्य अधिकाश मे रूढ दिगम्बर परम्परा का पोषक हो सके ऐसा भी नहीं था, और बहुत से स्थानों पर तो वह उलटा दिगम्बर परम्परा से

---

[1] देखो, ५. ३९; ६ १३; ८. १; ९ ९; ९. ११; १०. ९ इत्यादि सूत्रों को सर्वार्थसिद्धि के साथ उन्हीं सूत्रों का भाष्य।

बहुत विरुद्ध जाता था [1]। इससे पूज्यपाद ने भाष्य को एक तरफ रख सूत्रों पर स्वतन्त्र टीका लिखी और ऐसा करते हुए सूत्रपाठ मे इष्ट सुधार तथा वृद्धि की [2] और उसकी व्याख्या में जहाँ मतभेद वाली बात आई वहाँ स्पष्ट रीति से दिगम्बर मन्तव्यों का ही स्थापन किया, ऐसा करने में पूज्यपाद को कुन्दकुन्द के ग्रन्थ मुख्य आधारभूत हुए जान पडते हैं। ऐसा होने से दिगम्बर परपरा ने सर्वार्थसिद्धि को मुख्य प्रमाण रूप से स्वीकार कर लिया और भाष्य स्वाभाविक रीति से ही श्वेताम्बर परपरा में मान्य रह गया। भाष्य पर किसी भी दिगम्बर आचार्य ने टीका नहीं लिखी, इससे वह दिगम्बर परम्परा से दूर ही रह गया, और श्वेताम्बरीय अनेक आचार्यों ने भाष्य पर टीकाएँ लिखी हैं और कहीं कहीं पर भाष्य के मन्तव्यों का विरोध किये जाने पर भी समष्टिरूप से उसका प्रामाण्य ही स्वीकार किया है इसी से वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि भाष्य के प्रति दिगम्बरीय परपरा की जो आज कल मनोवृत्ति देखी जाती है यह पुराने दिगम्बराचार्यों में नहीं थी। क्योंकि अकलक जैसे प्रमुख दिगम्बराचार्य भी यथा सभव भाष्य के साथ अपने कथन की सगति दिखाने का प्रयत्न करके भाष्य के विशिष्ट प्रामाण्य का सूचन करते हैं (देखो राजवार्तिक ५. ४. ८.) और कहीं भी भाष्य का नामोल्लेख पूर्वक खण्डन नहीं करते या अप्रामाण्य नहीं दिखाते।

---

१ ९. ७ तथा २४ के भाष्य में वस्त्र का उल्लेख है। तथा १० ७ के भाष्य में 'तीर्थंकरीतीर्थ' का उल्लेख है।

२ जहां जहां अर्थ की खींचतान की है अथवा पुलाक आदि जैसे स्थलों पर ठीक बैठता विवरण नहीं हो सका उन सूत्रों को क्यों न निकाल डाला? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रपाठ की अतिप्रसिद्धि और निकाल डालने पर अप्रामाण्य का आक्षेप आने का डर था ऐसा जान पड़ता है।

(ख) दो वार्त्तिक

ग्रन्थो का नामकरण भी आकस्मिक नहीं होता, खोज की जाय तो उसका भी विशिष्ट इतिहास है। पूर्वकालीन और समकालीन विद्वानों की भावना में से तथा साहित्य के नामकरणप्रवाह में से प्रेरणा पाकर ही ग्रन्थकार अपनी कृतियों का नामकरण करते है। व्याकरण पर पातजल के महाभाष्य की प्रतिष्ठा का असर पिछले अनेक ग्रन्थोंकारों पर हुआ, यह बात हम उनकी कृतियों के भाष्य नाम से जान सकते हैं। इसी असर ने वा० उमास्वाति को भाष्य नामकरण करने के लिये प्रेरित किया हो, ऐसा सम्भव है। बौद्ध साहित्य में एक ग्रन्थ का नाम 'सर्वार्थसिद्धि' होने का स्मरण है, जिसका और प्रस्तुत सर्वार्थसिद्धि के नाम का पौर्वापर्य सम्बन्ध अज्ञात है, परन्तु वार्तिकों के विषय में इतना निश्चित है कि एक बार भारतीय वाङ्मय में वार्तिक युग आया और भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में भिन्न भिन्न विषयों के ऊपर वार्तिक नाम के अनेक ग्रन्थ लिखे गये। उसी का असर तत्त्वार्थ के प्रस्तुत वार्त्तिको के नामकरण पर है। अकलङ्क ने अपनी टीका का नाम 'तत्त्वार्थवार्त्तिक' रक्खा है, जो राजवार्तिक नाम से प्रसिद्ध है। विद्यानन्द का 'श्लोकवार्त्तिक' नाम कुमारिल के 'श्लोकवार्त्तिक' नाम के असर का आभारी है। इसमें कुछ भी शङ्का नहीं।

तत्त्वार्थसूत्र पर अकलङ्क ने जो 'राजवार्त्तिक' लिखा है और विद्यानन्द ने जो 'श्लोकवार्त्तिक' लिखा है, उन दोनों का मूल आधार सर्वार्थसिद्धि ही है। यदि अकलङ्क को सर्वार्थसिद्धि न मिली होती तो राजवार्तिक का वर्तमान स्वरूप ऐसा विशिष्ट नहीं होता, और यदि राजवार्त्तिक का आश्रय न होता तो विद्यानन्द के श्लोकवार्त्तिक में जो विशिष्टता दिखलाई देती है वह भी न होती, यह निश्चित है। राजवार्तिक

और श्लोकवार्त्तिक ये दोनों साक्षात्-परम्परा से सर्वार्थसिद्धि के ऋणी होने पर भी इन दोनों मे सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा विशेप विकास हुआ है। उद्योतकरके 'न्यायवार्त्तिक' की तरह 'तत्त्वार्थवार्त्तिक' गद्य मे है, जब कि 'श्लोकवार्त्तिक' कुमारिल के 'श्लोकवार्त्तिक' तथा धर्मकीर्ति के 'प्रमाण-वार्त्तिक' तथा सक्षेपशारीरकवार्तिक की तरह पद्य मे है। कुमारिल की अपेक्षा विद्यानन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने स्वय ही अपने पद्यवार्त्तिक की टीका भी लिखी है। राजवार्तिक मे लगभग समस्त सर्वार्थसिद्धि आ जाती है फिर भी उसमे नवीनता और प्रतिभा इतनी अधिक है कि सर्वार्थ-सिद्धि को साथ रख कर राजवार्त्तिक को बाँचते हुए उसमें कुछ भी पौन-रुक्त्य दिखाई नहीं देता। लक्षणनिष्णात पूज्यपाद के सर्वार्थसिद्धिगत सभी विशेष वाक्यो को अकलङ्क ने पृथक्करण और वर्गीकरण पूर्वक वार्त्तिकों में परिवर्तित कर डाला है और अपने को वृद्धि करने योग्य दिखाई देने वाली बातों तथा वैसे प्रश्नों के विषय में नवीन वार्त्तिक भी रचे है। और सब गद्य वार्तिकों पर स्वय ही स्फुट विवरण लिखा है। इससे समष्टिरूप से देखते हुए, 'राजवार्त्तिक' सर्वार्थसिद्धि का विवरण होने पर भी वस्तुतः एक स्वतन्त्र ही ग्रन्थ है। सर्वार्थसिद्धि मे जो दार्श-निक अभ्यास नजर पड़ता है उसकी अपेक्षा राजवार्त्तिक का दार्शनिक अभ्यास बहुत ही ऊँचा चढ जाता है। राजवार्त्तिक का एक ध्रुव मन्त्र यह है कि उसे जिस बात पर जो कुछ कहना होता है उसे वह 'अने-कान्त' का आश्रय लेकर ही कहता है। 'अनेकान्त' राजवार्तिक की प्रत्येक चर्चा की चाबी है। अपने समय पर्यन्त भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों ने 'अनेकान्त' पर जो आक्षेप किये और अनेकान्तवाद की जो त्रुटियाँ बतलाई उन सब का निरसन करने और अनेकान्त का वास्तविक स्वरूप बतलाने के लिये ही अकलक ने प्रतिष्ठित तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर सिद्धलक्षण वाली सर्वार्थसिद्धि का आश्रय लेकर अपने राज-वार्त्तिक की भव्य इमारत खड़ी की है। सर्वार्थसिद्धि में जो आगमिक-

विषयों का अति विस्तार है उसे राजवार्त्तिककार ने घटा कर कम कर दिया है[1] और दार्शनिक विषयों को ही प्राधान्य दिया है।

दक्षिण हिन्दुस्तान में निवास करते विद्यानन्द ने देखा कि पूर्वकालीन और समकालीन अनेक जैनेतर विद्वानों ने जैनदर्शन पर जो हमले किये हैं उनका उत्तर देना बहुत कुछ बाकी है, और खास कर मीमांसक कुमारिल आदि द्वारा किये गये जैनदर्शन के खंडन का उत्तर दिये बिना उनसे किसी तरह भी रहा नहीं जा सका, तभी उन्होंने श्लोकवार्त्तिक की रचना की। हम देखते हैं कि इन्होंने अपना यह उद्देश्य सिद्ध किया है। तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक में जितना और जैसा सबल मीमांसक दर्शन का खंडन है वैसा तत्त्वार्थसूत्र की दूसरी किसी भी टीका में नहीं। तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक में सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्त्तिक में चर्चित हुए कोई भी मुख्य विषय छूटे नहीं, उलटा बहुत से स्थानों पर तो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ जाती है। कितनी ही बातों की चर्चा तो श्लोकवार्तिक में बिल्कुल अपूर्व ही है। राजवार्तिक में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक में इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। समग्र जैन वाङ्मय में जो थोड़ी बहुत कृतियाँ महत्त्व रखती हैं उनमें की दो कृतियाँ 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' भी हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध श्वेताम्बरीय साहित्य में से एक भी ग्रंथ राजवार्त्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना कर सके ऐसा दिखलाई नहीं देता। भाष्य में दिखलाई देने वाला साधारण दार्शनिक अभ्यास सर्वार्थसिद्धि में कुछ गहरा बन जाता है और राजवार्तिक में वह विशेष गाढ़ा होकर अंत में श्लोकवार्तिक में खूब जम जाता है। राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक के इतिहासज्ञ अभ्यासी को ऐसा मालूम ही पडेगा कि दक्षिण हिन्दुस्तान में जो दार्शनिक विद्या और स्पर्धा का समय आया और अनेक-

१ तुलना करो १. ७-८ की सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्त्तिक।

मुख पांडित्य विकसित हुआ उसी का प्रतिबिम्ब इन दो ग्रथों में है। प्रस्तुत दोनों वार्तिक जैन दर्शन का प्रामाणिक अभ्यास करने के पर्याप्त साधन हैं, परन्तु इनमें से 'राजवार्तिक' गद्य, सरल और विस्तृत होने से तत्त्वार्थ के सपूर्ण टीका ग्रथों की गरज अकेला ही पूरी करता है। ये दो वार्त्तिक यदि नहीं होते तो दसवीं शताब्दी तक के दिगम्बरीय साहित्य मे जो विशिष्टता आई है और इसकी जो प्रतिष्ठा बँधी है वह निश्चय से अधूरी ही रहती। ये दो वार्तिक साम्प्रदायिक होने पर भी अनेक दृष्टियो से भारतीय दार्शनिक साहित्य मे विशिष्ट स्थान प्राप्त करें ऐसी योग्यता रखते हैं। इनका अवलोकन बौद्ध और वैदिक परपरा के अनेक विषयों पर तथा अनेक ग्रन्थों पर ऐतिहासिक प्रकाश डालता है।

(ग) दो वृत्तियाँ

मूल सूत्र पर रची गई व्याख्याओं का सक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के बाद अब व्याख्या पर रची हुई व्याख्याओं का परिचय प्राप्त करने का अवसर आता है। ऐसी दो व्याख्याएँ इस समय पूरी पूरी उपलब्ध है, जो दोनों ही श्वेताम्बरीय हैं। इन दोनों का मुख्य साम्य सक्षेप मे इतना ही है कि ये दोनों व्याख्याएँ उमास्वाति के स्वोपज्ञ भाष्य को शब्दश. स्पर्श करती हैं और उसका विवरण करती हैं। भाष्य का विवरण करते समय भाष्य का आश्रय लेकर सर्वत्र आगमिक वस्तु का ही प्रतिपादन करना और जहाँ भाष्य आगम से विरुद्ध जाता दिखाई देता हो वहाँ भी अन्त को आगमिक परम्परा का ही समर्थन करना, यह इन दोनों वृत्तियों का समान ध्येय है। इतना साम्य होते हुए भी इन दोनो वृत्तियों मे परस्पर भेद भी है। एक वृत्ति जो प्रमाण मे वडी है वह एक ही आचार्य की कृति है, जब कि दूसरी छोटी वृत्ति तीन आचार्यों की मिश्र कृति है। लगभग अठारह हज़ार श्लोक प्रमाण वडी वृत्ति मे अध्यायो के अन्त मे तो बहुत करके 'भाष्यानुसारिणी' इतना ही उल्लेख मिलता है, जब कि छोटी वृत्ति के हरएक अध्याय के अन्त मे दिखाई देने वाले

उल्लेख कुछ न कुछ भिन्नता वाले हैं कहीं "हरिभद्रविरचितायाम्" (प्रथमाध्याय की पुष्पिका) तो कहीं 'हरिभद्रोद्धृतायाम्' (द्वितीय, चतुर्थ और पंचमाध्याय के अन्त में) है, कहीं "हरिभद्रारब्धायाम्" (छठे अध्यायके अन्तमें) तो कहीं 'प्रारब्धायाम्' (सातवें अध्याय के अन्त में) है। कही 'यशोभद्राचार्यनिर्यूढायाम्' (छठे अध्याय के अन्त में), तो कहीं 'यशोभद्रसूरिशिष्यनिर्वाहितायाम्' (दसवें अध्याय के अन्त में) है, बीच में कहीं 'तत्रैवान्यकर्तृकायाम्' (आठवें अध्याय के अन्त में) तथा 'तस्यामेवान्यकर्तृकायाम्' (नववे अध्याय के अन्त में) है। इन सब उल्लेखों की भाषा शैली तथा समुचित संगति का अभाव देखकर कहना पड़ता है कि ये सब उल्लेख उस कर्ता के अपने नहीं हैं। हरिभद्र ने अपने पाँच अध्यायों के अन्त में खुद लिखा होता तो विरचित और उद्धृत ऐसे भिन्नार्थक दो शब्द प्रयुक्त कभी नहीं करते जिनसे कोई एक निश्चित अर्थ नहीं निकल सकता कि वह भाग हरिभद्र ने स्वय नया रचा या किसी एक या अनेक वृत्तियों का संक्षेप विस्तार रूप उद्धार किया। इसी तरह यशोभद्र लिखित अध्यायों के अन्त में भी एकवाक्यता नहीं। 'यशोभद्रनिर्वाहितायाम्' ऐसा शब्द होनेपर भी अन्य 'कर्तृकायाम्' लिखना या तो व्यर्थ है या किसी अर्थान्तर का सूचक है।

यह सब गड़बड़ देखकर मेरा अनुमान होता है कि अध्याय के अन्त वाले उल्लेख किसी एक या अनेक लेखकों के द्वारा एक समय में या जुदे जुदे समय मे नकल करते समय प्रविष्ट हुए हैं। और ऐसे उल्लेखों की रचना का आधार यशोभद्र के शिष्य का वह पद्य-गद्य है जो उसने अपनी रचना के प्रारम्भ में लिखा है।

उपर्युक्त उल्लेखों के पीछे से दाखिल होने की कल्पना का पोषण इससे भी होता है कि अध्यायों के अन्त में पाया जानेवाला 'डुपडुपिकायाम्' ऐसा पद अनेक जगह त्रुटित है। जो कुछ हो अभी तो उन उल्लेखों के आधार से नीचे लिखी बातें फलित होती हैं।

१. तत्त्वार्थ भाष्य के ऊपर हरिभद्र ने वृत्ति रची जो पूर्वकालीन या समकालीन छोटी छोटी खण्डित, अखण्डित वृत्तियों का उद्धार है, क्योंकि उसमें उन वृत्तियों का यथोचित समावेश हो गया है।

२. हरिभद्र की अधूरी वृत्ति को यशोभद्र ने तथा उनके शिष्य ने गन्धहस्ती की वृत्ति के आधार से पूरा किया।

३. वृत्ति का डुपडुपिका नाम (अगर सचमुच वह नाम सत्य तथा ग्रन्थकारों का रक्खा हुआ हो तो) इसलिए पड़ा जान पड़ता है कि वह टुकडे टुकडे बनकर पूरी हुई किसी एक के द्वारा पूरी बन न सकी। डुपडुपिका शब्द इस स्थान के सिवाय अन्यत्र कहीं देखा व सुना नहीं गया। सम्भव है वह अपभ्रष्ट पाठ हो या कोई देशीय शब्द रहा हो। जैसी मैंने प्रथम कल्पना[1] की थी कि उसका अर्थ डोंगी कदाचित् हो किसी विद्वान् मित्र ने यह भी कहा था कि वह संस्कृत उडूपिका का भ्रष्ट पाठ है। पर अब सोचने से वह कल्पना और वह सूचना ठीक नहीं जान पड़ती क्योंकि उस कल्पना का आधार गन्धहस्ती की बड़ी वृत्ति में से छोटी वृत्ति के उद्धार विषयक विचार रहा जो इस समय छोड देना पड़ता है। यशोभद्र के शिष्य ने अन्त में जो वाक्य लिखा है उससे तो ऐसा कुछ ध्वनित होता है कि यह छोटी वृत्ति थोड़ी अमुक ने रची थोड़ी दूसरे अमुक ने थोड़ी तीसरे अमुक ने इस कारण डुपडुपिका बन गई, मानो एक कंथा सी बन गई।

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक के साथ सिद्धसेनीय वृत्ति की तुलना करने से इतना तो स्पष्ट जान पड़ता है कि जो भाषा का प्रसाद, रचना की विशदता और अर्थ का पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक में है, वह सिद्धसेनीय वृत्ति में नहीं। इसके दो कारण हैं। एक तो ग्रन्थकार का प्रकृतिभेद और दूसरा कारण पराश्रित रचना है। सर्वार्थसिद्धिकार और राजवार्त्तिककार सूत्रों पर अपना अपना वक्तव्य स्वतन्त्र

---

१ गुजराती तत्त्वार्थविवेचन परिचय पृ० ८४

रूप से ही कहते हैं जब कि सिद्धसेन को भाष्य का शब्दशः अनुसरण करते हुए पराश्रित रूप से चलना है। इतना भेद होने पर भी समग्र रीति से सिद्धसेनीय वृत्ति का अवलोकन करते समय मन पर दो बातें तो अंकित होती ही हैं। उनमें पहली यह कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक की अपेक्षा सिद्धसेनीय वृत्ति की दार्शनिक योग्यता कम नहीं। पद्धति भेद होने पर भी समष्टि रूप से इस वृत्ति में भी उक्त दो ग्रन्थों-जितनी ही न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और बौद्धदर्शनों की चर्चा की विरासत है। और दूसरी बात यह है कि सिद्धसेन अपनी वृत्ति में दार्शनिक और तार्किक चर्चा करते हुए भी अन्त में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की तरह आगमिक परम्परा का प्रबल रूप से स्थापन करते हैं और इस स्थापन में उनका आगमिक अभ्यास प्रचुर रूप से दिखाई देता है। सिद्धसेन की वृत्ति को देखते हुए मालूम पड़ता है कि उनके समय तक तत्त्वार्थ पर अनेक व्याख्याएँ रची गई थीं। किसी-किसी स्थल पर एक ही सूत्र के भाष्य का विवरण करते हुए वे पाँच, छः मतान्तर[1] निर्दिष्ट करते हैं, इससे ऐसा अनुमान करने का कारण मिलता है कि जब सिद्धसेनने वृत्ति रची तब उनके सामने कम से कम तत्त्वार्थ पर रची हुई पाँच टीकाएँ होनी चाहिए; जो सर्वार्थसिद्धि आदि प्रसिद्ध दिगम्बरीय तीन व्याख्याओं से जुदी होंगी, ऐसा मालूम पड़ता है, क्योंकि राजवार्त्तिक और श्लोकवार्त्तिक की रचना के पहले ही सिद्धसेनीय वृत्ति का रचा जाना बहुत सम्भव है; कदाचित् उनसे पहले यह रची गई हो तो भी इसकी रचना के बीच में इतना तो कम से कम अन्तर है ही कि सिद्धसेन को राजवार्त्तिक और श्लोकवार्त्तिक का परिचय मिलने का प्रसंग ही नहीं आया। सर्वार्थसिद्धि की रचना पूर्वकालीन होने से सिद्धसेन के समय में वह निश्चय रूप से विद्यमान थी यह ठीक है, परन्तु दूरवर्ती देश-भेद के कारण या दूसरे किसी कारणवश

---

१ देखो ५. ३ की सिद्धसेनीय वृत्ति पृ० ३२१।

सिद्धसेन को सर्वार्थसिद्धि देखने का अवसर मिला नहीं जान पड़ता। सिद्धसेन, पूज्यपाद आदि दिगम्बरीय आचार्यों की तरह सम्प्रदायाभिनिवेशी हैं ऐसा उनकी वृत्ति ही कहती है। अब यदि उन्होंने सर्वार्थसिद्धि या अन्य कोई दिगम्बरीयत्वाभिनिवेशी ग्रन्थ देखा होता तो उसके प्रत्याघातरूप ये भी उस-उस स्थल पर दिगम्बरीयत्व का अथवा सर्वार्थसिद्धि के वचनों का निर्देश पूर्वक खण्डन किये विना सन्तोष धारण कर ही न सकते थे, फिर भी किसी स्थल पर उन्होंने दिगम्बरीय साम्प्रदायिक व्याख्याओं की समालोचना की ही नहीं। जो अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के सूत्र या भाष्य-विषयक मतभेदों तथा भाष्य-विवरण-सम्बन्धी छोटी-बड़ी मान्यताओं का थोड़ा भी निर्देश किये विना न रहे, और स्वयं मान्य रक्खी हुई श्वेताम्बर परम्परा की अपेक्षा तर्कबल से सहज भी विरुद्ध कहनेवाले श्वेताम्बरीय महान् आचार्यों की कटुक समालोचना किये विना सन्तोष न पकडे वे सिद्धसेन व्याख्या के विषय में प्रबल विरोध रखनेवाले दिगम्बरीय आचार्यों की पूरी-पूरी खबर लिये बिना रह सके यह कल्पना ही अशक्य है। इससे ऐसी कल्पना होती है कि उत्तर या पश्चिम हिन्दुस्तान में होनेवाले तथा रहनेवाले इन श्वेताम्बरीय आचार्य को दक्षिण हिन्दुस्तान में रची हुई तथा पुष्टि को प्राप्त हुई तत्त्वार्थ की प्रसिद्ध दिगम्बर व्याख्याएँ देखने का शायद अवसर ही न मिला हो। इसी प्रकार दक्षिण भारत में होनेवाले अकलक आदि दिगम्बरीय टीकाकारों को उत्तर भारत में होनेवाले तत्कालीन श्वेताम्बरीय टीका ग्रन्थों को देखने का अवसर मिला मालूम नहीं होता, ऐसा होने पर भी सिद्धसेन की वृत्ति और राजवार्त्तिक में जो कहीं-कहीं पर ध्यान खींचने वाला शब्द सादृश्य दिखाई देता है। वह बहुत करके तो इतना ही सूचित करता है कि यह किसी तीसरे ही समान ग्रन्थ[1] के अभ्यास की विरासत-

१ एक तरफ सिद्धसेनीय वृत्ति में दिगम्बरीय सूत्रपाठ-विरुद्ध कहीं-कहीं समालोचना दिखाई देती है। उदाहरण के तौर पर—"**अपरे पुनर्विद्वांसोऽतिबहूनि**

का परिणाम है। सिद्धसेन की वृत्ति में तत्त्वार्थगत विषय-सम्बन्धी जो विचार और भाषा की पुष्ट विरासत दिखलाई देती है उसे देखते हुए ऐसा भलीभाँति मालूम होता है कि इस वृत्ति के पहले श्वेताम्बर सम्प्रदाय में पुष्कल साहित्य रचा हुआ तथा वृद्धि को प्राप्त हुआ होना चाहिये।

(घ) खण्डित वृत्ति

भाष्य पर तीसरी वृत्ति उपाध्याय यशोविजय की है, यदि यह पूर्ण मिल जाती तो सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दी तक प्राप्त होनेवाले भारतीयदर्शन शास्त्र के विकास का एक नमूना पूर्ण करती, ऐसा वर्तमान में उपलब्ध इस वृत्ति के एक छोटे से खण्ड पर से ही कहने का मन हो जाता है। यह खण्ड प्रथम अध्याय के ऊपर भी पूरा नहीं, और इसमें ऊपर की दो वृत्तियों के समान ही शब्दशः भाष्य का अनुसरण

स्वयं विरचय्यास्मिन् प्रस्तावे सूत्राण्यधीयते" इत्यादि ३, ११ की वृत्ति पृ० २६१ तथा "अपरे सूत्रद्वयमेतदधीयते—'द्रव्याणि'—'जीवाश्च' इत्यादि ५, २ की वृत्ति पृ० ३२० तथा "अन्ये पठन्ति सूत्रम्" ७, ३३ पृ० १०९ तथा कहीं-कहीं सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में दृष्टिगोचर होने वाली व्याख्याओं का खण्डन भी है। उदाहरण के तौर पर—"ये त्वेतद् भाष्यं गमनप्रतिषेधद्वारेण चारणविद्याधरर्द्धिप्राप्तानामाचक्षते तेषामागमविरोध" इत्यादि ३, १३ की वृत्ति पृ० २६३ तथा कहीं-कहीं वार्तिक के साथ शब्दसादृश्य है "नित्यप्रजल्पितवत्" इत्यादि ५, ३ की वृत्ति पृ० ३२१।

दूसरी तरफ श्वेताम्बरग्रंथ का खंडन करनेवाली सर्वार्थसिद्धि आदि खास व्याख्याओं का सिद्धसेनीय वृत्ति में निरसन भी नहीं, इससे ऐसी सम्भावना होती है कि सर्वार्थसिद्धि में स्वीकृत सूत्रपाठ को अवलम्बन कर रची गई किसी दिगम्बराचार्य या अन्य तटस्थ आचार्य की व्याख्या जिसमें श्वेताम्बर विशिष्ट मान्यताओं का खण्डन नहीं होगा और जो पूज्यपाद या अकलङ्क को भी अपनी टीकाओं के लिखने में आधारभूत हुई होगी वह सिद्धसेन के सामने होगी।

कर विवरण किया गया है; ऐसा होने पर भी इसमें जो गहरी तर्कानुगामी चर्चा, जो बहुश्रुतता और जो भावस्फोटन दिखाई देता है वह यशो-विजय की न्याय-विशारदता का निश्चय कराता है। यदि यह वृत्ति इन्होंने सम्पूर्ण रची होगी तो ढाई सौ ही वर्षों में उसका सर्वनाश हो गया हो ऐसा मानने से जी हिचकता है, अतः इसकी शोध के लिये किये जानेवाले प्रयत्न का निष्फल जाना सम्भव नहीं।

ऊपर जो तत्त्वार्थ पर महत्त्वपूर्ण तथा अभ्यास योग्य थोड़े से ग्रन्थों का परिचय दिया गया है वह सिर्फ अभ्यासियों की जिज्ञासा जागरित करने और इस दिशा में विशेष प्रयत्न करने की सूचना करना भर है। वास्तव में तो प्रत्येक ग्रन्थ का परिचय एक-एक स्वतन्त्र निबन्ध की अपेक्षा रखता है और इन सब का सम्मिलित परिचय तो एक खासी मोटी पुस्तक की अपेक्षा रखता है, जो काम इस स्थल की मर्यादा के बाहर है, इसलिये इतने ही परिचय से सन्तोष धारण कर विराम लेना उचित समझता हूँ।

सुखलाल।

——:०:——

परिशिष्ट

मैंने पं० नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार से उमास्वाति तथा तत्त्वार्थ से सम्बन्ध रखने वाली बातों के विषय में कुछ प्रश्न पूछे थे, उनका जो उत्तर उनकी तरफ से मुझे मिला है उसका मुख्य भाग उन्हीं की भाषा में अपने प्रश्नों के साथ ही नीचे दिया जाता है। ये दोनों महाशय ऐतिहासिक दृष्टि रखते हैं और वर्तमान के दिगम्बरीय विद्वानों में, ऐतिहासिक दृष्टि से, इन दोनों की योग्यता उच्च कोटि की है। इससे अभ्यासियों के लिये उनके विचार काम के होने से उन्हें परिशिष्ट के रूप में यहाँ देता हूँ। पं० जुगलकिशोरजी के उत्तर पर से जिस अंश-पर मुझे कुछ कहना है उसे उनके पत्र के बाद 'मेरी विचारणा' शीर्षक के नीचे यहीं बतला दूंगा—

(क) प्रश्न

१ उमास्वाति कुन्दकुन्द का शिष्य या वंशज है इस भाव का उल्लेख सबसे पुराना किस ग्रन्थ, पट्टावली या शिलालेख में आप के देखने में अब तक आया है? अथवा यों कहिये कि दसवीं सदी के पूर्ववर्ती किस ग्रन्थ, पट्टावली आदि में उमास्वाति का कुन्दकुन्द का शिष्य होना या वंशज होना अब तक पाया गया है?

२ आप के विचार में पूज्यपाद का समय क्या है? तत्त्वार्थ का श्वेताम्बरीय भाष्य आप के विचार से स्वोपज्ञ है या नहीं? यदि स्वोपज्ञ नहीं है तो उस पक्ष में महत्त्व की दलीलें क्या हैं?

३ दिगम्बरीय परम्परा में कोई 'उच्चनागर' नामक शाखा कभी हुई है, और वाचकवंश या वाचकपद धारी कोई मुनिगण प्राचीन काल में कभी हुआ है, यदि हुआ है तो उसका वर्णन या उल्लेख कहाँ पर है?

४ मुझे सदेह है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति कुन्दकुन्द के शिष्य थे, क्योंकि कोई भी प्राचीन प्रमाण अभी तक मुझे नहीं मिला। जो मिले वे सब बारहवीं सदी के बाद के हैं। इसलिये उक्त प्रश्न पूछ रहा हूँ, जो सरसरी तौर से ध्यान में आवे सो लिखना।

५ प्रसिद्ध तत्त्वार्थशास्त्र की रचना कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वाति ने की है, इस मान्यता के लिये दसवीं सदी से प्राचीन क्या क्या सबूत या उल्लेख हैं और वे कौन से ? क्या दिगम्बरीय साहित्य में दसवीं सदी से पुराना कोई ऐसा उल्लेख है जिसमें कुन्दकुन्द के शिष्य उमास्वाति के द्वारा तत्त्वार्थसूत्र की रचना किये जाने का सूचन या कथन हो ?

६ "तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्" यह पद्य कहाँ का है और कितना पुराना है ?

७ पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्द आदि प्राचीन टीकाकारों ने कहीं भी तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता रूप से उमास्वाति का उल्लेख किया है ? यदि नहीं किया है तो पीछे से यह मान्यता क्यों चल पड़ी ?

(ख) प्रेमीजी का पत्र

"आपका ता० ६ का कृपा पत्र मिला। उमास्वाति कुन्दकुन्द के वशज हैं, इस बात पर मुझे जरा भी विश्वास नहीं है। यह वशकल्पना उस समय की गई है जब तत्त्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक आदि टीकाएँ बन चुकी थीं और दिगम्बर सम्प्रदाय ने इस ग्रथ को पूर्णतया अपना लिया था। दसवीं शताब्दी के पहले का कोई भी उल्लेख अभी तक मुझे इस सम्बन्ध में नहीं मिला। मेरा विश्वास है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में जो बडे बडे विद्वान् ग्रन्थकर्ता हुए हैं, प्रायः वे किसी मठ या गद्दी के पट्टधर नहीं थे। परन्तु जिन लोगों ने गुर्वावली या पट्टावली बनाई हैं उनके मस्तक में यह बात भरी हुई थी कि जितने भी आचार्य या ग्रन्थकर्ता होते हैं वे किसी-न-किसी गद्दी के अधिकारी होते हैं। इस

लिये उन्होंने पूर्ववर्ती सभी विद्वानों की इसी भ्रमात्मक विचार के अनुसार खतौनी कर डाली है और उन्हें पट्टधर बना डाला है। यह तो उन्हें मालूम नहीं था कि उमास्वाति और कुन्दकुन्द किस किस समय में हुए हैं, परन्तु चूँकि वे बड़े आचार्य थे और प्राचीन थे, इसलिये उनका सम्बन्ध जोड़ दिया और गुरु-शिष्य या शिष्य-गुरु बना दिया। यह सोचने का उन्होंने कष्ट नहीं उठाया कि कुन्दकुन्द कर्णाटक देश के कुडकुड ग्राम के निवासी थे और उमास्वाति विहार में भ्रमण करने वाले। उनके सम्बन्ध की कल्पना भी एक तरह से असम्भव है।

श्रुतावतार, आदिपुराण, हरिवंश पुराण, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों में जो प्राचीन आचार्य परपरा दी हुई है उसमें उमास्वाति का बिलकुल उल्लेख नहीं है और उन्हें एक बड़ा टीकाकार बतलाया है परन्तु उनके आगे या पीछे उमास्वाति का कोई उल्लेख नहीं है। इन्द्रनन्दी का श्रुतावतार यद्यपि बहुत पुराना नहीं है, फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि वह किसी प्राचीन रचना का रूपान्तर है और इस दृष्टि से उसका कथन प्रमाणकोटि का है। 'दर्शनसार' ६६० संवत् का बनाया हुआ है, उसमें पद्मनन्दी या कुन्दकुन्द का उल्लेख है परन्तु उमास्वाति का नहीं। जिनसेन के समय राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक बन चुके थे, परन्तु उन्होंने भी बीसों आचार्यों और ग्रन्थकर्ताओं की प्रशंसा के प्रसंग मे उमास्वाति का उल्लेख नहीं किया क्योंकि वे उन्हें अपनी परम्परा का नहीं समझते थे। एक बात और है आदिपुराण, हरिवंश पुराण आदि के कर्ताओं ने कुन्दकुन्द का भी उल्लेख नहीं किया है, यह एक विचारणीय बात है।

मेरी समझ में कुन्दकुन्द एक खास आम्नाय या सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इन्होंने जैन-धर्म को वेदान्त के साँचे मे ढाला था, जान पड़ता है कि जिनसेन आदि के समय तक उनका मत सर्वमान्य नहीं हुआ और इसीलिये उनके प्रति उन्हें कोई आदर भाव नहीं था।

"तत्त्वार्थशास्त्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्" आदि श्लोक मालूम नहीं कहाँ का है और कितना पुराना है? तत्त्वार्थसूत्रकी मूल प्रतियों में यह पाया जाता है। कहीं-कहीं कुन्दकुन्द को भी गृध्रपिच्छ लिखा है। गृध्रपिच्छ नाम के एक और भी आचार्य का उल्लेख है। जैन-हितैषी भाग १० पृष्ठ ३६६ और भाग १५ अक ६ के कुन्दकुन्द सम्बन्धी लेख पढ़वा कर देख लीजियेगा।

षट्पाहुड की भूमिका भी पढ़वा लीजियेगा।

श्रुतसागर ने आशाधर के महाभिषेक की टीका संवत् १५८२ में समाप्त की है। अतएव ये विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के हैं। तत्त्वार्थ की वृत्ति के और षट्पाहुड की तथा यशस्तिलक टीका के कर्ता भी यही हैं। दूसरे श्रुतसागर के विषय में मुझे मालूम नहीं।"

(ग) मुख्तार जुगलकिशोरजी का पत्र

"आपके प्रश्नों का मैं सरसरी तौर से कुछ उत्तर दिये देता हूँ.—

१. अभी तक जो दिगम्बर पट्टावलियाँ ग्रन्थादिकों में दी हुई गुर्वावलियों से भिन्न उपलब्ध हुई हैं वे प्रायः विक्रम की १२ वीं शताब्दी के बाद की बनी हुई जान पडती हैं, ऐसा कहना ठीक होगा। उनमें सबसे पुरानी कौनसी है और वह कब की बनी हुई है, इस विषय में मैं इस समय कुछ नहीं कह सकता। अधिकाश पट्टावलियों पर निर्माण के समयादि का कुछ उल्लेख नहीं है और ऐसा भी अनुभव होता है कि किसी-किसी में अतिम आदि कुछ भाग पीछे से भी शामिल हुआ है।

कुन्दकुन्द तथा उमास्वाति के सम्बन्धवाले कितने ही शिलालेख तथा प्रशस्तियाँ है परन्तु वे सब इस समय मेरे सामने नहीं है। हाँ, श्रवणबेल्गोल के जैन शिलालेखों का सग्रह इस समय मेरे सामने है, जो माणिकचद ग्रन्थमाला का २८वाँ ग्रन्थ है। इसमें ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५ और १०८ नम्बर के ७ शिलालेख दोनों के उल्लेख

तथा सम्बन्ध को लिये हुए हैं। पहले पाँच लेखों में 'तदन्वये' पद के द्वारा और नं० १०८ में 'वंशे तदीये' पदों के द्वारा उमास्वाति को कुन्दकुन्द के वंश में लिखा है। प्रकृत वाक्यों का उल्लेख 'स्वामी समन्तभद्र' के पृ० १५८ पर फुटनोट में भी किया गया है। इनमें सबसे पुराना शिलालेख न० ४७ है, जो शक सं० १०३७ का लिखा हुआ है।

२. पूज्यपाद का समय विक्रम की छठी शताब्दी है इसको विशेष जानने के लिये 'स्वामी समन्तभद्र' के पृ० १४१ से १४३ तक देखिये। तत्त्वार्थ के श्वेताम्बरीय भाष्य को मैं अभी तक स्वोपज्ञ नहीं समझता हूँ। उस पर कितना ही सदेह है, जिस सबका उल्लेख करने के लिये मैं इस समय तैयार नहीं हूँ।

३. दिगम्बरीय परम्परा में मुनियों की कोई उच्चनागर शाखा भी हुई है, इसका मुझे अभी तक कुछ पता नहीं है और न 'वाचकवंश' या 'वाचकपद' धारी मुनियों का ही कोई विशेष हाल मालूम है। हाँ, 'जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय' ग्रन्थ में 'अन्वयावलि' का वर्णन करते हुए कुन्दकुन्द और उमास्वाति दोनों के लिये 'वाचक' पद का प्रयोग किया गया है, जैसा कि उसके निम्न पद्य से प्रकट है:—

"पुष्पदन्तो भूतवलिर्जिनचंद्रो मुनिः पुनः ।
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रोमास्वातिवाचकसंज्ञितौ ॥"

४. कुन्दकुन्द और उमास्वाति के संबंध का उल्लेख नं० २ में किया जा चुका है। मैं अभी तक उमास्वाति को कुन्दकुन्द का निकटान्वयी मानता हूँ—शिष्य नहीं। हो सकता है कि वे कुन्दकुन्द के प्रशिष्य रहे हों और इसका उल्लेख मैंने 'स्वामी समन्तभद्र' में पृ० १५८, १५६ पर भी किया है। उक्त इतिहास में 'उमास्वाति-समय' और 'कुन्दकुन्द-समय' नामक के दोनों लेखों को एक वार पढ़ जाना चाहिये।

५. विक्रम की १०वीं शताब्दी से पहले का कोई उल्लेख मेरे देखने में ऐसा नहीं आया जिसमें उमास्वाति को कुन्दकुन्द का शिष्य लिखा हो।

६. "तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्" यह पद्य तत्त्वार्थसूत्र की बहुतसी प्रतियों के अन्त में देखा जाता है, परन्तु वह कहाँ का है और कितना पुराना है यह अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

७. पूज्यपाद और अकलकदेव के विषय में तो अभी ठीक नही कह सकता परन्तु विद्यानन्द ने तो तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता रूप से उमास्वाति का उल्लेख किया है—श्लोकवार्तिक में उनका द्वितीय नाम गृध्रपिच्छाचार्य दिया है और शायद आप्तपरीक्षा टीका आदि में 'उमास्वाति' नाम का भी उल्लेख है।

इस तरह पर यह आपके दोनों पत्रों का उत्तर है, जो इस समय बन सका है। विशेष विचार फिर किसी समय किया जायगा।"

(घ) मेरी विचारणा

विक्रम की ९-१० वीं शताब्दी के दिगम्बराचार्य विद्यानन्द ने आप्त-परीक्षा (श्लो० ११९) की स्वोपज्ञवृत्ति में **"तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामि-प्रभृतिभि."** ऐसा कथन किया है और तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक की स्वोपज्ञ-वृत्ति (पृ० ६—प० ३१) में इन्हीं आचार्य ने **"एतेन गृध्रपिच्छा-चार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता"** ऐसा कथन किया है। ये दोनों कथन तत्त्वार्थशास्त्र के उमास्वाति रचित होने और उमास्वाति तथा गृध्रपिच्छ आचार्य दोनों के अभिन्न होने को सूचित करते हैं ऐसी प० जुगलकिशोरजी की मान्यता जान पडती है। परन्तु यह मान्यता विचारणीय है, इससे इस विषय में मेरी विचारणा क्या है उसे सक्षेप में बतला देना योग्य होगा।

पहले कथन में 'तत्त्वार्थसूत्रकार' यह उमास्वाति वगैरह आचार्यों का विशेषण है, न कि मात्र उमास्वाति का। अब यदि मुख्तारजी के कथनानुसार अर्थ कीजिये तो ऐसा फलित होता है कि उमास्वाति वगैरह आचार्य तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता हैं। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र का अर्थ यदि तत्त्वार्था-धिगम शास्त्र किया जाय तो यह फलित अर्थ दूषित ठहरता है क्योंकि तत्त्वा-

र्थाधिगम शास्त्र अकेले उमास्वामी का रचा हुआ माना जाता है, न कि उमास्वामी आदि अनेक आचार्यों का। इससे विशेषणगत तत्त्वार्थसूत्र पद का अर्थ मात्र तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र न करके जिन कथित तत्त्वप्रतिपादक सभी ग्रन्थ इतना करना चाहिये। इस अर्थ के करते हुए फलित यह होता है कि जिन कथित तत्त्वप्रतिपादक ग्रन्थ के रचनेवाले उमास्वामी वगैरह आचार्य। इस फलित अर्थ के अनुसार सीधे तौर पर इतना ही कह सकते हैं कि विद्यानन्द की दृष्टि में उमास्वामी भी जिनकथित तत्त्व प्रतिपादक किसी भी ग्रन्थ के प्रणेता हैं। यह ग्रन्थ भले ही विद्यानन्द की दृष्टि में तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र ही हो परन्तु इसका यह आशय उक्त कथन में से दूसरे आधारों के बिना सीधे तौर पर नहीं निकलता। इससे विद्यानन्द के आप्तपरीक्षागत पूर्वोक्त कथन पर से हम इसका आशय सीधी रीति से इतना ही निकाल सकते हैं कि उमास्वामी ने जैन तत्त्व के ऊपर कोई ग्रन्थ अवश्य रचा है।

पूर्वोक्त दूसरा कथन तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र का पहला मोक्ष मार्ग विषयक सूत्र सर्वज्ञवीतराग-प्रणीत है इस वस्तु को सिद्ध करनेवाली अनुमान चर्चा में आया है। इस अनुमान चर्चा में मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र पक्ष है, सर्वज्ञवीतराग-प्रणीतत्व यह साध्य है और सूत्रत्व यह हेतु है। इस हेतु में व्यभिचारदोष का निरसन करते हुए विद्यानन्द ने 'एतेन' इत्यादि कथन किया है। व्यभिचारदोष पक्ष से भिन्न स्थल में संभवित होता है। पक्ष तो मोक्षमार्ग-विषयक प्रस्तुत तत्त्वार्थ सूत्र ही है इसमें व्यभिचार का विषयभूत माना जाने वाला गृध्रपिच्छाचार्य पर्यंत मुनियों का सूत्र यह विद्यानन्द की दृष्टि में उमास्वाति के पक्षभूत मोक्षमार्ग-विषयक प्रथम सूत्र से भिन्न ही होना चाहिए यह बात न्याय-विद्या के अभ्यासी को शायद ही समझानी पड़े—ऐसी है। विद्यानन्द की दृष्टि में पक्षरूप उमास्वाति के सूत्र की अपेक्षा व्यभिचार के विषय रूप से कल्पित किया गया सूत्र जुदा ही है, इसी से उन्होंने यह

व्यभिचारदोष को निवारण करने के वाद हेतु में असिद्धता दोष को दूर करते हुए "प्रकृतसूत्रे" ऐसा कहा है। प्रकृत अर्थात् जिसकी चर्चा प्रस्तुत है वह उमास्वामी का मोक्षमार्ग-विषयक सूत्र। असिद्धता दोष का निवारण करते हुए सूत्र को 'प्रकृत' ऐसा विशेषण दिया है और व्यभिचार दोष को दूर करते हुए वह विशेषण नहीं दिया तथा पक्ष रूप सूत्र के अन्दर व्यभिचार नहीं आता यह भी नहीं कहा। उलटा स्पष्ट रूप से यह कहा है कि गृध्रपिच्छाचार्य पर्यन्त मुनियों के सूत्रों में व्यभिचार नहीं आता। यह सब निर्विवादरूप से यही सूचित करता है कि विद्यानन्द उमास्वामी से गृध्रपिच्छ को जुदा ही समझते हैं, दोनों को एक नहीं। इसी अभिप्राय की पुष्टि मे एक दलील यह भी है कि विद्यानन्द यदि गृध्रपिच्छ और उमास्वामी को अभिन्न ही समझते होते तो एक जगह उमास्वामी और दूसरी जगह 'गृध्रपिच्छ आचार्य' इतना विशेषण ही उनके लिये प्रयुक्त न करते वल्कि 'गृध्रपिच्छ' के वाद वे 'उमास्वामी' शब्द का प्रयोग करते। उक्त दोनों कथनों की मेरी विचारणा यदि खोटी न हो तो उसके अनुसार यह फलित होता है कि विद्यानन्दकी दृष्टि में उमास्वामी तत्त्वार्थाधिगम शास्त्र के प्रणेता होंगे परंतु उनकी दृष्टि में गृध्रपिच्छ और उमास्वामी ये दोनों निश्चय से जुदे ही होने चाहिएँ।

गृध्रपिच्छ, वलाकपिच्छ, मयूरपिच्छ वगैरह विशेषणों की सृष्टि नग्नत्वमूलक वस्त्र पात्र के त्यागवाली दिगम्वर भावना में से हुई है। यदि विद्यानन्द उमास्वामी को निश्चय पूर्वक दिगम्बरीय समझते होते तो वे उनके नाम के साथ पिछले जमाने में लगाये जानेवाले गृध्रपिच्छ आदि विशेषण जरूर लगाते। इससे ऐसा कहना पड़ता है कि विद्यानन्द ने उमास्वामी का श्वेताम्वर, दिगम्वर या कोई तीसरा सम्प्रदाय सूचित ही नहीं किया।

सुखलाल।

अभ्यास विषयक सूचन।

जैन दर्शन का प्रामाणिक अभ्यास करने का इच्छुक जैन, जैनेतर फिर वह विद्यार्थी हो या शिक्षक, प्रत्येक यह पूछता है कि ऐसी एक पुस्तक कौनसी है जिसका कि सक्षिप्त तथा विस्तृत अध्ययन किया जा सके, और जिसके अध्ययन से जैनदर्शन में सन्निहित मुद्दों के प्रत्येक विषय का ज्ञान हो। इस प्रश्न का उत्तर देनेवाला 'तत्त्वार्थ' के सिवाय अन्य किसी पुस्तक का निर्देश नहीं कर सकता। तत्त्वार्थ की इतनी योग्यता होने से आज कल जहाँ तहाँ जैन दर्शन के अभ्यास क्रम में इसका सर्व प्रथम स्थान है। ऐसा होने पर भी आज कल उसकी अध्ययन परिपाटी की जो रूपरेखा है वह विशेष फलप्रद प्रतीत नहीं होती। इसलिए उसकी अभ्यास पद्धति के विषय में यहाँ पर कुछ सूचन अप्रासगिक न होगा।

सामान्य रूप से तत्त्वार्थ के अभ्यासी श्वेताम्बर उसके ऊपर की दिगम्बरीय टीकाओं को नहीं देखते और दिगम्बर उसके ऊपर की श्वेताम्बरीय टीकाओं को नहीं देखते। इसका कारण सकुचित दृष्टि, साम्प्रदायिक अभिनिवेश या जानकारी का अभाव चाहे जो हो, पर अगर यह धारणा सही हो तो इसके कारण अभ्यासी का ज्ञान कितना सकुचित रहता है, उसकी जिज्ञासा कितनी अपरितृप्त रहती है और उसकी तुलना तथा परीक्षण-शक्ति कितनी कुठित रहती है और उसके परिणाम स्वरूप तत्त्वार्थ के अभ्यासी का प्रामाण्य कितना अल्प निर्मित होता है इस बात को समझने के लिए वर्तमान काल में चलती हुई सभी जैन-सस्थाओं के विद्यार्थियों से अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान के मार्ग मे, जिज्ञासा के क्षेत्र में और सत्यान्वेषण में चौकाबदी को अर्थात् दृष्टि सकोच या सम्प्रदाय मोह को स्थान हो तो उससे मूल वस्तु ही सिद्ध नहीं होती। जो तुलना के विचार मात्र से ही डर जाते हैं, वे या तो अपने पक्ष की प्रामाणिकता तथा सबलता के विषय मे शकित होते हैं, या दूसरे

के पक्ष के सामने खडे होने की शक्ति कम रखते हैं, या असत्य को छोड़ कर सत्य को स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं, तथा अपनी सत्य बात को भी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त बुद्धिबल और धैर्य नहीं रखते। ज्ञान का अर्थ यही है कि संकुचितता, बंधन और अवरोधों का अतिक्रमण कर आत्मा को विस्तृत करना और सत्य के लिए गहरा उतरना। इसलिए शिक्षकों के सामने नीचे की पद्धति रखता हूँ। वे इस पद्धति को अन्तिम सूचना न मान कर, उसमें भी अनुभव से फेरफार करें और वास्तविक रूप से तो अपने पास अभ्यास करते हुए विद्यार्थियों को साधन बना कर स्वयं तैयार हों।

(१) मूलसूत्र लेकर उसका सरलता से जो अर्थ हो वह करना।

(२) भाष्य या सर्वार्थसिद्धि इन दोनों में से किसी एक टीका को मुख्य रख उसे प्रथम पढाना और पीछे तुरत ही अन्य। इस वाचन में नीचे की खास बातों की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित करना।

(क) कौन कौन से विषय भाष्य तथा सर्वार्थसिद्धि में एक समान हैं ? और समानता होने पर भी भाषा तथा प्रतिपादन शैली में कितना अन्तर पड़ता है।

(ख) कौन कौन से विषय एक में है और अन्य में नहीं, अगर हैं तो रूपान्तर से ? जो विषय दूसरे में छोड़ दिये गये हों या जिनकी नवीन रूप से चर्चा की गई हों वे कौन से और ऐसा होने का क्या कारण ?

(ग) उपरोक्त प्रणाली अनुसार भाष्य और सर्वार्थसिद्धि इन दोनों का पृथकरण करने के बाद जो विद्यार्थी अधिक योग्य हो, उसे आगे 'परिचय' में दी हुई तुलना अनुसार अन्य भारतीय दर्शनों के साथ तुलना करने के लिए प्रेरित करना और जो विद्यार्थी साधारण हो उसे भविष्य में ऐसी तुलना कर सके इस दृष्टि से कितने ही रोचक सूचन करना।

(घ) ऊपर दी हुई सूचना अनुसार विद्यार्थियों को पाठ पढाने के बाद-पढ़े हुए उसी सूत्र का राजवार्तिक स्वयं पढ़ जाने के लिए कहना। वे यह सम्पूर्ण राजवार्तिक पढ़ कर उसमें पूछने योग्य प्रश्न या समझने के

विषय कागज के ऊपर नोट करके दूसरे दिन शिक्षक के सामने रखें। और इस चर्चा के समय शिक्षक वन सके वहाँ तक विद्यार्थियों में ही परस्पर चर्चा करा कर उनके द्वारा ही (स्वयं केवल तटस्थ सहायक रह कर) स्वयं कहने का सम्पूर्ण कहलावे। भाष्य और सर्वार्थसिद्धि की अपेक्षा राजवार्तिक मे क्या कम हुआ है, कितनी वृद्धि हुई है, क्या क्या नवीन है; यह जानने की दृष्टि विद्यार्थियों में परिमार्जित हो।

(३) इस तरह भाष्य और सर्वार्थसिद्धि का अभ्यास राजवार्तिक के अवलोकन के वाद पुष्ट होने पर उक्त तीनों ग्रन्थों में नहीं हों, ऐसे और खास ध्यान देने योग्य जो जो विषय श्लोकवार्तिक में चर्चित हों उतने ही विषयों की सूची तैयार कर रखना और अनुकूलता अनुसार उन्हे विद्यार्थियों को पढाना या स्वय पढने के लिए कहना। इतना होने के वाद सूत्र की उक्त चारों टीकाओं ने क्रमशः कितना और किस किस प्रकार का विकास किया है और ऐसा करने में उन उन टीकाओं ने अन्य दर्शनों से कितना लाभ उठाया है या अन्य दर्शनों को उनकी कितनी देन है ? यह सभी विद्यार्थियों को समझाना।

(४) किसी परिस्थिति के कारण राजवार्तिक पढ़ना या पढाना शक्य न हो तो अन्त में श्लोकवार्तिक के अनुसार राजवार्तिक में भी जो जो विषय अधिक सुन्दर रूप से चर्चित हो और जिनका महत्त्व जैन दृष्टि के अनुसार वहुत अधिक हो वैसे स्थलों की एक सूची तैयार कर कम से कम इतना तो सिखाना ही। अर्थात् भाष्य और सर्वार्थसिद्धि ये दो ग्रन्थ अभ्यास में नियत हों और उनके साथ ही राजवार्तिक तथा श्लोकवार्तिक के उक्त दोनों ग्रन्थों मे नहीं आये हुए विशिष्ट प्रकरण भी सम्मिलित हों और शेष सभी अवशिष्ट ऐच्छिक। उदाहरणार्थ राजवार्तिक मे से सतभङ्गी और अनेकान्तवाद की चर्चा, और श्लोकवार्तिक में से सर्वज्ञ, आप्त, जगत्कर्ता आदि की, नय की, वाद की और पृथ्वीभ्रमण की चर्चा लेनी। इसी तरह तत्त्वार्थ भाष्य की सिद्धसेनीय वृत्ति में से विशिष्ट चर्चा

वाले भागों को छाट कर उन्हें अभ्यास में रखना। उदाहरणार्थ—१. १; ५. २६, ३१ के भाष्य की वृत्ति की चर्चाएँ।

(५) अभ्यास प्रारम्भ करने के पहले शिक्षक तत्त्वार्थ का वाह्य और आभ्यन्तरिक परिचय कराने के लिए विद्यार्थियों के समक्ष कुछ रुचिकर प्रवचन करे तथा इस प्रकार विद्यार्थियों में रस वृत्ति पैदा करे। बीच बीच में प्रसङ्गानुसार दर्शनों के इतिहास और क्रम विकास की ओर विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित हो इसके लिए योग्य प्रवचन की सुविधा का खयाल रखे।

(६) भूगोल, खगोल, स्वर्ग और पाताल विद्या के तीसरे और चौथे अध्याय का शिक्षण देने के विषय में दो बडे विरोधी पक्ष है। एक पक्ष उसे शिक्षण में रखने को मना करता है जब कि दूसरा उस शिक्षण के बिना सर्वज्ञ दर्शन का अभ्यास अधूरा मानता है। ये दोनों एकान्त की अन्तिम सीमाएँ हैं। इसलिए शिक्षक इन दोनों अध्यायों का शिक्षण देता हुआ भी उसके पीछे की दृष्टि में फेरफार करे यही इस समय योग्य है। तीसरे और चौथे अध्याय का सभी वर्णन सर्वज्ञकथित है, इसमें थोड़ा भी फेरफार नहीं हो सकता, आज कल के सभी वैज्ञानिक अन्वेषण और विचार जैनशास्त्रों से विरुद्ध होने के कारण बिलकुल मिथ्या होने से त्याज्य हैं ऐसा कहकर इन अध्यायों के शिक्षण के ऊपर भार देने की अपेक्षा एक समय आर्यदर्शनों मे स्वर्ग, नरक, भूगोल और खगोल के विषय में कैसी कैसी मान्यताएँ प्रचलित थीं और इन मान्यताओं में जैनदर्शन का क्या स्थान है? ऐसी ऐतिहासिक दृष्टि से इन अध्यायों का शिक्षण देने में आवे तो मिथ्या समझ कर फेंक देने योग्य विषयों में से जानने योग्य बहुत बच रहता है। तथा सत्य-शोधन के लिए जिज्ञासा का क्षेत्र तैयार होता है, इसी प्रकार जो सच्चा हो उसे विशेष रूप से बुद्धि की कसौटी पर कसने की प्रेरणा मिलती है।

(७) उच्च कक्षा के विद्यार्थियों तथा गवेषकों को लक्ष में रखकर मैं एक दो सूचनाएँ और भी करता हूँ। पहली बात तो यह है कि तत्त्वार्थ

सूत्र और भाष्य आदि में आये हुए मुद्दों का उद्गम स्थान किन किन श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय प्राचीन ग्रन्थों में है यह सब ऐतिहासिक दृष्टि से देखना और फिर तुलना करना। दूसरी बात यह है कि उन मुद्दों के विषय में बौद्ध पिटक तथा महायान के अमुक ग्रन्थ क्या क्या कहते हैं उनमें इस सम्बन्ध में कैसा वर्णन है यह देखना। तथा वैदिक सभी दर्शनों के मूलसूत्र और भाष्य में से इस सम्बन्ध की सीधी जानकारी करके फिर तुलना करना। मैंने ऐसा करके अनुभव से देखा है कि तत्त्वज्ञान तथा आचार के क्षेत्र में भारतीय आत्मा एक है। जो कुछ हो पर ऐसा अभ्यास बिना किये तत्त्वार्थ का पूरा महत्त्व ध्यान में आ नहीं सकता।

(८) यदि प्रस्तुत हिन्दी विवेचन द्वारा ही तत्त्वार्थ पढाना हो तो शिक्षक प्रथम एक एक सूत्र लेकर उसके सभी विषय मुखाग्र समझा देवे और उसमें विद्यार्थियों का प्रवेश हो जाय तब उस उस भाग के प्रस्तुत विवेचन का वाचन स्वयं विद्यार्थियों के पास ही करा लेवे और कुछ पूछ कर उनकी समझ के बारे में विश्वास कर ले।

(९) प्रस्तुत विवेचन द्वारा एक सदर्भ पर्यंत सूत्र अथवा सपूर्ण अध्याय पढ़ लेने के बाद परिचय में की हुई तुलनात्मक दृष्टि के आधार पर शिक्षक अधिकारी विद्यार्थियों के समक्ष स्पष्ट तुलना करे।

नि.सदेह ऊपर सूचित की हुई पद्धति के अनुसार शिक्षण देने में शिक्षक के ऊपर भार बढता है, पर उस भार को उत्साह और बुद्धि पूर्वक उठाये बिना शिक्षक का स्थान उच्च नहीं बन सकता और विद्यार्थी वर्ग भी विचारदरिद्र ही रह जाता है। इसलिए शिक्षक अधिक से अधिक तैयारी करें और अपनी तैयारी को फलद्रूप बनाने के लिए विद्यार्थियों का मानस तैयार करना यह अनिवार्य है। शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से तो ऐसा करना यह अनिवार्य है, पर चहुँ ओर वेग से बढते हुए वर्तमान ज्ञान-वेग को देखकर सबके साथ में समान रूप से बैठने की व्यावहारिक दृष्टि से भी ऐसा करना अनिवार्य है।

सुखलाल।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्राणि

भा० भाष्य में मुद्रित सूत्र
रा० राजवार्तिक में मुद्रित सूत्र
स० सर्वार्थसिद्धि में मुद्रित सूत्र
श्लो० श्लोकवार्तिक में मुद्रित सूत्र
सि० सिद्धसेनीय टीका में मुद्रित सूत्र
हा० हारिभद्रीय टीका में मुद्रित सूत्र
रा पा० राजवार्तिककार द्वारा निर्दिष्ट पाठान्तर
स-पा० सर्वार्थसिद्धिमें निर्दिष्ट पाठान्तर
सि-पा० सिद्धसेनवृत्ति का प्रत्यन्तर का पाठ
सि-भा० सिद्धसेनीयवृत्ति का भाष्य पाठ
सि वृ० सिद्धसेनीयवृत्तिसंमत पाठ
सि-वृ-पा० सिद्धसेनीयवृत्ति निर्दिष्ट पाठान्तर

प्रथमोऽध्यायः ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥
तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥
तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥
जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥
नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥
प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥
निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥
सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥
मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

---

१ आश्रव– हा० ।

२ मनःपर्यय –स०, रा०, श्लो० ।

तत् प्रमाणे ॥ १० ॥

आद्ये[1] परोक्षम् ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

अवग्रहेहा[2]वायधारणाः ॥ १५ ॥

बहुबहुविधक्षिप्रानि[3]श्रितासंदिग्धध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

अर्थस्य ॥ १७ ॥

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

द्वि[4]विधोऽवधिः ॥ २१ ॥

भव[5]प्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥ २२ ॥

य[6]थोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २३ ॥

---

१ तत्र आद्ये –हा० ।

२ –ह्रापाय –भा०, हा० सि० ।

३ –नि.सृतानुक्तध्रु–स०, रा० । –निसृतानुक्तध्रु–श्लो० । –क्षिप्रनिःसृतानुक्तध्रु० स–पा० । –प्रानिश्रितानुक्तध्रु –भा०, सि–वृ० । –श्रितनिश्चितध्रु– सि– वृ–पा० ।

४ स० रा० श्लो० में सूत्ररूप नहीं । उत्थानमें स० और रा० में है ।

५ तत्र भव–सि० । भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्–स०, रा०, श्लो० ।

६ क्षयोपशमनिमित्त –स० रा० श्लो० ।

ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः[1] ॥ २४ ॥

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः[2] ॥२६॥

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु[3] ॥ २७ ॥

रूपिष्ववधेः ॥ २८ ॥

तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य[4] ॥ २९ ॥

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ३० ॥

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ ३१ ॥

मतिश्रुतोऽवधयो[5] विपर्ययश्च ॥ ३२ ॥

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा[6] नयाः ॥ ३४ ॥

[7]आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥ ३५ ॥

---

१ मन'पर्ययः –स० रा० श्लो० ।

२ मनःपर्यययो –स० रा० श्लो० ।

३ –निबन्ध' द्रव्ये–स० रा० श्लो० ।

४ मन'पर्ययस्य –स० रा० श्लो० ।

५ –श्रुताविभङ्गा विप –हा० ।

६ –शब्दसमभिरूढैवम्भूता नया. स० रा० श्लो० ।

७ यह सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौद-
यिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥
द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥
सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥
ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥
ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः यथा-
क्रमं सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥
गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वले-
श्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥
जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ॥ ७ ॥
उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥
स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥
संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥
समनस्काऽमनस्काः ॥ ११ ॥

---

१ –दर्शनलब्धय–च० रा० श्लो० ।
२ –भेदा· सम्य–च० रा० श्लो० । भूल से हिन्दी विवेचनमें 'यथाक्रमम्' शब्द छूट गया है ।
३ –सिद्धलेश्या–च० रा० श्लो० ।
४ त्वानि च–च० रा० श्लो० ।

संसारिणस्त्रसस्थावराः[1] ॥ १२ ॥

[2]पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

[3]तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥ १४ ॥

पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

द्विविधानि ॥ १६ ॥

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

[4]उपयोगः स्पर्शादिषु ॥ १९ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ २० ॥

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः[5] ॥ २१ ॥

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २२ ॥

[6]वाय्वन्तानामेकम् ॥ २३ ॥

---

१ भूल से इस पुस्तक में 'त्रसा' छपा है ।

२ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः स० रा० श्लो० ।

३ द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः स० रा० श्लो० ।

४ स० रा० श्लो० में नहीं है । सिद्धसेन कहते है–"कोई इसको सूत्र रूपसे नहीं मानते और वे कहते हैं कि यह तो भाष्यवाक्य को सूत्र बना दिया है" –पृ० १६९ ।

५ –तदर्थाः–स० रा० श्लो० । 'तदर्था' ऐसा समस्तपद ठीक नहीं इस शंका का समाधान अकलङ्क और विद्यानन्द ने दिया है । दूसरी ओर श्वे० टीकाकारों ने असमस्त पद क्यों रखा है इसका खुलासा किया है ।

६ वनस्पत्यन्तानामेकम् स० रा० श्लो० ।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि[1][2] ॥२४॥

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २५ ॥

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २६ ॥

अनुश्रेणि गतिः ॥ २७ ॥

अविग्रहा जीवस्य ॥ २८ ॥

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २९ ॥

एकसमयोऽविग्रहः[3] ॥ ३० ॥

एकं द्वौ वाऽनाहारकः[4] ॥ ३१ ॥

सम्मूर्छनगर्भोपपातो जन्म[5] ॥ ३२ ॥

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३३॥

जराय्वण्डपोतजानां गर्भः[6] ॥ ३४ ॥

नारकदेवानामुपपातः[7] ॥ ३५ ॥

शेपाणां सम्मूर्छनम् ॥ ३६ ॥

---

१ सिद्धसेन कहते हैं कि कोई सूत्र में 'मनुष्य' पद अनार्ष समझते हैं।

२ सिद्धसेन कहते हैं कि कोई इसके बाद 'अतीन्द्रिया केवलिन' ऐसा सूत्र रखते हैं।

३ एकसमयाऽविग्रहा-स० रा० श्लो०।

४ द्वौ त्रीन्वा-स० रा० श्लो०। सूत्रगत वा शब्द से कोई 'तीन' का भी सग्रह करते थे ऐसा हरिभद्र और सिद्धसेन का कहना है।

५ -पाताज्जन्म-स०। -पादा जन्म-रा० श्लो०।

६ जरायुजाण्डपोतजानां गर्भः हा०। जरायुजाण्डपोतानां गर्भ -स० रा० श्लो०। रा० और श्लो० 'पोतज' पाठ के ऊपर आपत्ति करते हैं। सिद्धसेन को यह आपत्ति ठीक मालूम नहीं होती।

७ देवनारकाणामुपपाद' स० रा० श्लो०।

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव[1] ।४९।
नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥
न देवाः[2] ॥ ५१ ॥
औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः[3][4] ॥ ५२ ॥

बाद यह सूत्र रूप से आया है। सि० मे यह सूत्र क० ख० प्रति का पाठान्तर है।

१ –कं चतुर्दशपूर्वधर एव सि०। –कं प्रमत्तसंयतस्यैव–स० रा० श्लो०। सिद्धसेन का कहना है कि कोई 'अकृत्स्नश्रुतस्यर्द्धिमत.' ऐसा विशेषण और जोड़ते हैं।

२ इसके बाद स० रा० श्लो० मे "शेषास्त्रिवेदाः" ऐसा सूत्र है। श्वेताम्बरपाठ में यह सूत्र नहीं समझा जाता। क्योंकि इस मतलब का उनके यहाँ भाष्यवाक्य है।

३ औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसं–स० रा० श्लो०।

४ –चरमदेहोत्तमदेहपु–स–पा०, रा–पा०। सिद्धसेन का कहना है कि–इस सूत्र मे सूत्रकार ने 'उत्तमपुरुष' पद का ग्रहण नहीं किया है–ऐसा कोई मानते हैं। पूज्यपाद अकलङ्क और विद्यानन्द 'चरम' को 'उत्तम' का विशेषण समझते हैं।

तृतीयोऽध्यायः ।

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घना-म्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः[1] ॥ १ ॥[2]

तासु नरकाः[3] ॥ २ ॥

नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः[4] ॥ ३ ॥

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

जम्बूद्वीपलवणादयः[5] शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥

तत्र[6] भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

---

१ इसके विग्रह मे सिद्धान्त पाठ और सामर्थ्यगम्य पाठ की चर्चा सर्वार्थसिद्धि में है ।

२ पृथुतरा स० रा० श्लो० में नहीं । 'पृथुतराः' पाठ की अनावश्यकता अकलङ्क ने दिखलाई है ।

३ तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपंचदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् स० रा० श्लो० । इस सूत्र में सन्निहित गणना भाष्य में है ।

४ तेषु नारका नित्या–सि० । नारका नित्या–स० रा० श्लो० ।

५ –लवणोदादयः' स० रा० श्लो० ।

६ 'तत्र' स० रा० श्लो० में नहीं ।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध-नीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः[1][2] ॥ ११ ॥

द्विर्धातकीखण्डे ॥ १२ ॥

पुष्करार्धे च ॥ १३ ॥

प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ १४ ॥

आर्या म्लेच्छाश्च[3] ॥ १५ ॥

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः॥१६

नृस्थिती परापरे[4] त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ १७ ॥

तिर्यग्योनीनां[5] च ॥ १८ ॥

---

१ 'वंशधरपर्वताः' सि० ।

२ इस सूत्र के वाद "तत्र पञ्च" इत्यादि भाष्य वाक्य को कोई सूत्र समझते हैं ऐसा सिद्धसेन का कहना है । स० मे इस मतलव का सूत्र २४ वाँ है । हरिभद्र और सिद्धसेन कहते है कि यहाँ कोई विद्वान वहुत से नये सूत्र अपने आप वना करके विस्तार के लिए रखते हैं । यह उनका कथन सभवत सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ को लक्ष्य मे रखकर हो सकता है, क्योंकि उसमे इस सूत्र के वाद १२ सूत्र ऐसे है जो श्वे० सूत्र पाठ में नहीं । और उसके वाद के न० २४ और २५ वें सूत्र भी भाष्यमान्य ११ वें सूत्र के भाष्यवाक्य ही है । स० रा० के २६ से ३२ सूत्र भी अधिक ही हैं । स० का तेरहवाँ सूत्र श्लो० मे तोड़ कर दो वना दिया गया है । यहाँ अधिक सूत्रों के पाठ के लिये स० रा० श्लो० देखना चाहिए ।

३ आर्या म्लिशश्च—भा० हा० ।

४ परावरे—रा० श्लो० ।

५ तिर्यग्योनिजानां च स० रा० श्लो० ।

चतुर्थोऽध्यायः

देवाश्चतुर्निकायाः[1] ॥ १ ॥

[2]तृतीयः पीतलेश्यः ॥ २ ॥

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्या[3]त्मरक्षलोकपालानीक - प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

त्रायस्त्रिंश[4]लोकपालवर्ज्या[5] व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

पीता[6]न्तलेश्याः ॥ ७ ॥

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ८ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः[7] ॥ ९ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ १० ॥

---

१ देवाश्चतुर्णिकाया. स० रा० श्लो० ।

२ आदितस्त्रिपु पीतान्तलेश्याः स० रा० श्लो० । देखो, हिन्दी विवेचन पृ० १५३ टि० १

३ -पारिषदा-स० रा० श्लो० ।

४ -शल्लोक- स० ।

५. -वर्जा-सि०

६ यह सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं ।

७ 'द्वयोर्द्वयो' स० रा० श्लो० मे नहीं है। इन पदों को सूत्र मे रखना चाहिए ऐसी किसी की शका का समाधान करते हुए अकलङ्क कहते हैं कि ऐसा करने से आर्ष विरोध आता है।

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि-द्वीपदिक्कुमाराः ॥ ११ ॥

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगान्धर्व[1]यक्षराक्षसभूत-पिशाचाः ॥ १२ ॥

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो[2] ग्रहनक्षत्रप्रकीर्ण[3]तारकाश्च[4] ॥ १३

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥

तत्कृतः कालविभागः ॥ १५ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ १६ ॥

वैमानिकाः ॥ १७ ॥

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥

उपर्युपरि ॥ १९ ॥

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्र[5]ब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्र-सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे[6] च ॥२०॥

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतो-ऽधिकाः ॥ २१ ॥

---

१ –गन्धर्व–हा० स० रा० श्लो० ।

२ –सूर्याचन्द्रमसौ–स० रा० श्लो० ।

३ –प्रकीर्णकता० स० रा० श्लो० ।

४ ताराश्च–हा० ।

५ –माहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रा–स० रा० श्लो० । श्लो० में–सतार पाठ है ।

६ –सिद्धौ च स० रा० श्लो० ।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २२ ॥

पीत[1]पद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २३ ॥

प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २४ ॥

[2]ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥ २५ ॥

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाध[3]मरुतो-
ऽरिष्टाश्च ॥ २६ ॥

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २७ ॥

औपपा[4]तिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २८ ॥

स्थितिः[5] ॥ २९ ॥

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥३०॥

शेषाणां पादोने ॥ ३१ ॥

असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥ ३२ ॥

सौ[6]धर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

---

१ पीतमिश्रपद्ममिश्रशुक्ललेश्या द्विद्विचतुश्चतुः शेषेष्विति रा-पा० ।

२-लया लौका-स० रा० श्लो० । सि-पा० ।

३-व्याबाधारिष्टाश्च-स० रा० श्लो० । देखो हिन्दी विवेचन पृ० १७४ टि० १ ।

४-पादिक-स० रा० श्लो० ।

५ इससूत्र से ३२ वें सूत्र तक के लिए-'स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता'-ऐसा स० रा० श्लो० मे एक ही सूत्र है। श्वे० दि० दोनों परपराओं मे भवनपतिकी उत्कृष्ट स्थिति के विषय मे मतभेद है ।

६ इस सूत्र से ३५ वें तक के सूत्र के लिये एक ही सूत्र-सौधर्मैशानयोः

सागरोपमे ॥ ३४ ॥

अधिके च ॥ ३५ ॥

सप्त[1] सानत्कुमारे ॥ ३६ ॥

विशेष[2]त्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च ॥ ३७ ॥

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे[3] च ॥ ३८ ॥

अपरा पल्योपममधिकं च ॥ ३९ ॥

सागरोपमे[4] ॥ ४० ॥

अधिके च ॥ ४१ ॥

परतः परतः पूर्वापूर्वानन्तरा ॥ ४२ ॥

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४३ ॥

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४४ ॥

भवनेषु च ॥ ४५ ॥

व्यन्तराणां च ॥ ४६ ॥

सागरोपमे अधिके च– ऐसा स० रा० श्लो० में है। दोनों परपरा में स्थिति के परिमाण में भी अन्तर है। देखो, प्रस्तुत सूत्रों की टीकाएँ।

१ सानत्कुमारमाहेन्द्रयो• सप्त–स० रा० श्लो०।

२ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु–स० रा० श्लो०।

३ –सिद्धौ च–स० रा० श्लो०।

४ यह और इसके बादका सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं।

परा पल्योपमम्[1] ॥ ४७ ॥

ज्योतिष्काणामधिकम्[2] ॥ ४८ ॥

ग्रहाणामेकम्[3] ॥ ४९ ॥

नक्षत्राणामर्धम् ॥ ५० ॥

तारकाणां चतुर्भागः ॥ ५१ ॥

जघन्या त्वष्टभागः[4] ॥ ५२ ॥

चतुर्भागः शेषाणाम्[5] ॥ ५३ ॥

---

१ परा पल्योपममधिकम्–स० रा० श्लो० ।

२ ज्योतिष्काणां च–स० रा० श्लो० ।

३ यह और ५०, ५१ वें सूत्र स० रा० श्लो० मे नहीं ।

४ तदष्टभागोऽपरा स० रा० श्लो० । ज्योतिष्कों की स्थिति विषयक जो सूत्र दिगम्बरीय पाठ मे नहीं हैं उन सूत्रों के विषय की पूर्ति राजवार्तिककार ने इसी सूत्र के वार्तिकों में की है ।

५ स० रा० श्लो० मे नहीं । स० और रा० में एक और अंतिम सूत्र–लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्–४२ है । वह श्लो० में नहीं ।

पञ्चमोऽध्यायः ।

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

द्रव्याणि[1] जीवाश्च ॥ २ ॥

नित्यावस्थितान्यरूपाणि[2] ॥ ३ ॥

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ४ ॥

आकाशादेकद्रव्याणि[3] ॥ ५ ॥

निष्क्रियाणि च ॥ ६ ॥

असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः[4] ॥ ७ ॥

---

१ स० रा० श्लो० मे इस एक सूत्र के स्थान में 'द्रव्याणि' 'जीवाश्च' ऐसे दो सूत्र हैं। सिद्धसेन कहते हैं-"कोई इस सूत्र को उपर्युक्त प्रकार से दो सूत्र बनाकर पढ़ते हैं सो ठीक नहीं"।
अकलङ्क के सामने भी किसीने शङ्का उठाई है-"'द्रव्याणि जीवाः' ऐसा 'च' रहित एक सूत्र ही क्यों नहीं बनाते ?" विद्यानन्दका कहना है कि स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए ही दो सूत्र बनाए हैं।

२ सिद्धसेन कहते हैं-"कोई इस सूत्र को तोड़ कर '*नित्यावस्थितानि*' '*अरूपाणि*' ऐसे दो सूत्र बनाते हैं।" '*नित्यावस्थितारूपाणि*' ऐसा पाठान्तर भी वृत्ति मे उन्होंने दिया है। '*नित्ययावस्थितान्यरूपीणि*' ऐसा एक और भी पाठका निर्देश उन्होंने किया है। "कोई नित्यपद को अवस्थित का विशेषण समझते हैं" ऐसा भी वे ही कहते हैं। इस सूत्र की व्याख्या के मतान्तरों के लिये सिद्धसेनीय वृत्ति देखनी चाहिए।

३ देखो हिन्दी विवेचन पृ० १८६ टि० १।

४ -धर्माधर्मैकजीवानाम्-स० रा० श्लो०।

जीवस्य[1] ॥ ८ ॥

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

सङ्ख्येयासङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

नाणोः ॥ ११ ॥

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां[2] प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

गतिस्थित्युपग्रहो[3] धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

वर्तना[4] परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

---

१ स० रा० श्लो० में यह पृथक् सूत्र नहीं। पृथक् सूत्र क्यों किया गया है इसका रहस्य सिद्धसेन दिखाते हैं।

२ –विसर्पा–स० रा० श्लो०।

३ –पग्रहौ–सि० स० रा० श्लो०। अकलङ्कने द्विवचन का समर्थन किया है। देखो हिन्दी विवेचन पृ० २०० टि० १।

४ वर्तनापरिणामक्रियाः पर–स०। वर्तनापरिणामक्रिया पर–रा०। ये संपादकों की भ्रान्तिजन्य पाठान्तर मालूम होते है। क्योंकि दोनों टीकाकारों ने इस सूत्र में समस्त पद होने की कोई सूचना नहीं की।

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्द्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

संघातभेदेभ्य[1] उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

भेदादणुः ॥ २७ ॥

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः[2] ॥ २८ ॥

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं[3] सत् ॥ २९ ॥

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३० ॥

अर्पितानर्पितसिद्धेः[4] ॥ ३१ ॥

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३२ ॥

न[5] जघन्यगुणानाम् ॥ ३३ ॥

---

१ भेदसंघातेभ्य उ–स० रा० श्लो० ।

२ –चाक्षुषः स० रा० श्लो० । सिद्धसेन इस सूत्र के अर्थ करने में किसी का मतभेद दिखाते हैं ।

३ इस सूत्र से पहिले स० और श्लो० में 'सद् द्रव्यलक्षणम्' ऐसा सूत्र है । लेकिन रा० में ऐसा अलग सूत्र नहीं । उसमें तो यह बात उत्थान में ही कही गई है ।

४ इस सूत्र की व्याख्या में मतभेद है । हरिभद्र सब से निराला ही अर्थ लेते हैं । हरिभद्र ने जैसी व्याख्या की है वैसी व्याख्या का सिद्धसेन ने मतान्तर रूपसे निर्देश किया है ।

५ बन्ध की प्रक्रिया में श्वे० दि० के मतभेद के लिये देखो, हिन्दी-विवेचन पृ० २२३ ।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३४ ॥

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३५ ॥

[1]बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३६ ॥

गुणपर्यायवद् द्रव्यम् ॥ ३७ ॥

[2]कालश्चेत्येके ॥ ३८ ॥

सोऽनन्तसमयः ॥ ३९ ॥

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४० ॥

तद्भावः परिणामः ॥ ४१ ॥

[3]अनादिरादिमांश्च ॥ ४२ ॥

रूपिष्वादिमान् ॥ ४३ ॥

योगोपयोगौ जीवेषु ॥ ४४ ॥

---

१ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ स० श्लो०। रा० में सूत्र के अन्त में 'च' अधिक है। अकलंक ने 'समाधिकौ' पाठ का खण्डन किया है।

२ देखो हिन्दी विवेचन पृ० २३२ टि० १। कालश्च स० रा० श्लो०।

३ ये अन्त के तीन सूत्र स० रा० श्लो० में नहीं। भाष्य के मत का खण्डन राजवार्तिककार ने किया है। विस्तार के लिये देखो हिन्दी विवेचन पृ० २३६।

षष्ठोऽध्यायः

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

स आस्रवः ॥ २ ॥

शुभः[1] पुण्यस्य ॥ ३ ॥

अशुभः[2] पापस्य ॥ ४ ॥

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ५ ॥

अव्रत[3]कषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ६ ॥

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाव[4]वीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ७ ॥

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥ ८ ॥

---

१ देखो हिन्दी विवेचन पृ० २३९ टि० १।

२ यह सूत्ररूप से हा० में नहीं। लेकिन 'शेषं पापम्' ऐसा सूत्र है। सि० मे 'अशुभः पापस्य' सूत्र रूप से छपा है लेकिन टीका से मालूम होता है कि यह भाष्यवाक्य है। सिद्धसेन को भी 'शेषं पापम्' ही सूत्र रूप से अभिमत मालूम होता है।

३ इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया:– हा० सि०। स० रा० श्लो०। भाष्यमान्य पाठ में 'अव्रत' ही पहला है। सिद्धसेन सूत्र की टीका करते हैं तब उनके सामने 'इन्द्रिय'– पाठ प्रथम है। किन्तु सूत्रके भाष्यमे 'अव्रत' पाठ प्रथम है। सिद्धसेन को सूत्र और भाष्य की यह असगति मालूम हुई है और उन्होंने इसको दूर करने की कोशिश भी की है।

४ –भावाधिकरणवीर्यविशे– स० रा० श्लो०।

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय-
विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ९ ॥

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः
परम् ॥ १० ॥

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्श-
नावरणयोः ॥ ११ ॥

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्था-
न्यसद्वेद्यस्य ॥ १२ ॥

भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादि योगः[1] क्षान्तिः
शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥ १३ ॥

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १४ ॥

कषायोदयात्तीव्रा[2]त्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १५ ॥

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च[3] नारकस्यायुषः ॥ १६ ॥

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १७ ॥

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभा[4]वमार्दवार्जवं च मानु-
षस्य ॥ १८ ॥

---

१ भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः– स० रा० श्लो० ।

२ –तीव्रपरि० स० रा० श्लो० ।

३ –त्वं नार– स० रा० श्लो० ।

४ देखो हिन्दी विवेचन पृ० २५२ टि० १ । इसके स्थानमें दो सूत्र दि० परंपरा में हैं । एक ही सूत्र क्यों नहीं बनाया इस शंकाका समाधान भी दि० टीकाकारों ने दिया है ।

निः[1]शीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

[2]सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २१ ॥

वि[3]परीतं शुभस्य ॥ २२ ॥

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभी[4]क्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घ[5]साधुसमाधिवैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थ[6]कृत्त्वस्य ॥ २३ ॥

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गु[7]णाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २४ ॥

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २५ ॥

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २६ ॥

---

१ देखो हिन्दी विवेचन पृ० २५३ टि० १।

२ देखो हिन्दी विवेचन पृ० २५३ टि० २।

३ तद्विप–स० रा० श्लो०।

४ –भीक्ष्णज्ञा –स० रा० श्लो०।

५ –सी साधुसमाधिवै–स० रा० श्लो०।

६ तीर्थंकरत्वस्य स० रा० श्लो०।

७ –गुणोच्छा–स०। गुणच्छा–रा० श्लो०। सि– टी० सम्मत–'गुणच्छा'–टी०

सप्तमोऽध्यायः

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च[1] ॥ ३ ॥

हिंसादिष्विहामुत्र चापाया[2]वद्यदर्शनम् ॥ ४ ॥

दुःखमेव वा[3] ॥ ५ ॥

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि[4] सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु ॥ ६ ॥

---

१ 'पञ्च पञ्चशः' सि–वृ–पा०। अकलक के सामने 'पञ्चशः' पाठ होने की आशंका की गई है। इस सूत्र के बाद 'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥ शून्यागारविमोचितावास परोपरोधाकरणभैक्ष(क्ष्य–रा०) शुद्धिसद्धर्मा(सधर्मा–श्लो०)विसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥ ऐसे पाँच सूत्र स० रा० श्लो० मे हैं जिनका भाव इसी सूत्र के भाष्य मे है।

२ –मुत्रापाया–स० रा० श्लो०।

३ सिद्धसेन कहते हैं कि इसी सूत्र के 'व्याधिप्रतीकारत्वात् कण्डूपरिगतत्वाच्चाब्रह्म' तथा 'परिग्रहेष्वप्राप्तप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे वाऽवितृप्तिः' इन भाष्य वाक्यों को कोई दो सूत्ररूप मानते हैं।

४ –माध्यस्थानि च स–स० रा० श्लो०।

जगत्कायस्वभावौ च[1] संवेगवैराग्यार्थम् ॥ ७ ॥

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ८ ॥

असदभिधानमनृतम् ॥ ९ ॥

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १० ॥

मैथुनमब्रह्म ॥ ११ ॥

मूर्छा परिग्रहः ॥ १२ ॥

निःशल्यो व्रती ॥ १३ ॥

अगार्यनगारश्च ॥ १४ ॥

अणुव्रतोऽगारी ॥ १५ ॥

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधो[2]पवासोपभोगपरिभोग[3]परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च[4] ॥ १६ ॥

मारणान्तिकीं संलेखनां[5] जोषिता ॥ १७ ॥

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरति[6]चाराः ॥ १८ ॥

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ १९ ॥

---

१ –वौ वा सं–स० रा० श्लो० ।

२ –यिकप्रोषधो–स० रा० श्लो० ।

३ –परिभोगातिथि–भा० । सिद्धसेन वृत्ति में जो इस सूत्र का भाष्य है उसमें भी परिमाण शब्द नहीं है । देखो पृ० ९३. पं० १२ ।

४ देखो हिन्दी विवेचन पृ० २९३ टि० १ ।

५ सल्लेखनां स० रा० श्लो० ।

६ –रतीचाराः भा० सि० रा० श्लो० ।

बन्धवध[1]च्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२०॥

मिथ्योपदेशरहस्या[2]भ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥ २१ ॥

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिक-मानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २२ ॥

परविवाहकरणेत्वर[3]परिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्री-[4]डातीव्रकामाभिनिवेशा[5]ः ॥ २३ ॥

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणाति-क्रमाः ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धा[6]नानि ॥२५॥

---

१ –वधच्छेदाति– स० रा० श्लो० ।

२ –रहोभ्या– स० रा० श्लो० ।

३ –रणेत्वरिकापरि– स० रा० श्लो० ।

४ –डाकामतीव्राभि– स० रा० श्लो० ।

५ इस सूत्र के स्थान में कोई– '**परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशः(शाः)** ऐसा सूत्र मानते हैं, ऐसा सिद्धसेनका कहना है। यह सूत्र दिगम्बरीय पाठ से कुछ मिलता है। सपूर्ण नहीं। देखो ऊपर की टिप्पणी।

कोई लोग इसी सूत्र का पदविच्छेद '**परविवाहकरणम् इत्वरिकागमनं परिगृहीतापरिगृहीतागमनं अनङ्गक्रीडा तीव्रकामाभिनिवेश**' इस तरह करते हैं यह बात सिद्धसेन ने कही है। यह आक्षेप भी दिगम्बरीय व्याख्याओं पर हो ऐसा मालूम नहीं होता। इस प्रकार पदच्छेद करने वाला '**इत्वरिका**' पद का जो अर्थ करता है वह भी सिद्धसेन को मान्य नहीं।

६ –स्मृत्यन्तराधानानि स० रा० श्लो० ।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ २६ ॥

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि ॥ २७ ॥

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २८ ॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थापनानि ॥ २९ ॥

सचित्तसंबद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ॥ ३० ॥

सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ३१

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकरणानि ॥ ३२ ॥

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३३ ॥

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः ॥ ३४ ॥

---

१ किसी के मत से 'आनायन' पाठ है ऐसा सिद्धसेन कहते हैं।

२ पुद्गलप्रक्षेपाः भा० हा०। हा० वृत्ति ने तो 'पुद्गलक्षेपाः' ही पाठ है। सि– वृ० में पुद्गलप्रक्षेप प्रतीक है।

३ –कौकुच्य– भा० हा०।

४ –करणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि स० रा० श्लो०।

५ स्मृत्यनुपस्थानानि स० रा० श्लो०।

६ अप्रत्युपेक्षि– हा०।

७ दानसंस्तरो– स० रा० श्लो०।

८ –स्मृत्यनुपस्थानानि– स० रा० श्लो०।

९ –सम्बन्ध– स० रा० श्लो०।

१० –क्षेपापिधान– स० रा० श्लो०।

११ निदानानि स० रा० श्लो०।

अष्टमोऽध्यायः

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते[1] ॥ २ ॥

स बन्धः ॥ ३ ॥

प्रकृतिस्थित्यनुभाव[2]प्रदेशास्तद्विधयः ॥ ४ ॥

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्क[3]नामगो-त्रान्तरायाः ॥ ५ ॥

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा[4] यथा-क्रमम् ॥ ६ ॥

मत्यादीनाम्[5] ॥ ७ ॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला-प्रचलास्त्यानगृद्धि[6]वेदनीयानि[7] च ॥ ८ ॥

---

१ –दत्ते स बन्धः ॥ २ ॥ स० रा० श्लो०।

२ –त्यनुभव– स० रा० श्लो०।

३ –नीयायुर्नाम– स० रा० श्लो०।

४ –भेदो– रा०।

५ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् स० रा० श्लो०। किन्तु यह पाठ सिद्धसेन को अपार्थक मालूम होता है। अकलङ्क और विद्यानन्द श्वे० परंपरा संमत लघुपाठ की अपेक्षा उपर्युक्त पाठ को ही ठीक समझते हैं।

६ –स्त्यानर्द्धि– सि०। सि–भा० का पाठ 'स्त्यानगृद्धि' मालूम होता है क्योंकि सिद्धसेन कहता है कि– स्त्यानर्द्धिरिति वा पाठः।

७ –स्त्यानगृद्धयश्च स० रा० श्लो०। सिद्धसेन ने वेदनीय पद का समर्थन किया है।

सदसद्वेद्ये ॥ ९ ॥

दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रि-द्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषायनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः ॥ १० ॥

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ ११ ॥

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसङ्घातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च ॥ १२ ॥

---

१ दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः-स० रा० श्लो० ।

२ किसी को यह इतना लम्बा सूत्र नहीं जँचता उसको पूर्वाचर्य ने जो जवाब दिया है वही सिद्धसेन उद्धृत करते हैं—

"दुर्व्याख्यानो गरीयाश्च मोहो भवति बन्धनः ।
न तत्र लाघवादिष्ट सूत्रकारेण दुर्वचम् ॥"

३ –नुपूर्व्यागु –स० रा० श्लो० । सि–वृ० में 'आनुपूर्व्य' पाठ है । अन्य के मत से सिद्धसेन ने 'आनुपूर्वी' पाठ बताया है । दोनों के मत से सूत्रका भिन्न भिन्न आकार कैसा होगा यह भी उन्होंने दिखाया है ।

४ –देययशस्की(शःकी)र्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च स० रा० श्लो० ।

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १३ ॥

दानादीनाम्[1] ॥ १४ ॥

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटी-
कोट्यः परा स्थितिः ॥ १५ ॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १६ ॥

नामगोत्रयोर्विंशतिः[2] ॥ १७ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य[3] ॥ १८ ॥

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १९ ॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ २० ॥

शेषाणामन्तर्मुहूर्तम्[4] ॥ २१ ॥

विपाकोऽनुभावः[5] ॥ २२ ॥

स यथानाम ॥ २३ ॥

ततश्च निर्जरा ॥ २४ ॥

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढ[6]-
स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २५ ॥

सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि[7]
पुण्यम् ॥ २६ ॥

---

१ दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् स० रा० श्लो० ।
२ विंशतिर्नामगोत्रयोः स० रा० श्लो० ।
३ –ण्यायुष स० रा० श्लो० ।
४ –मुहूर्ता स० रा० श्लो० ।
५ –नुभव. स० रा० श्लो० ।
६ –वगाहस्थि– स० रा० श्लो० ।
७ देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३३१ टि० १ ।

नवमोऽध्यायः

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

तपसा निर्जरा च ॥ ३ ॥

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

उत्तमः[1] क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वा[2]स्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः[3] ॥७॥

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः[4] परीषहाः ॥ ८ ॥

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञाना[5]दर्शनानि ॥ ९ ॥

---

१ उत्तमक्ष– स० रा० श्लो०।

२ –शुच्यास्रव– स० रा० श्लो०।

३ "अपरे पठन्ति अनुप्रेक्षा इति अनुप्रेक्षितव्या इत्यर्थः। अपरे अनुप्रेक्षाशब्दमेकवचनान्तमधीयते"– सि– वृ०।

४ देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३४५ टि० १।

५ –प्रज्ञाज्ञानसम्यक्त्वानि हा०। हा–भा० मे तो अदर्शन पाठ मालूम होता है।

सूक्ष्मसंपरायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥[1]

एकादश जिने ॥ ११ ॥[2]

बादरसंपराये सर्वे ॥ १२ ॥[3]

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कार-पुरस्काराः ॥ १५ ॥

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

एकादयो भाज्या युगपदैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥[4]

सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराय-यथाख्यातानि चारित्रम् ॥ १८ ॥[5][6][7]

---

१ –साम्पराय– स० रा० श्लो० ।

२ देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३५० टि० १ ।

३ देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३५० टि० २ ।

४ –देकान्नविंशते हा० । –युगपदेकस्मिन्नैकान्नविंशतेः स० । युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः रा० श्लो० । लेकिन दोनों वार्तिकों में स० जैसा ही पाठ है ।

५ –पस्थापनापरि– स० रा० श्लो० ।

६ सूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति चा० स० रा० श्लो० । राजवार्तिककार को अथाख्यात पाठ इष्ट मालूम होता है क्योंकि उन्होंने यथाख्यात को विकल्प में रक्खा है । सिद्धसेन को भी अथाख्यात पाठ इष्ट है देखो पृ० २३५ पं० १८ ।

७ केचित् विच्छिन्नपदमेव सूत्रमधीयते– सिद्धसेन वृत्ति ।

अनशनावमौदर्य[1]वृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं[2] यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि[3] ॥ २२ ॥

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष[4]कग्लानगणकुलसङ्घसाधुसं[5]-मनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यान[6]म् ॥ २७ ॥

आ मुहूर्तात् ॥ २८ ॥

आर्तरौद्रधर्म[7]शुक्लानि ॥ २९ ॥

---

१ –वमोदर्य–स० रा० श्लो० ।

२ –द्विभेदा– स० श्लो० ।

३ –स्थापना. स० रा० श्लो० ।

४ –शैक्षग्ला–स० । शैक्ष्यग्ला–रा० श्लो० ।

५ –धुमनोज्ञानाम् स० रा० श्लो० ।

६ स० रा० श्लो० मे 'ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' है, अत २८ वाँ सूत्र उनमें अलग नहीं । देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३५९ टि० १ ।

७ –धर्म्यशु–स० रा० श्लो० ।

परे मोक्षहेतू ॥ ३० ॥

आर्तममनोज्ञानां[1] सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च[2] ॥ ३२ ॥

विपरीतं मनोज्ञानाम्[3] ॥ ३३ ॥

निदानं च ॥ ३४ ॥

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३५ ॥

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३६ ॥

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य[4] ॥ ३७ ॥

---

१ –नोज्ञस्य स० रा० श्लो० ।

२ इस सूत्र को स० रा० श्लो० मे 'विपरीतं मनोज्ञानाम्' के वाद रखा है अर्थात् उनके मतसे यह ध्यान का द्वितीय न होकरके तृतीय भेद है।

३ मनोज्ञस्य स० रा० श्लो० ।

४ –चयाय धर्म्यमप्र– हा० । –चयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥ स० रा० श्लो० । दिगम्वर सूत्रपाठ मे स्वामी का विधान करने वाला 'अप्रमत्तसंयतस्य' अश नहीं है। इतना ही नहीं वल्कि इस सूत्र के वाद का 'उपशान्तक्षीण–' यह सूत्र भी नहीं है। स्वामी का विधान सर्वार्थसिद्धि में है। उस विधान को लक्ष में रखकर अकलङ्क ने श्वे० परपरा समत सूत्रपाठ विषयक स्वामी का जो विधान है उसका खण्डन भी किया है। उसी का अनुगमन विद्यानन्द ने भी किया है, देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३६७ ।

उपशान्तक्षीणकषाययोश्च ॥ ३८ ॥

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः[1] ॥ ३९ ॥

परे केवलिनः ॥ ४० ॥

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रिया-निवृत्तीनि[2] ॥ ४१ ॥

तत्[3]त्र्येककाययोगायोगानाम् ॥ ४२ ॥

एकाश्रये सवितर्के पूर्वे[4] ॥ ४३ ॥

अविचारं[5] द्वितीयम् ॥ ४४ ॥

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४५ ।

विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४६ ॥

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोप-शमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽस-ङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४७ ॥

---

१ देखो हिन्दी विवेचन पृ० ३६७ टि० १। 'पूर्वविदः' यह अंश भा० हा० में न तो इस सूत्र के अंश रूप से छपा है और न अलग सूत्र रूप से। सि० में अलग सूत्र रूप से छपा है लेकिन टीकाकार उसको भिन्न नहीं मानता। दि० टीकाओं में इसी सूत्रके अंशरूप से छपा है।

२ 'निवर्तीनि' हा० सि०। स० रा० श्लो०। स० की प्रत्यन्तरका पाठ निवृत्तीनि भी है।

३ 'तत्' स० रा० श्लो० में नहीं।

४ -तर्कविचारे पूर्वे स०। -तर्कवीचारे पूर्वे रा० श्लो०।

५ संपादक की भ्रान्ति से यह सूत्र सि० में अलग नहीं छपा है। रा० और श्लो० में 'अवीचारं' पाठ है।

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४८ ॥

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपात[1]स्थानविकल्पतः साध्याः ॥ ४९ ॥

दशमोऽध्यायः

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥१॥

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्[2] ॥ २ ॥

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥ ३ ॥

[3]औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् ॥ ५ ॥

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः[4] ॥ ६ ॥

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसङ्ख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥ ७ ॥

---

१ लेश्योपपादस्था –स० रा० श्लो० ।

२ –भ्या कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥ स० रा० श्लो० ।

३ इसके स्थान में स० रा० श्लो० में 'औपशमिकादिभव्यत्वानां च' और 'अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य' ऐसे दो सूत्र हैं ।

४ 'तद्गति.' पद स० रा० श्लो० में नहीं है और इस सूत्र के बाद 'आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च' और 'धर्मास्तिकायाऽभावात्' ऐसे दो सूत्र और हैं जिनका मतलब भाष्य में ही आ जाता है ।

तत्त्वार्थसूत्र-विवेचन

का

विषयानुक्रम

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

सातवाँ अध्याय

विषयानुक्रम

आठवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

तत्त्वार्थ सूत्र

विवेचन सहित

॥ तत्त्वार्थ सूत्र ॥

विवेचन सहित

पहला अध्याय ।

प्राणी अनन्त हैं और वे सभी सुख को चाहते है । सुख की कल्पना भी सब की एक सी नहीं है, तथापि विकास की न्यूनाधिकता-कमीवेशी के अनुसार संक्षेप में प्राणियो के और उनके सुख के दो वर्ग किये जा सकते हैं । पहले वर्ग मे अल्प विकासवाले ऐसे प्राणी संमिलित है जिनके सुख की कल्पना बाह्य साधनो तक ही है । दूसरे वर्ग में अधिक विकासवाले ऐसे प्राणी आते हैं, जो बाह्य अर्थात् भौतिक साधनों की सम्पत्ति मे सुख न मानकर सिर्फ़ आध्यात्मिक गुणो की प्राप्ति में ही सुख मानते हैं । दोनो वर्ग के माने हुए सुख मे अन्तर यही है कि पहला सुख पराधीन और दूसरा स्वाधीन है । पराधीन सुख को काम और स्वाधीन सुख को मोक्ष कहते हैं । काम और मोक्ष—दो ही पुरुषार्थ हैं, क्योंकि उनके अतिरिक्त और कोई वस्तु प्राणिवर्ग के लिए मुख्य साध्य नहीं है । पुरुषार्थों मे अर्थ और धर्म की गिनती है सो मुख्य साध्यरूप से नहीं किन्तु काम और

प्रतिपाद्य विषय

मोक्ष के साधन रूप से। अर्थ ही काम का और धर्म ही मोक्ष का प्रधान साधन है। प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मोक्ष है। इसलिए उसीके साधनभूत धर्म को तीन विभागों में विभक्त करके शास्त्रकार पहले सूत्र में उनका निर्देश करते हैं—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । १ ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनों मिलकर मोक्ष के साधन हैं।

इस सूत्र में मोक्ष के साधनों का नाम निर्देश मात्र है। यद्यपि उनका स्वरूप और उनके भेद आगे विस्तार से कहे जानेवाले हैं, तथापि यहाँ संक्षेप में स्वरूपमात्र लिख दिया जाता है।

मोक्ष का स्वरूप

बन्ध और बन्ध के कारणों का अभाव होकर आत्मिक विकास के परिपूर्ण होने का नाम मोक्ष है। अर्थात् ज्ञान और वीतरागभाव की पराकाष्ठा ही मोक्ष है।

साधनों का स्वरूप

जिस गुण अर्थात् शक्ति के विकास से तत्त्व अर्थात् सत्य की प्रतीति हो, किंवा जिससे हेय—छोड़ने योग्य, उपादेय—ग्रहण योग्य तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो—वह सम्यग्दर्शन है। नय[1] और प्रमाण से होनेवाला

---

१ जो ज्ञान शब्द में उतारा जाता है अर्थात् जिसमें उद्देश्य और विधेय रूप से वस्तु भासित होती है वह ज्ञान—नय है, और जिसमें उद्देश्य विधेय के विभाग के सिवाय ही अर्थात् अविभक्त वस्तु का सम्पूर्ण या असम्पूर्ण यथार्थ भान हो वह ज्ञान—प्रमाण है। विशेष खुलासे के लिए देखो अध्याय १ सूत्र ६, तथा न्यायावतार श्लोक २९—३० का गुजराती अनुवाद।

जीव आदि तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान-पूर्वक काषायिक भाव अर्थात् राग, द्वेष और [1]योग की निवृत्ति होकर जो स्वरूप-रमण होता है वही [2]सम्यक्चारित्र है।

उक्त तीनों साधन जब परिपूर्ण रूप में प्राप्त होते हैं तभी सम्पूर्ण मोक्ष का संभव है अन्यथा नहीं। एक भी साधन जब-तक अपूर्ण रहेगा तब तक परिपूर्ण मोक्ष नहीं हो सकता।

साधनों का साहचर्य

उदाहरणार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के परिपूर्ण रूप में प्राप्त हो जाने पर भी सम्यक्चारित्र की [3]अपूर्णता के कारण ही तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण मोक्ष अर्थात् अशरीर सिद्धि या विदेह मुक्ति नहीं होती और चौदहवे गुणस्थान में शैलेशी[4]-अवस्था रूप परिपूर्ण चारित्र प्राप्त होते ही तीनो साधनों की परिपूर्णता के बलसे पूर्ण मोक्ष हो जाता है।

---

१ मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया को योग कहते हैं।

२ हिंसादि दोषों का त्याग और अहिंसादि महाव्रतों का अनुष्ठान सम्यक्चारित्र कहलाता है। यह इसलिए कि उसके द्वारा रागद्वेष की निवृत्ति की जाती है, एव रागद्वेष की निवृत्ति से दोषों का त्याग और महाव्रतों का पालन स्वत सिद्ध होता है।

३ यद्यपि तेरहवें गुणस्थान मे वीतरागभाव रूप चारित्र तो पूर्ण ही है फिर भी यहाँ जो अपुर्णता कही गई है सो वीतरागत्व और अयोगता—इन दोनों को पूर्ण चारित्र मानकर ही। ऐसा पूर्ण चारित्र चौदहवें गुण स्थान मे प्राप्त होता है और तुरन्त ही अशरीर सिद्धि होती है।

४ आत्मा की एक ऐसी अवस्था, जिसमें ध्यान की पराकाष्ठा के कारण मेरुसदृश निष्प्रकम्पता व निश्चलता आती है वही शैलेशी अवस्था है। विशेष खुलासे के लिए देखो- हिन्दी दूसरा कर्मग्रन्थ पृष्ठ ३०।

साहचर्य नियम

उक्त तीनों साधनों में से पहले दो अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य सहचारी होते हैं।

जैसे सूर्य का ताप और प्रकाश एक दूसरे को छोड़कर नहीं रह सकते वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक दूसरे के बिना नहीं रहते, पर सम्यक्चारित्र के साथ उनका साहचर्य[1] अवश्यंभावी नहीं है, क्योंकि सम्यक्चारित्र के बिना भी कुछ काल तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पाये जाते हैं। फिर भी उत्क्रान्ति (विकास) क्रमानुसार सम्यक्चारित्र का यह नियम है कि जब वह प्राप्त होता है तब उसके पूर्ववर्त्ती सम्यग्दर्शन आदि दो साधन अवश्य होते हैं।

प्रश्न–यदि आत्मिक गुणों का विकास ही मोक्ष है और सम्यग्-

---

१ एक ऐसा भी पक्ष है जो दर्शन और ज्ञान के अवश्यभावी साहचर्य को न मानकर वैकल्पिक साहचर्य को मानता है। उसके मतानुसार कभी दर्शनकाल में ज्ञान नहीं भी होता। इसका अर्थ यह है कि सम्यक्त्व प्राप्त होने पर भी देव-नारक-तिर्यञ्च को तथा कुछ मनुष्यों को विशिष्ट श्रुतज्ञान अर्थात् आचाराङ्गादि-अङ्गप्रविष्ट-विषयक ज्ञान नहीं होता। इस मत के अनुसार दर्शन के समय ज्ञान न पाये जाने का मतलब विशिष्ट श्रुतज्ञान न पाये जाने से है। परन्तु दर्शन और ज्ञान को अवश्य सहचारी माननेवाले पक्ष का आशय यह है कि दर्शन प्राप्ति के पहले जो मति आदि अज्ञान जीव में होता है वही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति या मिथ्यादर्शन की निवृत्ति से सम्यग् रूप में परिणत हो जाता है और मति आदि ज्ञान कहलाता है। इस मत के अनुसार जो और जितना विशेष बोध सम्यक्त्व-प्राप्ति काल में विद्यमान हो वही सम्यग्ज्ञान समझना, विशिष्टश्रुत मात्र नहीं।

दर्शन आदि उसके साधन भी आत्मा के खास खास गुण का विकास ही है तब फिर मोक्ष और उसके साधन में क्या अन्तर हुआ ?

उत्तर—कुछ नहीं।

प्रश्न—यदि अन्तर नहीं है तो मोक्ष साध्य और सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय उसका साधन, यह साध्य-साधनभाव कैसे ? क्योंकि साध्य-साधनसंबन्ध भिन्न वस्तुओं मे देखा जाता है।

उत्तर—साधक-अवस्था की अपेक्षा से मोक्ष और रत्नत्रय का साध्य-साधनभाव कहा गया है, सिद्ध-अवस्था की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि साधक का साध्य परिपूर्ण दर्शनादि रत्नत्रय रूप मोक्ष होता है और उसकी प्राप्ति उसे रत्नत्रय के क्रमिक विकास से ही होती है। यह शास्त्र साधक के लिए है सिद्ध के लिए नहीं। इससे इसमें साधक के लिए उपयोगी साध्य-साधन के भेद का ही कथन है।

प्रश्न—संसार में तो धन-कलत्र-पुत्रादि साधनों से सुख-प्राप्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, फिर उसे छोड़कर मोक्ष के परोक्ष सुख का उपदेश क्यो ?

उत्तर—मोक्ष का उपदेश इसलिए है कि उसमें सच्चा सुख मिलता है। संसार में सुख मिलता है सही, पर वह सच्चा सुख नहीं, सुखाभास है।

प्रश्न—मोक्ष मे सत्य सुख है और संसार में सुखाभास है सो कैसे ?

उत्तर—सांसारिक सुख इच्छा की पूर्ति से होता है। इच्छा का यह स्वभाव है कि एक इच्छा पूर्ण होते न होते दूसरी सैकड़ों

इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन सब इच्छाओं की तृप्ति होना संभव नहीं, अगर हो भी तो तब तक में ऐसी हजारों इच्छाएँ पैदा हो जाती है जिनका पूर्ण होना संभव नहीं। अतएव संसार मे इच्छापूर्तिजन्य सुख के पलड़े से अपूर्ण इच्छाजन्य दुःख का पलड़ा भारी ही रहता है। इसीसे उसमे सुखाभास कहा गया है। मोक्ष की स्थिति ऐसी है कि उसमें इच्छाओ का ही अभाव हो जाता है और स्वाभाविक संतोष प्रकट होता है। इससे उसमे संतोषजन्य सुख ही सुख है, यही सत्य सुख है। १।

सम्यग्दर्शन का लक्षण–

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। २।

यथार्थरूप से पदार्थों का निश्चय करने की जो रुचि वह सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु–

तन्निसर्गादधिगमाद्वा। ३।

वह (सम्यग्दर्शन) निसर्ग से अर्थात् परिणाम मात्र से अथवा अधिगम से अर्थात् उपदेशादि बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है।

जगत के पदार्थों को यथार्थरूप से जानने की रुचि सांसारिक और आध्यात्मिक दोनो की महत्त्वाकांक्षा से होती है। धन प्रतिष्ठा आदि किसी सासारिक वासना के कारण जो तत्त्वजिज्ञासा होती है वह सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि उसका नतीजा मोक्ष न होकर संसार होता है। परन्तु आध्यात्मिक विकास के कारण जो

तत्त्वनिश्चय की रुचि सिर्फ आत्मिक तृप्ति के लिए होती है— वही सम्यग्दर्शन है ।

आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न एक प्रकार का आत्मिक परिणाम जो ज्ञेयमात्र को तात्त्विक रूप मे जानने की, हेय को त्यागने की और उपादेय को ग्रहण करने की रुचि रूप है—वही निश्चय सम्यक्त्व है । और उस रुचि के बल से होनेवाली धर्मतत्त्व-निष्ठा का नाम व्यवहार सम्यक्त्व है ।

निश्चय और व्यवहार दृष्टि से पृथक्करण

सम्यग्दर्शन की पहचान करानेवाले प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य—ये पाँच लिङ्ग माने जाते हैं। १ तत्त्वों के असत् पक्षपात से होनेवाले कदाग्रह आदि दोषों का उपशम ही प्रशम है । २ सांसारिक बन्धनों का भय ही संवेग है । ३ विषयों में आसक्ति का कम हो जाना निर्वेद है । ४ दु खी प्राणियों के दु ख दूर करने की इच्छा अनुकम्पा है । ५ आत्मा आदि परोक्ष किन्तु युक्ति प्रमाण सिद्ध पदार्थों का स्वीकार ही आस्तिक्य है ।

सम्यक्त्व के लिङ्ग

सम्यग्दर्शन के योग्य आध्यात्मिक उत्क्रान्ति हो जाने पर सम्यग्दर्शन का आविर्भाव होता है । पर किसी आत्मा को उसके आविर्भाव में बाह्य निमित्त की अपेक्षा रहती है और किसी को नहीं । यह बात प्रसिद्ध है कि कोई व्यक्ति शिक्षक आदि की मदद से शिल्प आदि किसी कला को सीख लेता है और कोई दूसरे की मदद के बिना आप ही आप सीख लेता है । आन्तरिक कारण की समानता होने पर भी बाह्य निमित्त की अपेक्षा और अनपेक्षा को लेकर प्रस्तुत सूत्र में सम्यग्दर्शन

हेतुभेद

के निसर्ग-सम्यग्दर्शन और अधिगम-सम्यग्दर्शन ऐसे दो भेद किये गये हैं। बाह्य निमित्त भी अनेक प्रकार के होते हैं। कोई प्रतिमा आदि धर्म्य वस्तु के अवलोकन मात्र से सम्यग्दर्शन लाभ करता है, कोई गुरु का उपदेश सुनकर, कोई शास्त्र पढ़-सुन कर और कोई सत्संग पाकर।

अनादिकालीन संसार प्रवाह में तरह तरह के दु:खो का अनुभव करते करते योग्य आत्मा में कभी ऐसी परिणामशुद्धि हो जाती है जो उसके लिए अभी अपूर्व ही है। उस परिणामशुद्धि को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण से रागद्वेष की वह तीव्रता मिट जाती है जो तात्त्विक पक्षपात (सत्य मे आग्रह) की बाधक है। ऐसी राग द्वेष की तीव्रता मिटते ही आत्मा सत्य के लिए जागरूक बन जाता है। यह आध्यात्मिक जागरण ही सम्यक्त्व है। २,३।

[1]उत्पत्ति क्रम

तात्त्विक अर्थों का नाम निर्देश–

जीवाजीवास्रव[2]बन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। ४।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष–ये तत्त्व हैं।

---

१ उत्पत्ति क्रम की स्पष्टता के लिए देखो-हिन्दी दूसरा कर्मग्रन्थ पृ० ७ तथा चौथा कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना पृ० १३।

२ बौद्ध दर्शन में जो दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग चार आर्य सत्य है, साख्य तथा योग दर्शन में हेय, हेय हेतु, हान और हानोपाय चतुर्व्यूह है, जिसे न्यायदर्शन मे अर्थ-पद कहा है, उनके स्थान मे आस्रव से लेकर मोक्ष तक के पॉच तत्त्व जैनदर्शन में प्रसिद्ध हैं।

बहुत से ग्रन्थों में पुण्य और पाप को मिलाकर नव तत्त्व कहे गए हैं, परन्तु यहाँ पुण्य, पाप दोनों का समावेश आस्रव या बन्धतत्त्व में करके सिर्फ सात ही तत्त्व कहे गये हैं। अन्तर्भाव को इस प्रकार समझना चाहिए—पुण्य-पाप दोनों द्रव्य-भाव रूप से दो दो प्रकार के हैं। शुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपुण्य और अशुभ कर्मपुद्गल द्रव्यपाप है। इसलिए द्रव्यरूप पुण्य तथा पाप बन्धतत्त्व में अन्तर्भूत हैं, क्योंकि आत्मसंबद्ध कर्मपुद्गल या आत्मा और कर्मपुद्गल का सम्बन्ध विशेष ही द्रव्य बन्धतत्त्व कहलाता है। द्रव्यपुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय जो भावपुण्य और द्रव्यपाप का कारण अशुभ अध्यवसाय जो भावपाप कहलाता है वे भी बन्धतत्त्व में अन्तर्भूत हैं, क्योंकि बन्ध का कारणभूत कापायिक अध्यवसाय परिणाम ही भावबन्ध कहलाता है।

प्र०—आस्रव से लेकर मोक्ष तक के पाँच तत्त्व न तो जीव अजीव की तरह स्वतंत्र ही हैं और न अनादि अनन्त ही। किन्तु वे यथासम्भव सिर्फ जीव या अजीव की अवस्थाविशेष रूप हैं। इसलिए उन्हें जीव अजीव के साथ तत्त्वरूप से क्यों गिना?

उ०—वस्तु स्थिति वैसी ही है अर्थात् यहाँ तत्त्व शब्द का मतलब अनादि-अनन्त और स्वतंत्र भाव से नहीं है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति में उपयोगी होनेवाले ज्ञेय भाव से मतलब है। प्रस्तुत शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य मोक्ष होने से मोक्ष के जिज्ञासुओं के लिए जिन वस्तुओं का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है वे ही वस्तुएँ यहाँ तत्त्व रूप से कही गई हैं। मोक्ष तो मुख्य साध्य ही ठहरा, इसलिए उसको तथा उसके कारण को विना जाने मोक्षमार्ग में मुमुक्षु की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। इसी तरह यदि मुमुक्षु मोक्ष के विरोधी

तत्त्व का और उस विरोधी तत्त्व के कारण का स्वरूप न जाने तो भी वह अपने पथ मे अस्खलित प्रवृत्ति नहीं कर सकता। यह तो मुमुक्षु को सवसे पहले जान लेना पड़ता है कि अगर मैं मोक्ष का अधिकारी हूँ तो मुझ में पाया जानेवाला सामान्य स्वरूप किस किसमें है और किसमे नहीं ?। इसी ज्ञान की पूर्ति के लिए सात तत्त्वो का कथन है। जीव तत्त्व के कथन से मोक्ष का अधिकारी कहा गया। अजीव तत्त्व से यह सूचित किया गया कि जगत में एक ऐसा भी तत्त्व है जो जड़ होने के कारण मोक्षमार्ग के उपदेश का अधिकारी नहीं है। वन्धतत्त्व से मोक्ष का विरोधी भाव और आस्रवतत्त्व से उस विरोधी भाव का कारण वतलाया गया। संवर-तत्त्व से मोक्ष का कारण और निर्जरातत्त्व से मोक्ष का क्रम वत-लाया गया है। ४।

निक्षेपों का नाम निर्देश—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः। ५।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भावरूप से उनका अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि और जीव आदि का न्यास अर्थात् निक्षेप व विभाग होता है।

सभी व्यवहार या ज्ञान की लेन देन का मुख्य साधन भाषा है। भाषा शब्दों से वनती है। एक ही शब्द, प्रयोजन या प्रसंग के अनुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। हर एक शब्द के कम से कम चार अर्थ पाये जाते हैं। वे ही चार अर्थ उस शब्द के अर्थसामान्य के चार विभाग हैं। ऐसे विभाग ही निक्षेप

या न्यास कहलाते हैं। उनको जान लेने से वक्ता का तात्पर्य समझने में सरलता होती है। इसीलिए प्रस्तुत सूत्र में वे चार अर्थ-निक्षेप बतलाये गये हैं, जिससे यह पृथक्करण स्पष्टरूप से हो सके कि मोक्ष मार्ग रूप से सम्यग्दर्शन आदि अर्थ और तत्त्वरूप से जीवाजीवादि अर्थ अमुक प्रकार का लेना चाहिए, दूसरे प्रकार का नहीं। वे चार निक्षेप ये हैं १-जो अर्थ व्युत्पत्ति सिद्ध नहीं है सिर्फ माता, पिता या इतर लोगों के संकेत बल से जाना जाता है वह अर्थ नामनिक्षेप; जैसे-एक ऐसी व्यक्ति जिसमें सेवक योग्य कोई गुण नहीं है, पर किसी ने जिसका सेवक नाम रक्खा है-वह नामसेवक। २-जो वस्तु असली वस्तु की प्रतिकृति, मूर्ति या चित्र है अथवा जिसमें असली वस्तु का आरोप किया गया हो-वह स्थापनानिक्षेप, जैसे—किसी सेवक का चित्र, फोटो या मूर्ति-वह स्थापनासेवक। ३-जो अर्थ भावनिक्षेप का पूर्वरूप या उत्तररूप हो अर्थात् उसकी पूर्व वा उत्तर अवस्था रूप हो-वह द्रव्यनिक्षेप, जैसे-एक ऐसा व्यक्ति जो वर्त्तमान में सेवाकार्य नहीं करता, पर या तो वह सेवा कर चुका है या आगे करने वाला है-वह द्रव्यसेवक। जिस अर्थ में शब्द का [1]व्युत्पत्ति व

---

१ संक्षेप से नाम दो तरह के होते हैं—यौगिक और रूढ। रसोइया, सुनार इत्यादि यौगिक शब्द है। गाय, घोड़ा इत्यादि रूढ शब्द हैं। रसोई करे वह रसोइया और सोने का काम करे वह सुनार। यहाँ पर रसोई और सोने का काम करने की क्रिया ही रसोइया और सुनार-इन शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त है। अर्थात् ये शब्द ऐसी क्रिया के आश्रय से ही बने हैं और इसीलिए वह क्रिया ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त कही जाती है। यदि यही बात संस्कृत शब्दों में लागू करनी हो तो पाचक, कुम्भकार

प्रवृत्ति निमित्त बराबर घटित हो वह भावनिक्षेप, जैसे—एक ऐसा व्यक्ति जो सेवक योग्य कार्य करता है—वह भावसेवक।

सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग के और जीव-अजीवादि तत्त्वों के भी चार चार निक्षेप पाये जा सकते हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में वे भावरूप ही ग्राह्य हैं। ५।

तत्त्वों के जानने के उपाय–

प्रमाणनयैरधिगमः । ६ ।

प्रमाण और नयों से पदार्थों का ज्ञान होता है।

नय और प्रमाण दोनो ज्ञान ही हैं, परन्तु उनमें अन्तर यह है

आदि शब्दों में क्रमश पाक क्रिया और घट निर्माण क्रिया को व्युत्पत्ति निमित्त समझना चाहिए। साराश यह कि यौगिक शब्दो मे व्युत्पत्ति का निमित्त ही उनकी प्रवृत्ति का निमित्त बनता है लेकिन रूढ़ शब्दों के विषय मे ऐसा नहीं है। वैसे शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर व्यवहृत नहीं होते लेकिन रूढि के अनुसार उनका अर्थ होता है। गाय (गो) घोड़ा (अश्व) आदि शब्दों की कोई ख़ास व्युत्पत्ति होती नहीं लेकिन यदि कोई किसी प्रकार कर भी ले तो भी आखिर मे उसका व्यवहार तो रूढि के अनुसार ही देखा जाता है, व्युत्पत्ति के अनुसार नहीं। अमुक २ प्रकार की आकृति-जाति ही गाय, घोड़ा आदि रूढ़ शब्दों के व्यवहार का निमित्त है। अत उस २ आकृति-जाति को वैसे शब्दों का व्युत्पत्ति निमित्त नहीं लेकिन प्रवृत्ति निमित्त ही कहा जाता है।

जहाँ यौगिक शब्द (विशेषण रूप) हो वहाँ व्युत्पत्ति निमित्त वाले अर्थ को भाव निक्षेप और जहाँ रूढ शब्द (जाति नाम) हो वहाँ प्रवृत्ति निमित्त वाले अर्थ का भाव निक्षेप समझना।

कि—नय वस्तु के एक अंश का बोध कराता है और प्रमाण अनेक अंशों का। अर्थात् वस्तु में अनेक धर्म होते हैं, उनमें से जब किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाय, जैसे—नित्यत्व धर्म द्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्य है' ऐसा निश्चय करना तब वह नय है। और जब अनेक धर्म द्वारा वस्तु का अनेक रूप से निश्चय किया जाय जैसे—नित्यत्व, अनित्यत्व आदि धर्म द्वारा 'आत्मा या प्रदीप आदि वस्तु नित्यानित्य आदि अनेक रूप है' ऐसा निश्चय करना तब वह प्रमाण है। अथवा दूसरे शब्दों में यों समझना चाहिए कि नय यह प्रमाण का एक अंश मात्र है और प्रमाण यह अनेक नयों का समूह है, क्योंकि नय वस्तु को एक दृष्टि से ग्रहण करता है और प्रमाण उसे अनेक दृष्टिओं से ग्रहण करता है। ६।

नय और प्रमाण का अन्तर

तत्त्वों के विस्तृत ज्ञान के लिए कुछ मीमासा[1] द्वारों का निर्देश—

निर्देशस्वामित्वसाधनाऽधिकरणस्थितिविधानतः । ७ ।
सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालाऽन्तरभावाऽल्पबहुत्वैश्च । ८ ।

---

१ किसी भी वस्तु में प्रवेश करने का मतलब है उसकी जानकारी प्राप्त करना और विचार करना। ऐसा करने का मुख्य साधन उसके विषय में विविध प्रश्न करना ही है। प्रश्नों का जितना खुलासा मिले उतना ही उस वस्तु में प्रवेश समझना चाहिए। अत प्रश्न ही वस्तु में प्रवेश करने के अर्थात् विचारणा द्वारा उसकी तह तक पहुँचने के द्वार हैं। अत विचारणा (मीमांसा) द्वार का मतलब प्रश्न समझना चाहिए। शास्त्रों में उनको अनुयोग द्वार कहा गया है। अनुयोग अर्थात् व्याख्या या विवरण, उसके द्वार अर्थात् प्रश्न।

निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से।
तथा सत् , संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व से सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है।

छोटा या बड़ा कोई भी जिज्ञासु हो जब वह पहले पहल किसी विमान आदि नई वस्तु को देखता या उसका नाम सुनता है तब उसकी जिज्ञासावृत्ति जग उठती है, और इससे वह उस अदृष्टपूर्व या अश्रुतपूर्व वस्तु के संबंध में अनेक प्रश्न करने लगता है। वह उस वस्तु के स्वभाव, रूप रंग, उसके मालिक, उसके बनाने के उपाय, उसके रखने का स्थान, उसके टिकाउपन की अवधि उसके प्रकार आदि के संबंध में नानाविध प्रश्न करता है और उन प्रश्नों का उत्तर पाकर अपनी ज्ञानवृद्धि करता है। इसी तरह अन्तर्दृष्टि व्यक्ति भी मोक्षमार्ग को सुनकर या हेय उपादेय आध्यात्मिक तत्त्व सुनकर उसके संबंध में विविध प्रश्नों के द्वारा अपना ज्ञान बढ़ाता है। यही आशय प्रस्तुत दो सूत्रों मे प्रकट किया गया है। उदाहरणार्थ–निर्देश आदि सूत्रोक्त चौदह प्रश्नों को लेकर सम्यग्दर्शन पर संक्षेप में विचार किया जाता है।

१ निर्देश–स्वरूप–तत्त्वरुचि यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप है। २ स्वामित्व–अधिकारित्व–सम्यग्दर्शन का अधिकारी जीव ही है, अजीव नहीं क्योंकि वह जीव का ही गुण या पर्याय है। ३ साधन–कारण–दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम और क्षय ये तीन सम्यग्दर्शन के अन्तरङ्ग कारण हैं। उसके वहिरङ्ग कारण शास्त्रज्ञान, जातिस्मरण, प्रतिमादर्शन, सत्संग आदि अनेक हैं। ४ अधिकरण–आधार–सम्यग्दर्शन का आधार जीव ही है, क्योंकि

वह उसका परिणाम होने के कारण उसी मे रहता है। सम्यग्-दर्शन गुण है, इसलिए यद्यपि उसका स्वामी और अधिकरण जुदा जुदा नहीं है तथापि जीव आदि द्रव्य के स्वामी और अधि-करण का विचार करना हो, वहाँ उन दोनो मे जुदाई भी पाई जाती है। जैसे व्यवहारदृष्टि से देखने पर एक जीव का स्वामी कोई दूसरा जीव होगा पर अधिकरण उसका कोई स्थान या शरीर ही कहा जायगा। ५ स्थिति–कालमर्यादा–सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति सादि-अनन्त है। तीनो प्रकार के सम्यक्त्व अमुक समय में उत्पन्न होते हैं इसलिए वे सादि अर्थात् पूर्वावधिवाले हैं। परन्तु उत्पन्न होकर भी औपश-मिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कायम नहीं रहते इसलिए वे दो तो सान्त अर्थात् उत्तर अवधिवाले भी हैं। पर क्षायिक सम्य-क्त्व उत्पन्न होने के बाद नष्ट नहीं होता इसलिए वह अनन्त है। इसी अपेक्षा से सामान्यतया सम्यग्दर्शन को सादि सान्त और सादि अनन्त समझना चाहिए। ६ विधान–प्रकार–सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ऐसे तीन प्रकार हैं।

७ सत्–सत्ता–यद्यपि सम्यक्त्व गुण सत्तारूप से सभी जीवो में मौजूद है, पर उसका आविर्भाव सिर्फ भव्य जीवों मे हो सकता है, अभव्यो में नहीं। ८ संख्या–गिनती–सम्यक्त्व की गिनती उसे पानेवालो की संख्या पर निर्भर है। आज तक में अनन्त जीवो ने सम्यक्त्व-लाभ किया है और आगे अनन्त जीव उसको प्राप्त करेंगे, इस दृष्टि से सम्यग्दर्शन संख्या में अनन्त है। ९ क्षेत्र–लोकाकाश–सम्यग्दर्शन का क्षेत्र संपूर्ण लोकाकाश नहीं है किन्तु उसका असंख्यातवाँ भाग है। चाहे सम्यग्दर्शनी एक जीव को लेकर या

अनन्त जीवो को लेकर विचार किया जाय तो भी सामान्यरूप से सम्यग्दर्शन का क्षेत्र लोक का असंख्यातवाँ भाग समझना चाहिए क्योंकि सभी सम्यग्दर्शन वाले जीवों का निवास क्षेत्र भी लोक का असंख्यातवाँ भाग ही है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य होगा कि एक सम्यक्त्वी जीव के क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त जीवों का क्षेत्र, परिमाण मे बड़ा होगा, क्योंकि लोक का असंख्यातवाँ भाग भी तरतम भाव से असंख्यात प्रकार का होता है। १० स्पर्शन–निवासस्थान रूप आकाश के चारो ओर के प्रदेशों को छूना स्पर्शन है। क्षेत्र में सिर्फ आधारभूत आकाश ही लिया जाता है। और स्पर्शन मे आधार क्षेत्र के चारो तरफ के आकाश प्रदेश जो आधेय के द्वारा छुए गए हों वे भी लिये जाते हैं। यही क्षेत्र और स्पर्शन का भेद है। सम्यग्दर्शन का स्पर्शन भी लोक का असंख्यातवाँ भाग ही समझना चाहिए। पर यह भाग उसके क्षेत्र की अपेक्षा कुछ बड़ा होगा, क्योंकि इसमे क्षेत्रभूत आकाश के पर्यन्तवर्ती प्रदेश भी संमिलित हैं। ११ काल–समय–एक जीव की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन का काल विचारा जाय तो वह सादि सान्त या सादि अनन्त होगा पर सब जीवों की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त समझना चाहिए, क्योंकि भूतकाल का ऐसा कोई भी भाग नहीं है जब कि सम्यक्त्वी बिलकुल न रहा हो। भविष्यत् काल के विषय में भी यही बात है अर्थात् अनादि काल से सम्यग्दर्शन के आविर्भाव का क्रम जारी है जो अनन्तकाल तक चलता ही रहेगा। १२ अन्तर–विरहकाल–एक जीव को लेकर सम्यग्दर्शन के विरह-काल का विचार किया जाय तो वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और

१ दो समय से लेकर दो घड़ी–४८ मिनिट–में एक भी समय कम

उत्कृष्ट अपार्ध पुद्गलपरावर्त परिमाण समझना चाहिए; क्योंकि एक बार सम्यक्त्व का वमन-नाश हो जाने पर फिर से वह जल्दी से जल्दी अन्तर्मुहूर्त्त में पाया जा सकता है। और ऐसा न हुआ तो अन्त में अपार्ध पुद्गलपरावर्त्त के बाद अवश्य ही पाया जाता है। परन्तु नाना जीवों की अपेक्षा से तो सम्यग्दर्शन का विरह 5 काल बिलकुल नहीं होता, क्योंकि नाना जीवों में तो किसी न किसी को सम्यग्दर्शन होता ही रहता है। १३ भाव-अवस्था विशेष-सम्यक्त्व औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन तीन अवस्थाओं में पाया जाता है। ये भाव सम्यक्त्व के आवरणभूत दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से 10 जनित हैं। इन भावों से सम्यक्त्व की शुद्धि का तारतम्य जाना जा सकता है। [२]औपशमिक की अपेक्षा क्षायोपशमिक और क्षायो-

हो तो इतने काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। दो समय का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, दो घड़ी में एक समय कम उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त और बीच का सब काल मध्यम अन्तर्मुहूर्त समझना। 15

१ जीव पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर, भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करता है। जब कोई एक जीव जगत में विद्यमान समग्र पुद्गल परमाणुओं को आहारक शरीर के सिवाय शेष सब शरीरों के रूप में तथा भाषा, मन और श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करके-उन्हें छोड़ दे-इसमें जितना काल लगता है, उसे पुद्गल परावर्त कहते हैं। इसमें कुछ ही काल 20 कम हो तो उसे अपार्ध पुद्गल परावर्त कहते हैं।

२ यहाँ जो क्षायोपशमिक को औपशमिक की अपेक्षा शुद्ध कहा है, वह परिणाम की अपेक्षा से नहीं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से समझना। परिणाम की अपेक्षा से तो औपशमिक ही ज्यादा शुद्ध है। क्योंकि

पशमिक की अपेक्षा क्षायिक भाववाला सम्यक्त्व उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर होता है। उक्त तीन भावों के सिवाय दो भाव और भी हैं—औदयिक तथा पारिणामिक। इन भावों में सम्यक्त्व नहीं होता। अर्थात् दर्शनमोहनीय की उदयावस्था मे सम्य-क्त्व का आविर्भाव नहीं हो सकता। इसी तरह सम्यक्त्व अनादि काल से जीवत्व के समान अनावृत अवस्था में न पाये जाने के कारण पारिणामिक अर्थात् स्वाभाविक भी नहीं हैं।

१४ अल्पबहुत्व—न्यूनाधिकता—पूर्वोक्त तीन प्रकार के सम्यक्त्व में औपशमिक सम्यक्त्व सबसे अल्प है, क्योंकि ऐसे सम्य-क्त्व वाले जीव अन्य प्रकार के सम्यक्त्व वालों से हमेशा थोड़े ही पाये जाते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व असंख्यात गुण और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तगुण है। क्षायिक सम्यक्त्व के अनन्तगुण होने का कारण यह है कि यह सम्यक्त्व समस्त मुक्त जीवों मे होता है और मुक्त जीव अनन्त है। ७–८।

सम्यग्ज्ञान के भेद—

मतिश्रुताऽवधिमन पर्यायकेवलानि ज्ञानम्। ९।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल—ये पांच ज्ञान हैं।

जैसे सम्यग्दर्शन का लक्षण सूत्र में बतलाया है वैसे सम्यग्-

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे तो मिथ्यात्व का प्रदेशोदय हो सकता है, जब कि औपशमिक सम्यक्त्व के समय किसी तरह के मिथ्यात्व-मोहनीय के उदय का संभव नहीं। तथापि औपशमिक की अपेक्षा क्षायोपशमिक की स्थिति बहुत लम्बी होती है। इसी अपेक्षा से इसको विशुद्ध भी कह सकते है।

ज्ञान का नहीं बतलाया। यह इसलिए कि सम्यग्दर्शन का लक्षण जान लेने से सम्यग्ज्ञान का लक्षण अपने आप मालूम किया जा सकता है। वह इस प्रकार कि जीव कभी सम्यग्दर्शन रहित तो होता है, पर ज्ञान रहित नहीं होता। किसी न किसी प्रकार का ज्ञान उसमें अवश्य रहता है। वही ज्ञान सम्यक्त्व का आविर्भाव 5
होते ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। सम्यग्ज्ञान असम्यग्ज्ञान का अन्तर यही है कि पहला सम्यक्त्व सहचरित है और दूसरा सम्यक्त्व रहित अर्थात् मिथ्यात्व सहचरित है।

प्र०– सम्यक्त्व का ऐसा कौन सा प्रभाव है कि उसके अभाव में तो चाहे ज्ञान कितना ही अधिक और अभ्रान्त क्यों 10
न हो, पर वह असम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान कहलाता है। और चाहे ज्ञान थोड़ा अस्पष्ट व भ्रमात्मक हो पर वह सम्यक्त्व के प्रकट होते ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है ?

उ०– यह अध्यात्म शास्त्र है। इसलिए सम्यग्ज्ञान, असम्यग्ज्ञान का विवेक आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाता है, 15
न्याय या प्रमाण शास्त्र की तरह विषय की दृष्टि से नहीं किया जाता। न्यायशास्त्र में जिस ज्ञान का विषय यथार्थ हो वही सम्यग्ज्ञान–प्रमाण और जिसका विषय अयथार्थ हो वह असम्यग्-ज्ञान–प्रमाणाभास कहलाता है। परन्तु इस आध्यात्मिक शास्त्र में न्यायशास्त्र सम्मत सम्यग्ज्ञान, असम्यग्ज्ञान का वह विभाग मान्य 20
होने पर भी गौण है। यहाँ यही विभाग मुख्य है कि जिस ज्ञान से आध्यात्मिक उत्क्रान्ति–विकास हो वही सम्यग्ज्ञान, और जिसमें संसार वृद्धि या आध्यात्मिक पतन हो वही असम्यग्ज्ञान। संभव है सामग्री की कमी के कारण सम्यक्त्वी जीव को कभी

किसी विपय में संशय भी हो, भ्रम भी हो, एवं अस्पष्ट ज्ञान भी हो; पर वह सत्यगवेपक और कदाग्रहरहित होने के कारण अपने से महान् , प्रामाणिक, विशेषदर्शी व्यक्ति के आश्रय से अपनी कमी सुधार लेने को सदैव उत्सुक रहता है, तथा उसे सुधार भी
5 लेता है और अपने ज्ञान का उपयोग मुख्यतया वासनापोषण मे न करके आध्यात्मिक विकासमें ही करता है। सम्यक्त्वशून्य जीव का स्वभाव इससे उलटा होता है। सामग्री की पूर्णता की बदौलत उसे निश्चयात्मक अधिक और स्पष्ट ज्ञान हो भी तथापि वह अपनी कदाग्रही प्रकृति के कारण घमंडी होकर किसी विशेषदर्शी
10 के विचारों को भी तुच्छ समझता है और अन्त मे अपने ज्ञान का उपयोग आत्मिक प्रगति मे न करके सांसारिक महत्त्वाकांक्षा मे ही करता है। ९।

प्रमाण चर्चा—

तत् प्रमाणे । १० ।

15　**आद्ये परोक्षम् । ११ ।**

प्रत्यक्षमन्यत् । १२ ।

वह अर्थात् पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाणरूप है।

प्रथम के दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं।

शेष सब ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

20　प्रमाणविभाग　मति, श्रुत आदि जो ज्ञान के पॉच प्रकार कहे गये है, वे प्रत्यक्ष, परोक्ष—इन दो प्रमाणो मे विभक्त हो जाते है।

प्रमाण का सामान्य लक्षण पहले ही कहा जा चुका है कि

जो ज्ञान वस्तु को अनेकरूप से जानने वाला हो—वह प्रमाण।

प्रमाण लक्षण

उसके विशेष लक्षण ये है—(जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के विना ही सिर्फ आत्मा की योग्यता के वल से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष। और जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है।) 5

उक्त पाँच मे से पहले दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण कहलाते हैं,) क्योकि ये दोनो इन्द्रिय तथा मन की मदद से उत्पन्न होते है।

(अवधि, मनःपर्याय और केवल ये तीनो प्रत्यक्ष है) क्योकि वे इन्द्रिय तथा मन की मदद के सिवाय ही सिर्फ आत्मा की 10 योग्यता के वल से उत्पन्न होते हैं।

न्यायशास्त्र मे प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण दूसरे प्रकार से किया गया है। उसमे इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष और लिङ्ग (हेतु) तथा शब्दादिजन्य ज्ञान को परोक्ष कहा है; परन्तु वह लक्षण यहाँ स्वीकृत नहीं है। यहाँ तो आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान 15 प्रत्यक्ष रूप से और आत्मा के अलावा इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान परोक्ष रूप से इष्ट है। इसके अनुसार मति और श्रुत दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखनेवाले होने के कारण परोक्ष समझने चाहिएँ। और बाकी के अवधि आदि तीनो ज्ञान इन्द्रिय तथा मन की मदद के विना ही सिर्फ आत्मिक योग्यता 20 के वल से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष समझने चाहिएँ। इन्द्रिय तथा मनोजन्य मतिज्ञान को कहीं कहीं प्रत्यक्ष कहा है सो पूर्वोक्त

१ प्रमाणमीमासा आदि तर्क ग्रन्थों मे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप से इन्द्रिय-मनोजन्य अवग्रह आदि ज्ञान का वर्णन है। विशेष खुलासे के लिए

न्यायशास्त्र के लक्षणानुसार लौकिक दृष्टि को लेकर समझना चाहिए। १०,११,१२।

मतिज्ञान के एकार्थक शब्द—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् । १३ ।

5 मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध—ये शब्द पर्याय-भूत—एकार्थवाचक हैं।

प्र०— किस ज्ञान को मति कहते हैं ?

उ०— जो ज्ञान वर्त्तमान विषयक हो, उसे।

प्र०—क्या स्मृति, संज्ञा और चिन्ता भी वर्त्तमान विषयक ही हैं ?

10 उ०— नहीं, पूर्व मे अनुभव की हुई वस्तु के स्मरण का नाम स्मृति है, इसलिए वह अतीत विषयक है। पूर्व मे अनुभव की हुई और वर्त्तमान में अनुभव की जानेवाली वस्तु की एकता के अनुसंधान का नाम संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान है, इसलिए वह अतीत, वर्त्तमान-उभयविषयक है। और चिन्ता, भावी वस्तु की विचा-
15 रणा का नाम है इसलिए वह अनागत विषयक है।

प्र०— इस कथन से तो मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ये पर्याय शब्द नहीं हो सकते क्योंकि इनके अर्थ जुदे जुदे है।

उ०— विषय भेद और कुछ निमित्त भेद होने पर भी मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ज्ञान का अन्तरङ्ग कारण—जो मति ज्ञाना-
20 वरणीय कर्म का क्षयोपशम है वह सामान्य रूप से एक ही विवक्षित है इसी अभिप्राय से यहां मति आदि शब्दो को पर्याय कहा है।

देखो-न्यायावतार, गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना मे जैनप्रमाण मीमासा पद्धति का विकास क्रम।

प्र०— अभिनिवोध शव्द के विपय मे तो कुछ नही कहा? वह किस प्रकार के ज्ञान का वाचक है? यह बतलाइए।

उ०— अभिनिवोध शव्द सामान्य है वह मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता इन सभी ज्ञानो में प्रयुक्त होता है अर्थात् मति-ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले सब प्रकार के ज्ञानो के 5 लिए अभिनिवोध शव्द सामान्य है और मति आदि शव्द उस क्षयोपशम जन्य ख़ास ख़ास ज्ञानो के लिए हैं।

प्र०— इसी रीति से तो अभिनिवोध यह सामान्य हुआ और मति आदि उसके विशेप हुए फिर ये पर्याय शव्द कैसे?

उ०— यहाँ सामान्य और विशेष की भेद-विवक्षा न करके 10 सबको पर्याय शव्द कहा है। १३।

मतिज्ञान का स्वरूप—

तदिन्द्रियाऽनिन्द्रियनिमित्तम्। १४।

मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय रूप निमित्त से उत्पन्न होता है। 15

प्र०— यहाँ मतिज्ञान के इन्द्रिय और अनिन्द्रिय ये दो कारण वतलाए है। इनमें इन्द्रिय तो चक्षु आदि प्रसिद्ध है पर अनिन्द्रिय से क्या मतलव है?

उ०— अनिन्द्रिय का मतलव मन से है।

प्र०— जव चक्षु आदि तथा मन ये सभी मतिज्ञान के साधन है 20 तव एक को इन्द्रिय और दूसरे को अनिन्द्रिय कहने का क्या सवव?

उ०— चक्षु आदि वाह्य साधन हैं और मन आन्तर साधन है। यही भेद इन्द्रिय और अनिन्द्रिय संज्ञाभेद का कारण है। १४।

मतिज्ञान के भेद—

अवग्रहेहा[1]वायधारणाः । १५ ।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार भेद मतिज्ञान के हैं।

प्रत्येक इन्द्रियजन्य और मनोजन्य मतिज्ञान के चार चार भेद पाये जाते हैं। अतएव पाँच इन्द्रियाँ और एक मन इन छहों के अवग्रह आदि चार चार भेद गिनने से चौवीस भेद मतिज्ञान के होते हैं। उनके नाम यों समझने चाहिएँ—

स्पर्शन	अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन	,,	,,	,,	,,
घ्राण	,,	,,	,,	
चक्षु	,,	,,	,,	.
श्रोत्र	,,	,,	,,	,
मन	,,	,	,	,

अवग्रह आदि उक्त चारों भेदों के लक्षण

१ नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित जो सामान्य मात्र का ज्ञान—वह अवग्रह है। जैसे—गाढ अन्धकार में कुछ छू जाने पर यह कुछ है—ऐसा ज्ञान। इस ज्ञान में यह नहीं मालूम होता कि किस चीज का स्पर्श है, इसलिए वह अव्यक्त ज्ञान—अवग्रह है। २ अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये हुए सामान्य विषय को

१ '-वायधारणा' ऐसा भी पाठान्तर मिल जाता है।

विशेष रूप से निश्चित करने के लिए जो विचारणा होती है—वह ईहा। जैसे—यह रस्सी का स्पर्श है या साँप का ऐसा संशय होने पर ऐसी विचारणा होती है कि यह रस्सी का स्पर्श होना चाहिए। क्योंकि यदि साँप होता तो इतना सख्त आघात होने पर वह फूँकार किये बिना न रहता। यही विचारणा, संभावना या ईहा कहलाती है। (३ ईहा के द्वारा ग्रहण किये हुए विशेष का कुछ अधिक अवधान—एकाग्रता से जो निश्चय होता है वह अवाय। जैसे—कुछ काल तक सोचने और जाँच करने से ऐसे निश्चय का हो जाना कि यह साँप का स्पर्श नहीं; रस्सी का ही है वह अवाय कहलाता है। (४ अवायरूप निश्चय कुछ काल तक कायम रहता है, फिर विषयान्तर में मन चले जाने से वह निश्चय लुप्त तो हो जाता है पर ऐसे संस्कार को डाल जाता है कि जिससे आगे कभी कोई योग्य निमित्त मिलने पर उस निश्चित विषय का स्मरण हो आता है। इस निश्चय की सतत धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मरण—यह सब मतिव्यापार—धारणा है।

प्र०— क्या उक्त चार भेद का जो क्रम रक्खा है वह निर्हेतुक है या सहेतुक ?

उ०— सहेतुक है। सूत्रोक्त क्रम से यही सूचित करना है कि जो क्रम सूत्र में है उसी क्रम से अवग्रहादि की उत्पत्ति भी होती है। १५।

अवग्रह आदि के भेद—

बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितासन्दिग्धध्रुवाणां सेतराणाम्[१] । १६ ।

---

१ दिगम्बरीय टीका ग्रन्थों में यह सूत्र यों है "बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्" देखो राजवार्तिक पृ० ४४।

सेतर (प्रतिपक्ष सहित) ऐसे वहु, वहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा रूप मतिज्ञान होते हैं।

पाँच इन्द्रियाँ और एक मन इन छ साधनो से होने वाले मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा आदि रूप से जो चौवीस भेद कहे गए हैं वे सभी क्षयोपशम और विषय की विविधता से वारह वारह प्रकार के होते हैं। जैसे–

वहुग्राही	छ अवग्रह	छ ईहा	छ अवाय	छ धारणा
अल्पग्राही	"	"	"	"
वहुविधग्राही	"	"	"	"
एकविधग्राही	"	"	"	"
क्षिप्रग्राही	"	"	"	"
अक्षिप्रग्राही	"	"	"	"
अनिश्रितग्राही	"	"	"	"
निश्रितग्राही	"	"	"	"
असंदिग्धग्राही	"	"	"	"
संदिग्धग्राही	"	"	"	"
ध्रुवग्राही	"	"	"	"
अध्रुवग्राही	"	"	"	"

वहु का मतलव अनेक से और अल्प का मतलव एक से है। जैसे–दो या दो से अधिक पुस्तकों को जानने वाले अवग्रह, ईहा

आदि चारो क्रमभावी मतिज्ञान बहुग्राही अवग्रह, बहुग्राहिणी ईहा, बहुग्राही अवाय और बहुग्राहिणी धारणा कहलाते हैं। और एक पुस्तक को जाननेवाले अल्पग्राही अवग्रह, अल्पग्राहिणी ईहा, अल्पग्राही अवाय, अल्पग्राहिणी धारणा कहलाते हैं।

बहुविध का मतलब अनेक प्रकार से और एकविध का मतलब एक प्रकार से है। जैसे–आकार प्रकार, रूप रंग या मोटाई आदि मे विविधता रखने वाली पुस्तको को जानने वाले उक्त चारों ज्ञान क्रम से बहुविधग्राही अवग्रह, बहुविध ग्राहिणी ईहा, बहुविध ग्राही अवाय तथा बहुविधग्राहिणी धारणा और आकार प्रकार, रूप रग तथा मोटाई आदि मे एक ही किस्म की पुस्तकों को जानने वाले वे ज्ञान एकविधग्राही अवग्रह, एकविधग्राहिणी ईहा आदि कहलाते हैं। बहु तथा अल्प का मतलब व्यक्ति की संख्या से है और बहुविध तथा एकविध का मतलब प्रकार, किस्म या जाति की सख्या से है यही दोनो का अन्तर है।

शीघ्र जानने वाले चारो मतिज्ञान क्षिप्रग्राही अवग्रह आदि और विलंब से जानने वाले अक्षिप्रग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं। यह देखा जाता है कि इन्द्रिय, विषय आदि सब बाह्य सामग्री बराबर होने पर भी सिर्फ क्षयोपशम की पटुता के कारण एक मनुष्य उस विषय का ज्ञान जल्दी कर लेता है और क्षयोपशम की मन्दता के कारण दूसरा मनुष्य देरी से कर पाता है।

अनिश्रित का मतलब लिंग-अप्रमित अर्थात् हेतुद्वारा असिद्ध

१ अनिश्रित और निश्रित शब्द का जो अर्थ ऊपर बतलाया है वह नन्दीसूत्र की टीका मे भी है पर इसके सिवाय दूसरा अर्थ भी उस टीका मे श्रीमलयगिरिजी ने बतलाया है। जैसे—परधर्मों से मिश्रित

वस्तु से है और निश्रित का मतलब लिंग-प्रमित वस्तु से है। जैसे पूर्व में अनुभूत शीत, कोमल और स्निग्ध स्पर्शरूप लिंग से वर्तमान मे जूई के फूलो को जाननेवाले उक्त चारो ज्ञान क्रम से निश्रितग्राही (सलिंगग्राही) अवग्रह आदि और उक्त लिंग के
5 विना ही उन फूलो को जाननेवाले अनिश्रित ग्राही (अलिंगग्राही) अवग्रह आदि कहलाते हैं।

असंदिग्ध[1] का मतलब निश्चित से और सदिग्ध का मतलब

ग्रहण निश्रितावग्रह और परधर्मों से अमिश्रित ग्रहण अनिश्रितावग्रह है। देखो पृ० १८३, आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित।

10 दिगम्बरीय ग्रन्थों मे 'अनि.सृत' ऐसा पाठ है। तदनुसार उनमे अर्थ किया है कि सपूर्णतया आविर्भूत नहीं ऐसे पुद्गलों का ग्रहण 'अनिसृतावग्रह' और सपूर्णतया आविर्भूत पुद्गलों का ग्रहण 'नि सृतावग्रह' है। देखो इसी सूत्र का राजवार्त्तिक न० १५।

१ इसके स्थान मे दिगम्बरीय ग्रन्थों मे 'अनुक्त' ऐसा पाठ है।
15 तदनुसार उनमे अर्थ किया है कि एक ही वर्ण निकलने पर पूर्ण अनुच्चारित शब्द को अभिप्रायमात्र से जान लेना कि आप अमुक शब्द बोलने वाले है यह अनुक्तावग्रह। अथवा स्वर का सचारण करने से पहले ही वीणा आदि वादित्र की टनक मात्र से जान लेना कि आप अमुक स्वर निकालने वाले हैं यह अनुक्तावग्रह। इसके विपरीत उक्तावग्रह है। देखो इसी
20 सूत्र का राजवार्तिक न० १५।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थों मे नन्दीसूत्र मे असदिग्ध ऐसा एक मात्र पाठ है। उसका अर्थ ऊपर लिखे अनुसार ही उसकी टीका मे है, देखो पृ० १८३। परन्तु तत्त्वार्थभाष्य की वृत्ति मे अनुक्त पाठ भी दिया है। उसका अर्थ पूर्वोक्त राजवार्त्तिक के अनुसार है। किन्तु वृत्तिकार ने लिखा है कि

अनिश्चित से है, जैसे यह चन्दन का ही स्पर्श है, फूल का नहीं। इस प्रकार से स्पर्श को निश्चित रूप से जानने वाले उक्त चारो ज्ञान निश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते है। तथा यह चन्दन का स्पर्श होगा या फूल का, क्योकि दोनो शीतल होते है। इस प्रकार से विशेष की अनुपलब्धि के समय होनेवाले संदेहयुक्त चारो 5
ज्ञान अनिश्चितग्राही अवग्रह आदि कहलाते है।

ध्रुव का मतलब अवश्यभावी और अध्रुव का मतलब कदाचित् भावी से है। यह देखा गया है कि इन्द्रिय और विषय का संबन्ध तथा मनोयोग रूप सामग्री समान होने पर भी एक मनुष्य उस विषय को अवश्य ही जान लेता है और दूसरा उसे कभी जान 10
पाता है कभी नहीं। सामग्री होने पर विषय को अवश्य जानने वाले उक्त चारो ज्ञान ध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं और सामग्री होने पर भी क्षयोपशम की मन्दता के कारण विषय को कभी ग्रहण करने वाले और कभी न ग्रहण करनेवाले उक्त चारो ज्ञान अध्रुवग्राही अवग्रह आदि कहलाते हैं। 15

प्र०– उक्त बारह भेदो मे से कितने भेद विषय की विविधता और कितने भेद क्षयोपशम की पटुता मन्दता रूप विविधता के आधार पर किये गये है ?

उ०– बहु, अल्प, बहुविध और अल्पविध ये चार भेद विषय

अनुक्त पाठ रखने से इसका अर्थ सिर्फ शब्द विषयक अवग्रह आदि मे 20
ही लागू पड़ सकता है, स्पर्श विषयक अवग्रह आदि में नहीं। इस अपूर्णता के कारण अन्य आचार्यों ने असदिग्ध पाठ रक्खा है। देखो तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ५८ मनसुख भगुभाई द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद।

की विविधता पर अवलम्बित हैं ; शेष आठ भेद क्षयोपशम की विविधता पर।

प्र०– अब तक कुल भेद कितने हुए ?

उ०– दो सौ अट्ठासी।

5 प्र०– कैसे ?

उ०– पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छ भेदों के साथ अवग्रह आदि चार चार भेद गुनने से चौबीस और बहु, अल्प आदि उक्त बारह प्रकार के साथ चौबीस चौबीस गुनने से दो सौ अट्ठासी। १६।

सामान्यरूप से अवग्रह आदि का विषय–

10 अर्थस्य । १७।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चारों मतिज्ञान अर्थ–वस्तु को ग्रहण करते हैं।

अर्थ का मतलब वस्तु से है। वस्तु, द्रव्य–सामान्य, पर्याय–विशेष, दोनों को कहते हैं। इसलिए प्रश्न होता है कि क्या 15 इन्द्रियजन्य और मनोजन्य अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान द्रव्यरूप वस्तु को विषय करते हैं या पर्यायरूप वस्तु को ?

उ०– उक्त अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान मुख्यतया पर्याय को ग्रहण करते हैं, संपूर्ण द्रव्य को नहीं। द्रव्य को वे पर्याय के द्वारा ही जानते हैं, क्योंकि इन्द्रिय और मन का मुख्य विषय पर्याय 20 ही है। पर्याय, द्रव्य का एक अंश है। इसलिए अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान द्वारा जब इन्द्रियाँ या मन अपने अपने विषय भूत पर्याय को जानते हैं, तब वे उस उस पर्याय रूप से द्रव्य को भी अंशतः जान लेते हैं। क्योंकि द्रव्य को छोड़कर पर्याय नहीं रहता और द्रव्य

भी पर्याय रहित नहीं होता। जैसे नेत्र का विषय रूप और संस्थान–आकार आदि हैं जो पुद्गल द्रव्य के पर्याय विशेष हैं। नेत्र आम्रफल आदि को ग्रहण करता है, इसका मतलब सिर्फ यही है कि वह उसके रूप तथा आकार विशेष को जानता है। रूप और आकार विशेष आम से जुदा नहीं है इसलिए स्थूल 5 दृष्टि से यह कहा जाता है कि नेत्र से आम देखा गया, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि उसने संपूर्ण आम को ग्रहण नहीं किया। क्योंकि आम में तो रूप और संस्थान के अलावा स्पर्श, रस, गन्ध आदि अनेक पर्याय हैं जिनको जानने में नेत्र असमर्थ है। इसी तरह स्पर्शन, रसन और घ्राण इन्द्रियाँ 10 जब गरम गरम जलेबी आदि वस्तु को ग्रहण करती हैं तब वे क्रम से उस वस्तु के उष्ण स्पर्श, मधुर रस और सुगंधरूप पर्याय को ही जानती हैं। कोई भी एक इन्द्रिय उस वस्तु के संपूर्ण पर्यायों को जान नहीं सकती। कान भी भाषात्मक पुद्गल के ध्वनि-रूप पर्याय को ही ग्रहण करता है अन्य पर्याय को नहीं। मन भी 15 किसी विषय के अमुक अंश का ही विचार करता है। एक साथ संपूर्ण अंशों का विचार करने मे वह असमर्थ है। इससे यह सिद्ध है कि इन्द्रियजन्य और मनोजन्य अवग्रह, ईहा आदि चारों ज्ञान पर्याय को ही मुख्यतया विषय करते हैं और द्रव्य को वे पर्याय के द्वारा ही जानते हैं। 20

प्र०– पूर्व सूत्र और इस सूत्र में क्या संबन्ध है?

उ०– यह सूत्र सामान्य का वर्णन करता है और पूर्व सूत्र विशेष का। अर्थात् इस सूत्र मे पर्याय या द्रव्यरूप वस्तु को अवग्रह आदि ज्ञान का विषय जो सामान्य रूप से बतलाया है

उसीको संख्या, जाति आदि द्वारा पृथक्करण करके बहु, अल्प आदि विशेष रूप से पूर्व सूत्र में बतलाया है। १७।

इन्द्रियों की ज्ञानजनन पद्धति सबन्धी भिन्नता के कारण अवग्रह के अवान्तर भेद–

5 **व्यञ्जनस्याऽवग्रहः । १८ ।**

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् । १९ ।

व्यञ्जन–उपकरणेन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होने पर अवग्रह ही होता है।

नेत्र और मन से व्यञ्जन होकर अवग्रह नहीं होता।

10 लंगडे मनुष्य को चलने में लकड़ी का सहारा अपेक्षित है वैसे ही आत्मा की आवृत चेतना शक्ति को पराधीनता के कारण ज्ञान उत्पन्न करने में सहारे की अपेक्षा है। उसे बाहरी सहारा इन्द्रिय और मन का चाहिए। सब इन्द्रिय और मन का स्वभाव एकसा नहीं है, इसलिए उनके द्वारा होने वाली ज्ञानधारा के आवि-15 र्भाव का क्रम भी एकसा नहीं होता। यह क्रम दो प्रकार का है, मन्दक्रम और पटुक्रम।

मन्दक्रम में ग्राह्य विषय के साथ उस उस विषय की ग्राहक उपकरणेन्द्रिय का संयोग–व्यञ्जन होते ही ज्ञान का आविर्भाव होता है। शुरू में ज्ञान की मात्रा इतनी अल्प होती है कि उससे 'यह 20 कुछ है' ऐसा सामान्य बोध भी होने नहीं पाता परन्तु ज्यों ज्यों

१ इसके खुलासे के लिए देखो अ० २ सू० १७।

विषय और इन्द्रिय का संयोग पुष्ट होता जाता है त्यो त्यो ज्ञान की मात्रा भी बढ़ती जाती है। उक्त संयोग–व्यञ्जन की पुष्टि के साथ कुछ काल मे तज्जनित ज्ञानमात्रा भी इतनी पुष्ट हो जाती है कि जिससे विषय का 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य बोध–अर्थावग्रह होता है। इस अर्थावग्रह का पूर्ववर्त्ती ज्ञानव्यापार जो उक्त 5 व्यञ्जन से उत्पन्न होता है और उस व्यञ्जन की पुष्टि के साथ ही क्रमशः पुष्ट होता जाता है, वह सब व्यञ्जनावग्रह कहलाता है, क्योंकि उसके होने मे व्यञ्जन की अपेक्षा है। यह व्यञ्जनावग्रह नामक दीर्घ ज्ञानव्यापार उत्तरोत्तर पुष्ट होने पर भी इतना अल्प होता है कि उससे विषय का सामान्यबोध तक नहीं होता। 10 इसलिए उसको अव्यक्ततम, अव्यक्ततर, अव्यक्त ज्ञान कहते हैं। जब वह ज्ञानव्यापार इतना पुष्ट हो जाय कि उससे 'यह कुछ है' ऐसा सामान्य बोध हो सके तब वही सामान्य बोधकारक ज्ञानांश अर्थावग्रह कहलाता है। अर्थावग्रह भी व्यञ्जनावग्रह का एक चरम पुष्ट अंश ही है। क्योंकि उसमें भी विषय और इन्द्रिय का संयोग 15 अपेक्षित है।

तथापि उसको व्यञ्जनावग्रह से अलग कहने का और अर्थावग्रह नाम रखने का प्रयोजन यह है कि उस ज्ञानांश से होने वाला विषय का बोध ज्ञाता के ध्यान मे आ सकता है। अर्थावग्रह के बाद उसके द्वारा सामान्य रूप से जाने हुए विषय की विशेष 20 रूप से जिज्ञासा, विशेष का निर्णय, उस निर्णय की धारा, तज्जन्य संस्कार और संस्कारजन्य स्मृति यह सब ज्ञानव्यापार होता है, जो ईहा, अवाय और धारणा रूप से तीन विभागों मे पहले बतलाया जा चुका है। यह बात भूलनी न चाहिए कि इस मंदक्रम मे जो

उपकरणेन्द्रिय और विषय के संयोग की अपेक्षा कही गई है वह व्यञ्जनावग्रह के अंतिम अंश अर्थावग्रह तक ही है। इसके बाद ईहा, अवाय आदि ज्ञानव्यापार मे वह संयोग अनिवार्यरूप से अपेक्षित नहीं है क्योंकि उस ज्ञानव्यापार की प्रवृत्ति विशेष की ओर होने से उस समय मानसिक अवधान की प्रधानता रहती है। इसी कारण अवधारणयुक्त व्याख्यान करके प्रस्तुत सूत्र के अर्थ मे कहा गया है कि–'व्यञ्जनस्यावग्रह एव' व्यञ्जन का अवग्रह ही होता है अर्थात् अवग्रह–अव्यक्त ज्ञान तक ही व्यञ्जन की अपेक्षा है, ईहा आदि मे नहीं।

पटुक्रम में उपकरणेन्द्रिय और विषय के संग की अपेक्षा नहीं है। दूर, दूरतर होने पर भी योग्य सन्निधान मात्र से इन्द्रिय उस विषय को ग्रहण कर लेती है और ग्रहण होते ही उस विषय का उस इन्द्रिय द्वारा शुरू मे ही अर्थावग्रह रूप सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है। इसके बाद क्रमश ईहा, अवाय आदि ज्ञानव्यापार पूर्वोक्त मंदक्रम की तरह ही प्रवृत्त होता है। सारांश यह है कि पटुक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग हुए बिना ही ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है। जिसका प्रथम अंश अर्थावग्रह और चरम अंश स्मृतिरूप धारणा है। इसके विपरीत मंदक्रम में इन्द्रिय के साथ ग्राह्य विषय का संयोग होने पर ही ज्ञानधारा का आविर्भाव होता है। जिसका प्रथम अंश अव्यक्ततम, अव्यक्ततर-रूप व्यञ्जनावग्रह नामक ज्ञान, दूसरा अंश अर्थावग्रहरूप ज्ञान और चरम अंश स्मृतिरूप धारणा ज्ञान है।

मंदक्रम की ज्ञानधारा, जिसके आविर्भाव के लिए इन्द्रिय विषय संयोग की अपेक्षा है, उसको स्पष्टतया समझने के लिए

शराव–सकोरे का दृष्टान्त उपयोगी है। जैसे आवाप–भट्ठे मे से तुरन्त निकाले हुए अतिरूक्ष शराव मे पानी का एक बिंदु डाला जाय तो तुरन्त ही शराव उसे सोख लेता है, यहाँ तक कि उसका कोई नामोनिशान नहीं रहता। इसी तरह आगे भी एक एक करके डाले गए अनेक जलबिंदुओ को वह शराव सोख लेता है। पर अन्त मे ऐसा समय आता है जब कि वह जलबिंदुओं को सोखने मे असमर्थ होकर उनसे भीग जाता है और उसमे डाले हुए जलकण समूह रूप मे इकट्ठे होकर दिखाई देने लगते हैं। शराव की आर्द्रता पहले पहल तब ही मालूम होती है। इसके पूर्व मे भी शराव मे जल था पर उसने इस कदर जल को सोख लिया था कि उसमे जल बिलकुल समा गया था। वह दृष्टि मे आने लायक नहीं था पर उस शराव मे वह था अवश्य। जब जल की मात्रा बढ़ी और शराव की सोखने की शक्ति कम हुई तब कहीं आर्द्रता दिखाई देने लगी और जो जल प्रथम शराव के पेट मे समा गया था वही अब उसके ऊपर के तल मे इकट्ठा होने लगा और दिखलाई दिया। इसी तरह जब किसी सुषुप्त व्यक्ति को पुकारा जाता है तब वह शब्द उसके कान मे गायब सा हो जाता है। दो चार बार पुकारने से उसके कान मे जब पौद्गलिक शब्दो की मात्रा काफी रूप मे भर जाती है तब जलकणो से पहले पहल आर्द्र होने वाले शराव की तरह उस सुषुप्त व्यक्ति के कान भी शब्दो से परिपूरित होकर उनको सामान्य-रूप से जानने मे समर्थ होते है कि 'यह क्या है' यही सामान्य ज्ञान है जो शब्द को पहले पहल स्फुटतया जानता है। इसके बाद विशेष ज्ञान का क्रम शुरू होता है। अर्थात् जैसे कुछ काल

दृष्टान्त

5 10 15 20

तक जलबिंदु पड़ते रहने ही से रूक्ष शराव क्रमशः आर्द्र बन जाता है और उसमें जल दिखाई देता है, वैसे ही कुछ काल तक शब्दपुद्गलों का संयोग होते रहने से सुषुप्त व्यक्ति के कान परिपूरित हो कर उन शब्दों को सामान्य रूप में जान पाते हैं और
5 पीछे शब्दों की विशेषताओं को जानते हैं। यद्यपि यह क्रम सुषुप्त की तरह जागृत व्यक्ति मे भी बराबर लागू पड़ता है पर वह इतना शीघ्रभावी होता है कि साधारण लोगों के ध्यान में मुश्किल से आता है। इसी लिए शराव के साथ सुषुप्त का साम्य दिखलाया जाता है।

10 पटुक्रमकी ज्ञानधारा के लिए आयने का दृष्टान्त ठीक है। जैसे आयने के सामने कोई वस्तु आई कि तुरन्त ही उसका उसमें प्रतिबिंब पड़ जाता है और वह दिखाई देता है। इसके लिए आयने के साथ प्रतिबिंबित वस्तु के साक्षात् संयोग की जरूरत नहीं है, जैसे कि कान के साथ शब्दों के साक्षात् संयोग की।
15 सिर्फ प्रतिबिंबग्राही दर्पण और प्रतिबिंबित होनेवाली वस्तु का योग्य देश मे सन्निधान आवश्यक है। ऐसा सन्निधान होते ही प्रतिबिंब पड़ जाता है और वह तुरन्त ही दीख पड़ता है। इसी तरह नेत्र के सामने कोई रंगवाली वस्तु आई कि तुरंत ही वह सामान्य रूप मे दिखाई देती है। इसके लिए नेत्र और उस
20 वस्तु का संयोग अपेक्षित नहीं है, जैसा कि कान और शब्द का संयोग अपेक्षित है। सिर्फ दर्पण की तरह नेत्र का और उस वस्तु का योग्य सन्निधान चाहिए इसीसे पटुक्रम में पहले पहल अर्थावग्रह माना गया है।

मन्दक्रमिक ज्ञानधारा मे व्यञ्जनावग्रह को स्थान है और

पटुक्रमिक ज्ञानधारा में नहीं। इसलिए यह प्रश्न होता है कि व्यञ्जनावग्रह किस किस इन्द्रिय से होता है और किस किस से नहीं, इसीका उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया है। नेत्र और मन से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता क्योंकि ये दोनो संयोग विना ही किये हुए योग्य सन्निधान मात्र से या अवधान से अपने अपने ग्राह्य विषय 5 को जान पाते हैं। यह कौन नहीं जानता कि दूर, दूरतरवर्ती वृक्ष पर्वत आदि को नेत्र ग्रहण कर लेता है और मन सुदूरवर्त्ती वस्तु का भी चिन्तन कर लेता है। इसीसे नेत्र तथा मन अप्राप्यकारी माने गए हैं और उनसे होने वाली ज्ञानधारा को पटुक्रमिक कहा है। कर्ण, जिह्वा, घ्राण और स्पर्शन ये चार इन्द्रियाँ मन्द- 10 क्रमिक ज्ञानधारा की कारण हैं। क्योंकि ये चारों प्राप्यकारी अर्थात् ग्राह्य विषयो से संयुक्त होकर ही उनको ग्रहण करती हैं। यह सबका अनुभव है कि जब तक शब्द कान मे न पड़े, शक्कर जीभ से न लगे, पुष्प का रज.कण नाक में न घुसे और जल शरीर को न छूए तब तक न तो शब्द ही सुनाई देगा, न शक्कर 15 का ही स्वाद आएगा, न फूल की सुगंध ही मालूम देगी और न जल ही ठंडा या गरम जान पड़ेगा।

प्र०— मतिज्ञान के कुल भेद कितने हुए ?

उ०— ३३६।

प्र०— कैसे ? 20

उ०— पाँच इन्द्रियाँ और मन इन सबके अर्थावग्रह आदि चार चार भेद गिनने से चौबीस तथा उनमें चार प्राप्यकारी इन्द्रियों के चार व्यञ्जनावग्रह मिलाने से अट्ठाईस। इन सबके बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध आदि बारह बारह भेद गिनने से ३३६ हुए।

यह भेद की गिनती स्थूल दृष्टि से है। वास्तविक रूप मे देखा जाय तो प्रकाश आदि की स्फुटता, अस्फुटता, विषयो की विविधता और क्षयोपशम की विचित्रता के आधार पर तरतमभाव वाले अनन्त भेद होते हैं।

5 प्र०— पहले जो बहु, अल्प आदि बारह भेद कहे हैं सो विषयगत विशेषो मे ही लागू पड़ते हैं, और अर्थावग्रह का विषय तो सामान्य मात्र है। इससे वे अर्थावग्रह मे कैसे घट सकते हैं ?

उ०— अर्थावग्रह दो प्रकार का माना गया है। व्यावहारिक और नैश्चयिक। बहु, अल्प आदि जो बारह भेद कहे गये हैं वे 10 प्रायः व्यावहारिक अर्थावग्रह के ही समझने चाहिएँ, नैश्चयिक के नहीं। क्योंकि नैश्चयिक अर्थावग्रह मे जाति-गुण-क्रिया शून्य सामान्य मात्र प्रतिभासित होता है। इसलिए उसमे बहु, अल्प आदि विशेषो के ग्रहण का संभव ही नहीं।

प्र०— व्यावहारिक और नैश्चयिक मे क्या अन्तर है ?

15 उ०— जो अर्थावग्रह पहले पहल सामान्यमात्र को ग्रहण करता है वह नैश्चयिक और जिस जिस विशेषग्राही अवायज्ञान के बाद अन्यान्य विशेषो की जिज्ञासा और अवाय होते रहते हैं वे सामान्य-विशेषग्राही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह हैं, वही अवायज्ञान व्यावहारिक अर्थावग्रह नहीं है जिसके बाद अन्य 20 विशेषो की जिज्ञासा न हो। अन्य सभी अवायज्ञान जो अपने बाद नये नये विशेषों की जिज्ञासा पैदा करते हैं वे व्यावहारिक अर्थावग्रह हैं।

प्र०— अर्थावग्रह के बहु, अल्प आदि उक्त बारह भेदो के संबन्ध में जो यह कहा गया कि वे भेद व्यावहारिक अर्थावग्रह

के लेने चाहिएँ, नैश्चयिक के नहीं। इस पर प्रश्न होता है कि यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो फिर उक्त रीति से मतिज्ञान के ३३६ भेद कैसे हो सकेंगे? क्योंकि अट्ठाईस प्रकार के मतिज्ञान के बारह बारह भेद गिनने से ३३६ भेद होते हैं और अट्ठाईस प्रकार में तो चार व्यञ्जनावग्रह भी आते हैं, जो नैश्चयिक 5 अर्थावग्रह के भी पूर्ववर्त्ती होने से अत्यन्त अव्यक्तरूप है। इसलिए उनके बारह बारह-कुल अड़तालीस भेद निकाल देने पड़ेंगे।

उ०– अर्थावग्रह में तो व्यावहारिक को लेकर उक्त बारह भेद स्पष्टतया घटाए जा सकते हैं। इसलिए स्थूल दृष्टि से वैसा उत्तर दिया गया है। वास्तव में नैश्चयिक अर्थावग्रह और उसके पूर्ववर्त्ती 10 व्यञ्जनावग्रह के भी बारह बारह भेद समझ लेने चाहिएँ। सो कार्यकारण की समानता के सिद्धांत पर अर्थात् व्यावहारिक अर्थावग्रह का कारण नैश्चयिक अर्थावग्रह है और उसका कारण व्यञ्जनावग्रह है। अब यदि व्यावहारिक अर्थावग्रह में स्पष्टरूप से बहु, अल्प आदि विषयगत विशेषों का प्रतिभास होता है तो 15 उसके साक्षात् कारणभूत नैश्चयिक अर्थावग्रह और व्यवहित कारण व्यञ्जनावग्रह में भी उक्त विशेषों का प्रतिभास मानना पड़ेगा। जो कि वह प्रतिभास अस्फुट होने से दुर्ज्ञेय है। अस्फुट हो या स्फुट यहाँ सिर्फ संभव की अपेक्षा से उक्त बारह बारह भेद गिनने चाहिएँ। १८, १९। 20

श्रुतज्ञान का स्वरूप और उसके भेद–

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्। २०।

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। वह दो प्रकारका, अनेक प्रकार का और बारह प्रकार का है।

मतिज्ञान कारण और श्रुतज्ञान कार्य है, क्योंकि मतिज्ञान से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। इसीसे उसको मतिपूर्वक कहा है। जिस विषय का श्रुतज्ञान करना हो उस विषय का मतिज्ञान पहले अवश्य होना चाहिए। इसीसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का पालन और पूरण करनेवाला कहलाता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का कारण है पर वह वहिरङ्ग कारण, उसका अन्तरङ्ग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। क्योंकि किसी विषय का मतिज्ञान हो जाने पर भी यदि उक्त क्षयोपशम न हो तो उस विषय का श्रुतज्ञान नहीं हो सकता।

प्र०— मतिज्ञान की तरह श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में भी इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित है फिर दोनों में अन्तर क्या है? जब तक दोनों का भेद स्पष्टतया न जाना जाय तब तक 'श्रुतज्ञान मतिपूर्वक है' यह कथन कोई खास अर्थ नहीं रखता। इसी तरह मतिज्ञान का कारण मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम और श्रुतज्ञानका कारण श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम है। इस कथन से भी दोनों का भेद ध्यान में नहीं आता क्योंकि क्षयोपशम भेद साधारण बुद्धिगम्य नहीं है।

उ०— मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, विद्यमान तथा भावी इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। इस विषयकृत भेद के सिवाय दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दोल्लेख[1] नहीं होता और श्रुतज्ञान में होता है। अतएव दोनों का फलित लक्षण यह है कि जो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख सहित है वह श्रुत-

१ शब्दोल्लेख का मतलब व्यवहारकाल में शब्द शक्तिग्रह जन्यत्व से

ज्ञान, और जो शब्दोल्लेख रहित है वह मतिज्ञान। सारांश यह है कि दोनों ज्ञानों में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा तुल्य होने पर भी मति की अपेक्षा श्रुत का विषय भी अधिक है और स्पष्टता भी अधिक है। क्योंकि श्रुत मे मनोव्यापार की प्रधानता होने से विचारांश अधिक व स्पष्ट होता है और पूर्वापर का अनुसंधान 5 भी रहता है। अथवा दूसरे शब्दों मे यों कहा जा सकता है कि इन्द्रिय तथा मनोजन्य एक दीर्घ ज्ञानव्यापार का प्राथमिक अपरिपक्व अंश मतिज्ञान और उत्तरवर्ती परिपक्व व स्पष्ट अंश श्रुतज्ञान है। इसीसे यों भी कहा जाता है कि जो ज्ञानभाषा मे उतारा जा सके वह श्रुतज्ञान और जो ज्ञानभाषा मे उतारने लायक परिपाक 10 को प्राप्त न हो वह मतिज्ञान। अगर श्रुतज्ञान को खीर कहे तो मतिज्ञान को दूध कहना चाहिए।

प्र०— श्रुत के दो, अनेक और बारह प्रकार कहे सो कैसे ?

उ०— अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट रूप से श्रुतज्ञान दो प्रकार का है। इनमे से अङ्गबाह्य श्रुत उत्कालिक-कालिक भेद से अनेक 15 प्रकार का है। और अङ्गप्रविष्ट श्रुत आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि रूप से बारह प्रकार का है।

प्र०— अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट का अन्तर किस अपेक्षा से है ?

उ०— वक्तृभेद की अपेक्षा से। तीर्थङ्करों के द्वारा प्रकाशित ज्ञान को उनके परम मेधावी साक्षात् शिष्य गणधरों ने ग्रहण करके 20 उस ज्ञान को, जो द्वादशाङ्गीरूप में सूत्रबद्ध किया वह अङ्गप्रविष्ट, और कालदोष कृत बुद्धि, बल और आयु की कमी को देखकर

है अर्थात् जैसे श्रुतज्ञान की उत्पत्ति के समय संकेत स्मरण और श्रुतग्रंथ का अनुसरण अपेक्षित है वैसे ईहा आदि मतिज्ञान की उत्पत्ति में अपेक्षित नहीं है।

सर्वसाधारण के हित के लिए उसी द्वादशाङ्गी मे से भिन्न भिन्न विषयो पर गणधरो के पश्चाद्वर्ती शुद्ध बुद्धि आचार्यों ने जो शास्त्र रचे वे अङ्गबाह्य अर्थात् जिस शास्त्र के रचयिता गणधर हैं वह अङ्गप्रविष्ट और जिसके रचयिता अन्य आचार्य है, वह अङ्गबाह्य।

5 प्र०– बारह अङ्ग कौन से ? और अनेकविध अङ्गबाह्य में मुख्यतया कौन कौन प्राचीन ग्रन्थ गिने जाते हैं ?

उ०– आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र), ज्ञातधर्म कथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ये बारह 10 अङ्ग है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दनक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छ आवश्यक तथा दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, व्यवहार, निशीथ और ऋषिभाषित[1] आदि शास्त्र अङ्गबाह्य मे सम्मिलित हैं।

प्र०– जो ये भेद बतलाए, वे तो ज्ञान को व्यवस्थितरूप मे 15 संगृहीत करानेवाले शास्त्रों के भेद हुए तो फिर क्या शास्त्र इतने ही हैं ?

उ०–नहीं। शास्त्र अनेक थे, अनेक हैं, अनेक बनते हैं और आगे भी अनेक बनेंगे वे सभी श्रुत-ज्ञानान्तर्गत ही हैं। यहाँ सिर्फ वे ही गिनाए हैं जिनके ऊपर प्रधानतया जैन शासनका दारोमदार 20 है। परन्तु उनके अतिरिक्त और भी अनेक शास्त्र बने है और बनते जाते हैं। इन सभी को अङ्गबाह्य मे सम्मिलित कर लेना चाहिए। शर्त इतनी ही है कि वे शुद्ध-बुद्धि और समभाव पूर्वक रचे गए हों।

---

१ प्रत्येक बुद्ध आदि ऋषियों द्वारा जो कथन किया गया हो वह ऋषिभाषित। जैसे–उत्तराध्ययन का आठवॉ कापिलीय अध्ययन इत्यादि।

प्र०— क्या आजकल जो विविध विज्ञान विषयक तथा काव्य, नाटक आदि लौकिक विषयक अनेक शास्त्र बनते जाते हैं वे भी श्रुत हैं ?

उ०— अवश्य, वे भी श्रुत हैं ।

प्र०— तब तो वे भी श्रुतज्ञान होने से मोक्ष के लिए उपयोगी हो सकेंगे ? 5

उ०— मोक्ष मे उपयोगी बनना या न बनना यह किसी शास्त्र का नियत स्वभाव नहीं है पर उसका आधार अधिकारी की योग्यता पर है। अगर अधिकारी योग्य और मुमुक्षु है तो लौकिक शास्त्रो को भी मोक्ष मे उपयोगी बना सकता है और अधिकारी पात्र न हो तो वह आध्यात्मिक कहे जाने वाले शास्त्रो से भी अपने को नीचे 10 गिराता है। तथापि विषय और प्रणेता की योग्यता की दृष्टि से लोकोत्तर श्रुत का विशेषत्व अवश्य है ।

प्र०— श्रुत यह ज्ञान है, फिर भाषात्मक शास्त्रो को या वे जिन पर लिखे जाते हैं उन कागज आदि को श्रुत क्यों कहा जाता है ?

उ— उपचार से, असल मे श्रुत तो ज्ञान ही है। पर ऐसा ज्ञान 15 प्रकाशित करने का साधन भाषा है और भाषा भी ऐसे ज्ञान से ही उत्पन्न होती है तथा कागज आदि भी उस भाषा को लिपिबद्ध करके व्यवस्थित रखने के साधन हैं । इसी कारण भाषा या काग़ज़ आदि को उपचार से श्रुत कहा जाता है। २० ।

अवधिज्ञान के प्रकार और उनके स्वामी— 20

द्विविधोऽवधि[1] । २१ ।

---

१ श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में इस सूत्र के ऊपर 'भवप्रत्यय क्षयोपशम-निमित्तश्च' इतना भाष्य है, पर दिगम्बरीय ग्रन्थों मे यह अश सूत्ररूप से

तत्र[1] भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् । २२ ।

यथोक्तनिमित्तः[2] षड्विकल्पः शेषाणाम् । २३ ।

अवधिज्ञान दो प्रकार का है। उन दो में से भवप्रत्यय-नारक और देवों को होता है।

5 यथोक्तनिमित्त–क्षयोपशमजन्य अवधि छ प्रकार का है। जो शेष अर्थात् तिर्यञ्च तथा मनुष्यों को होता है।

अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ऐसे दो भेद हैं। जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट होता है वह भवप्रत्यय अर्थात् जिसके आविर्भाव के लिए व्रत, नियम आदि अनुष्ठान की अपेक्षा 10 नहीं है, वह जन्मसिद्ध अवधिज्ञान भवप्रत्यय कहलाता है। और जो अवधिज्ञान जन्मसिद्ध नहीं है किन्तु जन्म लेने के वाद व्रत, नियम आदि गुणों के अनुष्ठान के बल से प्रकट किया जाता है वह गुणप्रत्यय या क्षयोपशमजन्य कहलाता है।

प्र०– क्या भवप्रत्यय अवधिज्ञान क्षयोपशम के सिवाय ही 15 उत्पन्न होता है ?

नहीं है तो भी उक्त भाष्यसहित यह अंश सूत्र २१ की उत्थानिका के रूप मे सर्वार्थसिद्धि मे ज्यों का त्यों पाया जाता है। देखो पृ० ६९।

१ यह सूत्र दिगम्बरीय ग्रन्थों में यों मिलता है 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्'।

20 २ इस सूत्र के स्थान मे दिगम्बरीय ग्रन्थों में 'क्षयोपशमनिमित्त षड्विकल्प शेषाणाम्' ऐसा पाठ है। इस पाठ में 'क्षयोपशमनिमित्त' इतना जो अंश है वह श्वेताम्बरीय ग्रन्थों में भाष्यरूप से है। जैसे–'यथोक्तनिमित्त, क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थ'।

उ०– नहीं, उसके लिए भी क्षयोपशम तो अपेक्षित ही है।

प्र०– तब तो भवप्रत्यय भी क्षयोपशमजन्य ही ठहरा। फिर भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय इन दोनो में क्या अन्तर है?

उ०– चाहे कोई भी अवधिज्ञान क्यो न हो वह योग्य क्षयोपशम के सिवाय हो ही नहीं सकता। इसलिए अवधि-ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम तो अवधिज्ञान मात्र का साधारण कारण है। इस तरह क्षयोपशम सबका समान कारण होने पर भी किसी अवधिज्ञान को भवप्रत्यय और किसी को क्षयोपशमजन्य–गुणप्रत्यय कहा है, सो क्षयोपशम के आविर्भाव के निमित्त-भेद की अपेक्षा से समझना चाहिए। देहधारियों की कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनमें जन्म लेते ही योग्य क्षयोपशम का आविर्भाव और तद्द्वारा अवधिज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है। अर्थात उन जाति वालो को अवधिज्ञान के योग्य क्षयोपशम के लिए उस जन्म मे कोई तप आदि अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। अतएव ऐसी जाति-वाले सभी जीवों को न्यूनाधिक रूप में जन्मसिद्ध अवधिज्ञान अवश्य होता है और वह जीवन पर्यन्त रहता है। इसके विपरीत कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें जन्म लेने के साथ ही अवधिज्ञान प्राप्त होने का नियम नही है। ऐसी जाति वालों को अवधिज्ञान योग्य क्षयोपशम के आविर्भाव के लिए तप आदि गुणो का अनुष्ठान करना आवश्यक है। अतएव ऐसी जाति वाले सभी जीवो मे अवधिज्ञान का संभव नहीं होता। सिर्फ उन्ही में होता है जिन्होने उस ज्ञान के लायक गुण पैदा किये हो। इसीसे क्षयोपशम रूप अन्तरङ्ग कारण समान होने पर भी उसके लिए किसी जाति मे सिर्फ जन्म की और किसी जाति में तप आदि गुणो की अपेक्षा होने से

सुभीते की दृष्टि से अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय ऐसे दो नाम रक्खे गए हैं।

देहधारी जीवों के चार वर्ग किये हैं– नारक, देव, तिर्यञ्च और मनुष्य। इनमें से पहले दो वर्गवाले जीवों में भवप्रत्यय अर्थात् जन्म से ही अवधिज्ञान होता है और पिछले दो वर्गवालों में गुणप्रत्यय अर्थात् गुणों से अवधिज्ञान होता है।

प्र०– जब कि सभी अवधिज्ञान वाले देहधारी ही हैं तब फिर ऐसा क्यों है कि किसी को तो प्रयत्न विना किये ही जन्म से वह प्राप्त हो और किसी को उसके लिए खास प्रयत्न करना पड़े?

उ०– कार्य की विचित्रता अनुभवसिद्ध है। यह कौन नहीं जानता कि पक्षिजाति में जन्म लेने ही से आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और इसके विपरीत मनुष्य जाति में जन्म लेने मात्र से कोई आकाश मे उड़ नहीं सकता जब तक कि वह विमान आदि का सहारा न लेवे। अथवा जैसे–कितनों में काव्यशक्ति जन्मसिद्ध होती है और दूसरे कितनों को वह प्रयत्न किये विना प्राप्ति ही नहीं होती।

तिर्यञ्च और मनुष्य मे पाये जाने वाले अवधिज्ञान के छ भेद बतलाए गये हैं। वे ये हैं–आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

१ जैसे जिस स्थान में वस्त्र आदि किसी वस्तु को रंग लगाया हो उस स्थान से उसे हटा लेने पर भी उसका रंग कायम ही रहता है वैसे ही जो अवधिज्ञान उसके उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़ कर दूसरी जगह चले जाने पर भी कायम रहता है–वह आनुगामिक।

२ जैसे किसी का ज्योतिष ज्ञान ऐसा होता है कि जिससे वह

प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर अमुक स्थान मे ही दे सकता है, दूसरे स्थान मे नहीं, वैसे ही जो अवधिज्ञान उसके उत्पत्ति स्थान को छोड़ देने पर कायम नहीं रहता—वह अनानुगामिक ।

३ जैसे दियासलाई या अरणि आदि से पैदा होने वाली आग की चिनगारी बहुत छोटी होने पर भी अधिक अधिक सूखे इंधन आदि 5 दाह को पाकर क्रमश बढ़ती है वैसे ही जो अवधिज्ञान उत्पत्ति-काल मे अल्प विषयक होने पर भी परिणाम शुद्धि बढ़ने के साथ ही क्रमश. अधिक अधिक विषयक होता जाता है—वह वर्धमान ।

४ जैसे परिमित दाह्य वस्तुओ मे लगी हुई आग नया दाह न मिलने से क्रमश' घटती ही जाती है वैसे जो अवधिज्ञान उत्पत्ति के 10 समय अधिक विषय होने पर भी परिणाम शुद्धि कम हो जाने से क्रमशः अल्प अल्प विषयक होता जाता है—वह हीयमान ।

५ जैसे किसी प्राणी को एक जन्म में प्राप्त हुआ पुरुष आदि [१]वेद या दूसरे अनेक तरह के शुभ-अशुभ संस्कार उसके साथ दूसरे जन्म में जाते हैं या आजन्म कायम रहते है, वैसे ही जो अवधि- 55 ज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में कायम रहता है या केवल ज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त किंवा आजन्म ठहरता है—वह अवस्थित ।

६ जलतरङ्ग की तरह जो अवधिज्ञान कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत होता है और कभी तिरोहित हो जाता है—वह अनवस्थित । 20

यद्यपि तीर्थङ्कर मात्र को तथा किसी किसी अन्य मनुष्य को भी अवधिज्ञान जन्मसिद्ध प्राप्त होता है, तथापि उसे गुणप्रत्यय

---

१ देखो अ० २, सू० ६ ।

ही समझना चाहिए। क्योकि योग्य गुण न होने पर वह अवधि-ज्ञान आजन्म कायम नहीं रहता, जैसा कि देव या नरकगति मे रहता है। २१,२२,२३।

मन पर्यय के भेद और उनका अन्तर–

5 ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः[1]। २४।

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः। २५।

ऋजुमति और विपुलमति ये दो मनःपर्याय हैं।

विशुद्धि से और पुनःपतन के अभाव से उन दोनों का अन्तर है।

10 मनवाले–संज्ञी प्राणी किसी भी वस्तु का चिन्तन मन से करते है। चिन्तन के समय चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार चिन्तन-कार्य मे प्रवृत्त मन भिन्न भिन्न आकृतियों को धारण करता रहता है। वे आकृतियाँ ही मन के पर्याय हैं और उन मानसिक आकृतियों को साक्षात् जाननेवाला ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान है। इस ज्ञान के बल से 15 चिन्तनशील मन की आकृतियाँ जानी जाती हैं पर चिन्तनीय वस्तुएँ नहीं जानी जा सकतीं।

प्र०– तो फिर क्या चिन्तनीय वस्तुओ को मनःपर्याय ज्ञानी जान नहीं सकता ?

उ०– जान सकता है, पर पीछे से अनुमान द्वारा।

20 प्र०– सो कैसे ?

---

१ दिगम्बरीय ग्रन्थों मे इस सूत्र मे 'मनःपर्यायः' के स्थान में 'मनःपर्ययः' है।

उ०– जैसे कोई मानसशास्त्र का अभ्यासी किसी का चेहरा या हावभाव प्रत्यक्ष देखकर उसके आधार पर उस व्यक्ति के मनोगत भावों और सामर्थ्य का ज्ञान अनुमान से करता है वैसे ही मन पर्याय-ज्ञानी मन:पर्याय-ज्ञान से किसी के मन की आकृतियो को प्रत्यक्त देखकर पीछे से अभ्यासवश ऐसा अनुमान कर लेता है कि इस व्यक्ति ने अमुक वस्तु का चिन्तन किया, क्योंकि इसका मन उस वस्तु के चिन्तन के समय अवश्य होनेवाली अमुक प्रकार की आकृतियो से युक्त है।

प्र०– ऋजुमति और विपुलमति का क्या अर्थ है ?

उ०– जो विषय को सामान्य रूप से जानता है वह ऋजुमति-मन पर्याय और जो विशेष रूप से जानता है वह विपुलमति-मन पर्याय।

प्र०– जब ऋजुमति सामान्यग्राही है तब तो वह दर्शन ही हुआ, उसे ज्ञान क्यों कहते हो ?

उ०– वह सामान्यग्राही है– इसका मतलब इतना ही है कि वह विशेषो को जानता है, पर विपुलमति जितने विशेषो को नही जानता।

ऋजुमति की अपेक्ता विपुलमति मन पर्याय ज्ञान विशुद्धतर होता है। क्योंकि वह ऋजुमति की अपेक्षा सूक्ष्मतर और अधिक विशेषो को स्फुटतया जान सकता है। इसके सिवाय दोनो मे यह भी फर्क है कि ऋजुमति उत्पन्न होने के बाद कदाचित् चला भी जाता है, पर विपुलमति चला नही जाता, वह केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त अवश्य बना रहता है। २४, २५।

अवधि और मन पर्याय का अन्तर–

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः । २६

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय द्वारा अवधि और मन पर्याय का अन्तर जानना चाहिए ।

यद्यपि अवधि और मन पर्याय ये दोनो पारमार्थिक विकल-अपूर्ण प्रत्यक्ष रूप से समान हैं तथापि दोनो मे कई प्रकार से अन्तर है । जैसे विशुद्धिकृत, क्षेत्रकृत, स्वामिकृत और विषयकृत १ मन पर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अपने विषय को बहुत विशद रूप से जानता है इसलिए वह उससे विशुद्धतर है । २ अवधि ज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सारा लोक है और मन पर्यायज्ञान का क्षेत्र तो मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त ही है ३ अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति वाले हो सकते हैं, पर मन पर्याय के स्वामी सिर्फ संयत मनुष्य हो सकते हैं । ४ अवधि का विषय कतिपय पर्याय सहित रूपी द्रव्य है, पर मन.पर्याय का विषय तो सिर्फ उसका अनन्तवॉ भाग है ।[1]

प्र०– विषय कम होने पर भी मन पर्याय अवधि से विशुद्ध-तर माना गया, सो कैसे ?

उ०– विशुद्धि का आधार विषय की न्यूनाधिकता पर नहीं है किन्तु विषयगत न्यूनाधिक सूक्ष्मताओं को जानने पर है । जैसे दो व्यक्तियो में से एक ऐसा हो जो अनेक शास्त्रों को जानता हो और दूसरा सिर्फ एक शास्त्र को; तो भी अगर अनेक शास्त्रज्ञ की

---

१ देखो आगे सूत्र २९ ।

अपेक्षा एक शास्त्र जानने वाला व्यक्ति अपने विषय की सूक्ष्मताओं को अधिक जानता हो तो उसका ज्ञान पहले की अपेक्षा विशुद्ध कहलाता है। वैसे ही विषय अल्प होने पर भी उसकी सूक्ष्मताओं को अधिक जानने के कारण मन पर्याय अवधि से विशुद्धतर कहा जाता है। २६।

पाँचों ज्ञानों के ग्राह्य विषय—

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्व[1]द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु । २७ ।
रूपिष्ववधेः । २८ ।
तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य । २९ ।
सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य । ३० ।

मति और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति—ग्राह्यता सर्व पर्याय रहित अर्थात् परिमित पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती है।

अवधिज्ञान की प्रवृत्ति सर्व पर्याय रहित सिर्फ रूपी—मूर्त द्रव्यों में होती है।

मन पर्यायज्ञान की प्रवृत्ति उस रूपी द्रव्य के सर्व पर्याय रहित अनन्तवें भाग में होती है।

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सभी द्रव्यों में और सभी पर्यायों में होती है।

मति और श्रुतज्ञान के द्वारा रूपी, अरूपी सभी द्रव्य जाने जा सकते हैं पर पर्याय उनके कुछ ही जाने जा सकते हैं, सब नहीं।

---

१ दिगम्बरीय ग्रन्थों मे यह 'सर्व' शब्द नहीं है।

प्र०— उक्त कथन से जान पडता है कि मति और श्रुत के ग्राह्य विषयो मे न्यूनाधिकता है ही नहीं, सो क्या ठीक है ?

उ०— द्रव्यरूप ग्राह्य की अपेक्षा से तो दोनो के विषयों में न्यूनाधिकता नहीं है । पर पर्याय रूप ग्राह्य की अपेक्षा से दोनो के विषयो में न्यूनाधिकता अवश्य है । ग्राह्य पर्यायों की कमी-वेशी होने पर भी समानता सिर्फ इतनी है कि वे दोनो ज्ञान द्रव्यो के परिमित पर्यायो को ही जान सकते हैं संपूर्ण पर्यायों को नहीं। मतिज्ञान वर्त्तमानग्राही होने से इन्द्रियो की शक्ति और आत्मा की योग्यता के अनुसार द्रव्यों के कुछ कुछ वर्त्तमान पर्यायो को ही ग्रहण कर सकता है, पर श्रुतज्ञान त्रिकालग्राही होने से तीनो काल के पर्यायो को थोडे वहुत प्रमाण मे ग्रहण कर सकता है ।

प्र०— मतिज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियो से पैदा होता है और वे इन्द्रियाँ सिर्फ मूर्त्त द्रव्य को ही ग्रहण करने का सामर्थ्य रखतीं हैं । फिर मतिज्ञान के ग्राह्य सब द्रव्य कैसे माने गए ?

उ०— मतिज्ञान इन्द्रियों की तरह मन से भी होता है, और मन स्वानुभूत या शास्त्रश्रुत सभी मूर्त्त, अमूर्त्त द्रव्यो का चिन्तन करता है । इसलिए मनोजन्य मतिज्ञान की अपेक्षा से मतिज्ञान के ग्राह्य सब द्रव्य मानने मे कोई विरोध नहीं है ।

प्र०— स्वानुभूत या शास्त्रश्रुत विषयो मे मन के द्वारा मतिज्ञान भी होगा और श्रुतज्ञान भी, तव दोनो मे फर्क क्या रहा ?

उ०— जव मानसिक चिन्तन, शब्दोल्लेख सहित हो तव श्रुतज्ञान और जव उससे रहित हो तव मतिज्ञान ।

परम प्रकर्षप्राप्त परमावधि-ज्ञान जो अलोक मे भी लोक-

प्रमाण असंख्यात खण्डो को देखने का सामर्थ्य रखता है वह भी सिर्फ मूर्त्त द्रव्यो का साक्षात्कार कर सकता है, अमूर्त्तों का नहीं। इसी तरह वह मूर्त्त द्रव्यो के भी समग्र पर्यायो को जान नहीं सकता।

मन पर्याय-ज्ञान भी मूर्त्त द्रव्यो का ही साक्षात्कार करता है पर अवधिज्ञान जितना नहीं। क्योकि अवधिज्ञान के द्वारा सव प्रकार के पुद्गलद्रव्य ग्रहण किये जा सकते हैं, पर मन पर्याय ज्ञान के द्वारा तो सिर्फ मनरूप वने हुए पुद्गल और वे भी मानुषोत्तर क्षेत्र के अन्तर्गत ही ग्रहण किये जा सकते हैं। इसीसे मन.पर्याय-ज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय का अनन्तवाँ भाग कहा गया है। मन पर्याय-ज्ञान भी कितना ही विशुद्ध क्यो न हो, पर अपने ग्राह्य द्रव्यो के सपूर्ण पर्यायो को जान नहीं सकता। यद्यपि मन पर्याय ज्ञान के द्वारा साक्षात्कार तो सिर्फ चिन्तनशील मूर्त्त मन का ही होता है, पर पीछे होनेवाले अनुमान से तो उस मन के द्वारा चिन्तन किये गये मूर्त्त, अमूर्त्त सभी द्रव्य जाने जा सकते है।

मति आदि चारों ज्ञान कितने ही शुद्ध क्यों न हों, पर वे चेतनाशक्ति के अपूर्ण विकासरूप होने से एक भी वस्तु के समग्र भावो को जानने में असमर्थ हैं। यह नियम है कि जो ज्ञान किसी एक वस्तु के संपूर्ण भावो को जान सके वह सव वस्तुओं के संपूर्ण भावो को भी ग्रहण कर सकता है, वही ज्ञान पूर्णज्ञान कहलाता है, इसीको केवलज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान चेतनाशक्ति के सपूर्ण विकास के समय प्रकट होता है। इसलिए इसके अपूर्णताजन्य भेद-प्रभेद नहीं हैं। कोई भी ऐसी वस्तु या ऐसा भाव नहीं है जो इसके द्वारा प्रत्यक्ष न जाना जा सके। इसी कारण केवलज्ञान की प्रवृत्ति सव द्रव्य और सव पर्यायो मे मानी गई है। २७-३०।

एक आत्मा में एक साथ पाये जानेवाले ज्ञानों का वर्णन–

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः । ३१ ।

एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर चार तक ज्ञान भजना से–अनियत रूप से होते हैं।

किसी आत्मा मे एक साथ एक, किसी मे दो, किसी मे तीन और किसी मे चार ज्ञान तक का संभव है; पर पाँचो ज्ञान एक साथ किसी मे नहीं होते। जब एक होता है तब केवलज्ञान समझना चाहिए, क्योकि केवलज्ञान परिपूर्ण होने से उसके समय अन्य अपूर्ण किसी ज्ञान का संभव ही नहीं। जब दो होते हैं तब मति और श्रुत, क्योंकि पाँच ज्ञान मे से नियत सहचारी दो ज्ञान ये ही हैं। शेष तीनों एक दूसरे को छोड़कर भी रह सकते हैं। जब तीन ज्ञान होते है तब मति, श्रुत और अवधि ज्ञान या मति, श्रुत और मन:पर्याय ज्ञान। क्योकि तीन ज्ञान का संभव अपूर्ण अवस्था मे ही होता है और उस समय चाहे अवधिज्ञान हो या मन पर्यायज्ञान, पर मति, श्रुत–दोनों अवश्य होते हैं। जब चार ज्ञान होते हैं तब मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्याय, क्योंकि ये ही चारों ज्ञान अपूर्ण अवस्थाभावी होने से एक साथ हो सकते हैं। केवलज्ञान का अन्य किसी ज्ञान के साथ साहचर्य इसलिए नही है कि वह पूर्ण अवस्थाभावी है और शेष सभी अपूर्ण अवस्थाभावी। पूर्णता तथा अपूर्णता का आपस मे विरोध होने से दो अवस्थाएँ एक साथ आत्मा मे नही होतीं। दो, तीन या चार ज्ञानों का एक साथ संभव कहा गया, सो शक्ति की अपेक्षा से, प्रवृत्ति की अपेक्षा से नहीं।

प्र०— इसका मतलब क्या ?

उ०— जैसे मति, श्रुत—दो ज्ञानवाला या अवधि सहित तीन ज्ञानवाला कोई आत्मा जिस समय मतिज्ञान के द्वारा किसी विषय को जानने मे प्रवृत्त हो उस समय वह अपने मे श्रुत की शक्ति या अवधि की शक्ति होने पर भी उसका उपयोग करके तद्द्वारा उसके विपयो को जान नहीं सकता। इसी तरह वह श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति के समय मति या अवधि शक्ति को भी काम मे ला नहीं सकता। यही बात मन पर्याय की शक्ति के विषय मे समझनी चाहिए। सारांश यह है कि एक आत्मा मे एक साथ अधिक से अधिक चार ज्ञान शक्तियाँ हो तब भी एक समय मे कोई एक ही शक्ति अपना जानने का काम करती है। अन्य शक्तियाँ उस समय निष्क्रिय रहती हैं।

केवलज्ञान के समय मति आदि चारों ज्ञान नहीं होते। यह सिद्धान्त सामान्य होने पर भी उसकी उपपत्ति दो तरह से की जाती है—कोई आचार्य कहते हैं कि केवलज्ञान के समय भी मति आदि चारों ज्ञानशक्तियाँ होती हैं पर वे सूर्यप्रकाश के समय ग्रह, नक्षत्र आदि के प्रकाश की तरह केवलज्ञान की प्रवृत्ति से अभिभूत हो जाने के कारण अपना अपना ज्ञान रूप कार्य कर नहीं सकती। इसीसे शक्तियाँ होने पर भी केवलज्ञान के समय मति आदि ज्ञानपर्याय नहीं होते।

दूसरे आचार्यों का कथन है कि मति आदि चार ज्ञान शक्तियाँ आत्मा मे स्वाभाविक नहीं है, किन्तु कर्म-क्षयोपशम रूप होने से औपाधिक अर्थात् कर्म सापेक्ष हैं। इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा अभाव हो जाने पर—जब कि केवलज्ञान प्रकट होता

है–उन औपाधिक शक्तियों का संभव ही नहीं है। इसलिए केवल-ज्ञान के समय कैवल्यशक्ति के सिवाय न तो अन्य कोई ज्ञानशक्तियाँ ही हैं और न उनका मति आदि ज्ञानपर्याय रूप कार्य ही। ३१।

विपर्ययज्ञान का निर्धारण और विपर्ययता के हेतु–

मतिश्रुताऽवधयो विपर्ययश्च । ३२ ।
सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् । ३३ ।

मति, श्रुत और अवधि ये तीन विपर्यय–अज्ञानरूप भी हैं।

वास्तविक और अवास्तविक का अन्तर न जानने से यदृच्छोपलब्धि–विचारशून्य उपलब्धि के कारण उन्मत्त की तरह ज्ञान भी अज्ञान ही है।

मति, श्रुत आदि पाँचों चेतनाशक्ति के पर्याय है। उनका कार्य अपने अपने विषय को प्रकाशित करना है। इसलिए वे सभी ज्ञान कहलाते हैं। परन्तु उनमे से पहले तीन, ज्ञान और अज्ञान रूप माने गए हैं। जैसे मतिज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुतज्ञान, श्रुत-अज्ञान, अवधिज्ञान, अवधि-अज्ञान अर्थात् विभङ्गज्ञान।

प्र०– मति, श्रुत और अवधि ये तीन पर्याय अपने अपने विपय का वोध कराने के कारण जव ज्ञान कहलाते हैं तव फिर उन्ही को अज्ञान क्यो कहा जाता है? क्योंकि ज्ञान, अज्ञान दोनो शब्द परस्पर विरुद्ध अर्थ के वाचक होने से एक ही अर्थ मे प्रकाश और अन्धकार शब्द की तरह लागू नहीं हो सकते।

उ०– उक्त तीनों पर्याय लौकिक संकेत के अनुसार तो ज्ञान ही हैं, परन्तु यहाँ जो उन्हे ज्ञान और अज्ञानरूप कहा जाता है

सो शास्त्रीय सकेत के अनुसार । आध्यात्मिक शास्त्र का यह संकेत है कि मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत और अवधि—ये तीनों ज्ञानात्मक पर्याय अज्ञान ही हैं और सम्यग्दृष्टि के उक्त तीनों पर्याय ज्ञान ही मानने चाहिएँ ।

प्र०— यह संभव नहीं कि सिर्फ सम्यग्दृष्टि आत्मा प्रामाणिक व्यवहार चलाते हों और मिथ्यादृष्टि न चलाते हों। यह भी संभव नहीं कि सम्यग्दृष्टि को संशय— भ्रम रूप मिथ्याज्ञान विलकुल न होता हो और मिथ्यादृष्टि को होता ही हो । यह भी मुमकिन नहीं कि इन्द्रिय आदि साधन सम्यग्दृष्टि के तो पूर्ण तथा निर्दोष ही हों और मिथ्यादृष्टि के अपूर्ण तथा दुष्ट ही हों । यह भी कौन कह सकता है कि विज्ञान, साहित्य आदि विषयों पर अपूर्व प्रकाश डालने वाले और उनका यथार्थ निर्णय करनेवाले सभी सम्यग्दृष्टि हैं । इसलिए यह प्रश्न होता है कि अध्यात्मशास्त्र के पूर्वोक्त ज्ञान, अज्ञान संबन्धी संकेत का आधार क्या है ?

उ०— आध्यात्मिक शास्त्र का आधार आध्यात्मिक दृष्टि है, लौकिक दृष्टि नहीं है। जीव दो प्रकार के हैं—कोई मोक्षाभिमुख और कोई संसाराभिमुख । मोक्षाभिमुख आत्मा में समभाव की मात्रा और आत्मविवेक होता है, इसलिए वे अपने सभी ज्ञानों का उपयोग समभाव की पुष्टि में ही करते हैं, सांसारिक वासना की पुष्टि मे नहीं। यही कारण है कि चाहे लौकिक दृष्टि से उनका ज्ञान अल्प ही क्यों न हो पर वह ज्ञान कहा जाता है । इसके विपरीत संसाराभिमुख आत्मा का ज्ञान लौकिक दृष्टि से कितना ही विशाल और स्पष्ट क्यों न हो पर वह समभाव का पोषक न होकर जितने परिमाण में सांसारिक-वासना का पोषक होता है उतने ही

परिमाण मे अज्ञान कहलाता है। जैसे कभी उन्मत्त मनुष्य भी सोने को सोना और लोहे को लोहा जानकर यथार्थ ज्ञान लाभ कर लेता है पर उन्माद के कारण वह सत्य-असत्य का अन्तर जानने मे असमर्थ होता है। इससे उसका सच्चा झूठा सभी ज्ञान विचारशून्य या अज्ञान ही कहलाता है। वैसे ही संसाराभिमुख आत्मा कितना ही अधिक ज्ञानवाला क्यों न हो पर आत्मा के विषय मे अंधेरा होने के कारण उसका सारा लौकिक ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान ही है।

सारांश, उन्मत्त मनुष्य को अधिक विभूति हो भी जाय और कभी वस्तु का यथार्थ बोध भी हो तथापि उसका उन्माद ही बढता है, वैसे ही मिथ्यादृष्टि आत्मा जिसके राग-द्वेष की तीव्रता और आत्मा का अज्ञान होता है वह अपनी विशाल ज्ञानराशि का भी उपयोग सिर्फ सांसारिक वासना की पुष्टि मे करता है। इसीसे उसके ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है। इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि आत्मा जिसमे राग-द्वेष की तीव्रता न हो और आत्मज्ञान हो वह अपने थोड़े भी लौकिक ज्ञान का उपयोग आत्मिक तृप्ति मे करता है। इसलिए उसके ज्ञान को ज्ञान कहा है, यह आध्यात्मिक दृष्टि है। ३२, ३३।

नय के भेद—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः । ३४ ।

आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ । ३५ ।

नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पॉच नय हैं।

आद्य अर्थात् पहले—नैगम के दो और शब्द के तीन भेद हैं।

नय के भेदो की संख्या के विषय मे कोई निश्चित एक ही परपरा नहीं है। इनकी तीन परंपराएँ देखने में आती हैं। एक परपरा तो सीधे तौर पर पहले से ही सात भेदो को मानती है; जैसे कि– नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। यह परंपरा जैनागमो और दिगम्बरीय ग्रन्थों की है। दूसरी परंपरा सिद्धसेन दिवाकर की है। वे नैगम को छोड़कर बाकी के छ भेदों को मानते हैं। तीसरी परंपरा प्रस्तुत सूत्र और उनके भाष्यगत है। इसके अनुसार नय के मूल में पाँच भेद और बाद मे पाँचवें शब्द नय के सांप्रत, समभिरूढ और एवंभूत ऐसे तीन भेद होते हैं।

किन्हीं भी एक या अनेक चीजों के बारे मे एक या अनेक व्यक्तियो के विचार अनेक तरह के होते हैं। अर्थात् एक ही वस्तु के विषय मे भिन्न-भिन्न विचारों की यदि गणना की जाए, तो वे अपरिमित प्रतीत होंगे। अत तद्विषयक प्रत्येक विचार का बोध करना अशक्य हो जाता है। इसलिए उनका अतिसंक्षिप्त और अतिविस्तृत प्रतिपादन छोड़ करके मध्यम-मार्ग से प्रतिपादन करना– यही नयो का निरूपण है। नयो का निरूपण अर्थात् विचारो का वर्गीकरण। नयवाद का अर्थ है– विचारो की मीमांसा। नयवाद मे सिर्फ विचारो के कारण, उनके परिणाम या उनके विषयो की ही चर्चा नहीं आती। किन्तु जो विचार परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते है, लेकिन वास्तव में जिनका विरोध है नहीं– ऐसे विचारो के अविरोध के बीज की गवेषणा करना, यही इस वाद का मुख्य उद्देश्य है। अत: नयवाद की संक्षिप्त व्याख्या इस तरह हो सकती

नयो के निरूपण का भाव क्या है?

है कि– परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले विचारों के वास्तविक अविरोध के बीज की गवेषणा करके वैसे विचारों का समन्वय करने वाला शास्त्र। जैसे– एक आत्मा के बारे में ही परस्पर विरुद्ध–ऐसे मन्तव्य मिलते हैं। किसी जगह 'आत्मा एक है' ऐसा कथन है, तो अन्यत्र 'अनेक है' ऐसा भी मिलता है। एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। ऐसी स्थिति मे प्रश्न होता है कि– इन दोनो का यह विरोध वास्तविक है, या नहीं ? यदि वास्तविक नहीं, तो क्यों ? इसका जवाब नयवाद ने ढूंढ़ निकाला है, और ऐसा समन्वय किया है कि– व्यक्ति रूप से देखा जाय, तो आत्मतत्त्व अनेक हैं, किन्तु यदि शुद्ध चैतन्य की ओर दृष्टि दें, तब तो एक ही है। इस तरह का समन्वय करके नयवाद परस्पर विरोधी वाक्यो का भी अविरोध– एकवाक्यता सिद्ध करता है। इसी तरह आत्मा के विषय मे परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले– नित्यत्व-अनित्यत्व, कर्तृत्व-अकर्तृत्व आदि मतो का भी अविरोध नयवाद से ही सिद्ध होता है। ऐसे अविरोध का बीज विचारक की दृष्टि– तात्पर्य मे ही है। इसी दृष्टि के लिए प्रस्तुत शास्त्र मे 'अपेक्षा' शब्द है। अत नयवाद अपेक्षावाद भी कहा जाता है।

नयवाद की देशना अलग क्यों, और उससे विशेषता कैसे ?

प्रथम किये गए ज्ञान निरूपण मे श्रुत[1] की चर्चा आ चुकी है। श्रुत– यह विचारात्मक ज्ञान है और नय भी एक तरह का विचारात्मक ज्ञान होने से श्रुत मे ही समा जाता है। इसीसे प्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि– श्रुत का निरूपण हो जाने के बाद नयो को उससे भिन्न करके नयवाद

१ देखो अ० १ सू० २०।

की देशना अलग क्यो की जाती है ? जैन तत्त्वज्ञान की एक विशेषता नयवाद के कारण मानी जाती है, लेकिन नयवाद तो श्रुत है, और श्रुत कहते हैं– आगम प्रमाण को। जैनेतर दर्शनो मे भी प्रमाण चर्चा और उसमे भी आगम प्रमाण का निरूपण है ही। अत सहज ही दूसरा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि– जब आगम-प्रमाण की चर्चा इतर दर्शनो में भी मौजूद है, तब आगम प्रमाण मे समाविष्ट ऐसे नयवाद की सिर्फ अलग देशना करने से ही जैन दर्शन की तत्कृत विशेषता कैसे मानी जाय ? अथवा यो कहना चाहिए कि– श्रुतप्रमाण के अतिरिक्त नयवाद की स्वतत्र देशना करने मे जैनदर्शन के प्रवर्तको का क्या उद्देश था ?

श्रुत और नय ये दोनो विचारात्मक ज्ञान तो है ही। फिर भी दोनों मे जो फर्क है, वह इस प्रकार कि– किसी भी विषय को सर्वांश मे स्पर्श करने वाला अथवा सर्वांश से स्पर्श करने का प्रयत्न करने वाला विचार श्रुत है और उसी विषय के किसी एक अश को स्पर्श करके बैठ जाने वाला विचार नय है। इसी कारण से नय को स्वतन्त्र रूप से प्रमाण नहीं कह सकते फिर भी वह अप्रमाण भी नहीं है। जैसे अंगुली के अग्रभाग को अंगुली नहीं कह सकते, वैसे ही उसको अंगुली नहीं है– ऐसा भी नहीं कह सकते, फिर भी वह अगुली का अश तो है ही। इसी तरह नय भी श्रुत प्रमाण का अंश है। विचार की उत्पत्ति का क्रम और तत्कृत व्यवहार– इन दो दृष्टिओं से नय का निरूपण– श्रुत प्रमाण से भिन्न करके किया गया है। किसी भी वस्तु के विभिन्न अशों के विचार ही आखिर मे विशालता या समग्रता में परिणत होते है। विचार जिस क्रम से उत्पन्न होते है, उसी क्रम से तत्त्व बोध के उपायरूप से

उनका वर्णन होना चाहिए। इस बात के मान लेने से ही स्वाभाविक तौर से नय का निरूपण श्रुत प्रमाण से अलग करना प्राप्त हो जाता है; और किसी एक विषय का कितना भी समग्ररूप से ज्ञान क्यों न हो फिर भी व्यवहार में तो उस ज्ञान का उपयोग एक एक अंश को लेकर ही होता है। और इसी लिए समग्र विचारात्मक श्रुत से अंश विचारात्मक नय का निरूपण भिन्न करना प्राप्त होता है।

यद्यपि जैनेतर दर्शनों मे आगम प्रमाण की चर्चा है तथापि उसी प्रमाण में समाविष्ट ऐसे नयवाद की जो जैन दर्शन ने जुदी प्रतिष्ठा की है, उसका कारण निम्नोक्त है, और यही कारण इसकी विशेषता के लिए पर्याप्त है। सामान्यत' मनुष्य की ज्ञानवृत्ति अधूरी होती है और अस्मिता– अभिनिवेश अत्यधिक होता है। फलत जब वह किसी भी विषय मे कुछ भी सोचता है, तब वह उसको ही अन्तिम व सम्पूर्ण मानने को प्रेरित होता है। और इसी प्रेरणा के वश वह दूसरे के विचारो को समझने की धीरज खो बैठता है। अन्ततः वह अपने आंशिक ज्ञान में ही संपूर्णता का आरोप कर लेता है। इस आरोप की वजह से एक ही वस्तु के बारे में सच्चे लेकिन भिन्न-भिन्न विचार करने वालों के बीच सामंजस्य नहीं रहता। फलत. पूर्ण और सत्य ज्ञान का द्वार बन्द हो जाता है।

आत्मा आदि किसी भी विषय में अपने आप्त पुरुष के आंशिक विचार को ही जब कोई एक दर्शन संपूर्ण मान कर चलता है तब वह विरोधी होने पर भी यथार्थ विचार रखने वाले दूसरे दर्शनों को अप्रमाण भूत कह कर उनकी अवगणना करता

है। इसी तरह दूसरा दर्शन उसकी और फिर दोनो किसी तीसरे की अवगणना करते हैं। फलत. समता की जगह विषमता और विवाद खड़े हो जाते हैं। इसी से सत्य और पूर्ण ज्ञान का द्वार खोलने और विवाद दूर करने के लिए ही नयवाद की प्रतिष्ठा की गई है। और उससे यह सूचित किया गया है कि प्रत्येक विचारक को चाहिए कि अपने विचार को आगमप्रमाण कहने से पूर्व यह देख ले कि वह विचार प्रमाण कोटिमे आने योग्य सर्वांशी है, या नहीं। ऐसी सूचना करना यही नयवाद के द्वारा जैन दर्शन की विशेपता है।

सामान्य लक्षण — किसी भी विषय का सापेक्ष निरूपण करने वाला विचार नय है।

संक्षेप मे नय के दो भेद किये गए हैं– द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक।

जगत मे छोटी या वड़ी सभी वस्तुएँ एक दूसरे से न तो सर्वथा असमान ही होती हैं, न सर्वथा समान ही। इनमे समानता और असमानता– दोनो अश वने रहते हैं। इसी से वस्तुमात्र सामान्य-विशेष– उभयात्मक है, ऐसा कहा जाता है। मनुष्य की वुद्धि कभी तो वस्तुओ के सामान्य अंश की ओर झुकती है, और कभी विशेष अंश की ओर। जव वह सामान्य अंश को ग्रहण करती है, तव उसका वह विचार– द्रव्यार्थिक नय, और जव वह विशेष अंश को ग्रहण करती है, तव वही विचार पर्यायार्थिक नय कहलाता है। सभी सामान्य और विशेष दृष्टियाँ भी एक सी नहीं होतीं, उनमे भी अन्तर रहता है। इसी को वतलाने के लिए इन दो दृष्टियों के फिर संक्षेप में भाग किये गए हैं। द्रव्यार्थिक

के तीन और पर्यायार्थिक के चार– इस तरह कुल सात भाग बनते है, और ये ही सात नय हैं। द्रव्यदृष्टि मे विशेष–पर्याय, और पर्यायदृष्टि मे द्रव्य–सामान्य आता ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। यह दृष्टिविभाग तो सिर्फ गौण-प्रधान भाव की अपेक्षा से ही समझना चाहिए।

प्र०– ऊपर कहे हुए दोनो नयो को सरल उदाहरणो से समझाइए।

उ०– कही भी, कभी भी और किसी भी अवस्था मे रह कर समुद्र की तरफ दृष्टि डालने पर– जब जल के रंग, स्वाद, उसकी गहराई या छिछलापन, उसके विस्तार व सीमा– इत्यादि विशेषताओं की ओर ध्यान न जाकर सिर्फ जल ही जल ध्यान मे आता है, तब वह एक मात्र जल का सामान्य विचार कहलाता है, और यही जल विषयक द्रव्यार्थिक नय है।

इसके विपरीत जब रंग, स्वाद आदि विशेषताओं की ओर ध्यान जाय, तब वह विचार– जल की विशेषताओ का होने से– जल विषयक पर्यायार्थिक नय कहलाएगा।

जैसे जल के विषय मे कहा गया है, वैसे ही दूसरी सभी भौतिक वस्तुओं के बारे मे भी घटाया जा सकता है। विभिन्न स्थलों मे फैली हुई जल जैसी एक ही तरह की नाना वस्तुओ के विषय में जिस प्रकार सामान्य और विशेषात्मक विचार संभव है, वैसे ही भूत, वर्तमान और भविष्य–इस त्रिकाल रूप अपार पट पर फैले हुए आत्मादि किसी एक पदार्थ के बारे मे भी सामान्य और विशेषात्मक विचार सर्वथा संभव है। काल तथा अवस्था भेद कृत चित्रो पर ध्यान न देकर जब केवल शुद्ध चैतन्य की ओर

ही ध्यान जाता है, तव वह उसके विषय का द्रव्यार्थिक नय कहलाएगा। तथा चैतन्य की देश-कालादि कृत विविध दशाओ पर यदि ध्यान जाएगा, तव वह चैतन्य विषयक पर्यायार्थिक समझा जायगा।

विशेष भेदों का स्वरूप

(१ जो विचार लौकिक रूढि किंवा लौकिक संस्कार के अनुसरण मे से पैदा होता है—वह नैगमनय है।

२ जो विचार भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओं को तथा अनेक व्यक्तियो को किसी भी सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप मे संकलित कर लेता है— वह सग्रहनय है।

३ जो विचार सामान्य तत्त्व के आधार पर एक रूप में सक-लित वस्तुओ का व्यावहारिक प्रयोजन के अनुसार पृथक्करण करता है— वह व्यवहारनय है।

इन तीनों नयो का उद्गम द्रव्यार्थिक की भूमिका में रहा हुआ है, अत (ये तीनों द्रव्यार्थिक प्रकृति वाले कहलाते हैं।)

प्र०— शेष नयो की व्याख्या देने से पहले ऊपर के तीन नयो को ही उदाहरणो के द्वारा अच्छी तरह स्पष्ट कीजिए।

नैगमनय

उ०— देश-काल एवं लोक स्वभाव सबन्धी भेदों की विविधता के कारण लोक रूढियाँ तथा तज्जन्य सस्कार भी अनेक तरह के होते हैं, अत उनसे उद्भूत नैगम नय भी अनेक तरह का होता है जिससे उसके उदाहरण विविध प्रकार के मिल जाते हैं, और वैसे ही दूसरे नये उदाहरण भी बनाए जा सकते हैं।

किसी काम के सकल्प से जाते हुए किसी को कोई पूछे कि—

आप कहाँ जा रहे हैं ? तब वह जवाब में कहता है कि– 'मैं कुल्हाड़ी या कलम लेने जा रहा हूँ ।'

ऐसा जवाब देने वाला वास्तव मे तो कुल्हाड़ी के हाथे के लिए लकड़ी अथवा कलम के लिए किलक लेने ही जा रहा है, तब भी वह ऊपर जैसा ही जवाब देता है, और पूछने वाला भी चट से उसके मतलब को समझ लेता है, यह एक तरह की लोकरूढ़ि है।

जात पाँत छोड़ कर भिक्षु बने हुए व्यक्ति का परिचय जब कोई पूर्वाश्रम के ब्राह्मण वर्ण द्वारा कराता है, तब भी 'वह ब्राह्मण श्रमण है' यह कथन फ़ौरन स्वीकार कर लिया जाता है। इसी तरह चैत्र शुक्ला नवमी व त्रयोदशी के दिनो के आते ही हज़ारों वर्ष पहले बीत चुके– रामचन्द्र व महावीर के– जन्मदिन के रूप में उन दिनो को लोक मानते हैं। तथा उन्हे जन्मदिन मान कर वैसे ही उत्सवादि भी मनाते हैं। यह भी एक तरह की लोकरूढ़ि ही है।

जब कभी ख़ास ख़ास मनुष्य समूहरूप मे लड़ने लगते हैं, तब दूसरे लोग उनकी निवास भूमि को ही लड़ने वाली मान कर बहुधा कहने लगते हैं– 'हिन्दुस्तान लड़ रहा है' 'चीन लड़ रहा है'– इत्यादि, ऐसे कथन का आशय सुनने वाले भी समझ लेते है।

इस प्रकार लोक रूढियो से पड़े हुए संस्कारों के कारण जो विचार उत्पन्न होते हैं, वे सभी नैगमनय के नाम से पहली श्रेणी मे गिन लिये जाते हैं।

संग्रहनय

जड़, चेतन रूप अनेक व्यक्तियो मे जो सद्रूप एक सामान्य तत्त्व रहता है, उसी तत्त्व पर दृष्टि रखकर दूसरे विशेषो को ध्यान मे न लाते हुए—सभी व्यक्तियों को एक रूप मान कर ऐसा विचार करना कि—सपूर्ण जगत सद्रूप

है; क्योंकि सत्ता रहित कोई वस्तु है ही नहीं– वही संग्रहनय है। इसी तरह वस्त्रों की विविध किस्मों व भिन्न-भिन्न वस्त्रों की ओर लक्ष्य न देकर एक मात्र वस्त्र रूप सामान्य तत्त्व को ही दृष्टि मे रखकर विचार करना कि– इस जगह सिर्फ वस्त्र है। इसीका नाम संग्रहनय है।

सग्रहनय के विषयभूत सामान्य तत्त्व के अनुसार तरतम-भाव वाले अनन्त उदाहरण बन सकते है। जितना विशाल सामान्य होगा, सग्रहनय भी उतना ही विशाल समझना चाहिए। तथा जितना ही छोटा सामान्य होगा, संग्रहनय भी उतना ही संक्षिप्त होगा। साराश यह है कि– जो जो विचार सामान्य तत्त्व के आश्रय से विविध वस्तुओ का एकीकरण करके प्रवृत्त होते हैं, वे सभी संग्रहनय की श्रेणी मे रक्खे जा सकते हैं।

विविध वस्तुओ को एक रूप मे संकलित करने के बाद भी जब उनका विशेष रूप मे बोध कराना हो, या व्यवहार में उपयोग करने का प्रसंग पडे, तब उनका विशेष रूप से भेद करके पृथक्करण करना पड़ता है। वस्त्र कहने मात्र से भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रों का अलग अलग बोध नहीं हो सकता। जो सिर्फ खादी चाहता है, वह वस्त्रों का विभाग किये बिना उसे नहीं पा सकता, क्योंकि वस्त्र तो कई क़िस्म के हैं। इसी से खादी का कपड़ा, मिल का कपड़ा– इत्यादि भेद भी करने पड़ते हैं।

व्यवहारनय

इसी प्रकार तत्त्व ज्ञान के प्रदेश मे सद्रूप वस्तु भी जड़ और चेतन रूप से दो प्रकार की है। चेतन तत्त्व भी संसारी और मुक्त रूप से दो प्रकार का है– इत्यादि रूप से पृथक्करण करना पड़ता

है। ऐसे ऐसे पृथक्करणोन्मुख सभी विचार व्यवहारनय की श्रेणी मे आते है।

ऊपर के उदाहरणो में देखा जा सकता है कि– नैगमनय का आधार लोक रूढ़ि है, लोक रूढि आरोप पर आश्रित है, और आरोप है– सामान्य-तत्त्वाश्रयी। ऐसा होने से नैगमनय सामान्य-ग्राही है– यह बात भी बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। संग्रहनय तो पहले से एकीकरण रूप बुद्धि व्यापार होने से सामान्यग्राही है ही। व्यवहारनय मे पृथक्करणोन्मुख बुद्धि व्यापार होने पर भी उसकी क्रिया का आधार सामान्य होने से उसे भी सामान्यग्राही ही समझना चाहिए। इसी सबब से ये तीनों नय द्रव्यार्थिक नय के भेद माने जाते हैं।

प्र०– इन तीनो नयो का पारस्परिक भेद और उनका सबन्ध क्या है?

उ०– नैगमनय का विषय सबसे अधिक विशाल है, क्योंकि वह सामान्य और विशेष– दोनो का ही लोक रूढ़ि के अनुसार कभी तो गौण रूप से और कभी मुख्य रूप से अवलंबन करता है। सिर्फ सामान्यलक्षी होने से संग्रह का विषय नैगम से कम है, और व्यवहार का विषय तो संग्रह से भी कम है, क्योकि वह संग्रह द्वारा संकलित विषय का ही खास खास विशेषताओ के आधार पर पृथक्करण करने वाला होने मे सिर्फ विशेपगामी है। उक्त रीत्या तीनोका विषय क्षेत्र उत्तरोत्तर कम होने से इनका पारस्परिक पौर्वापर्य संबन्ध तो है ही। सामान्य, विशेप और उन दोनों के संबन्ध की प्रतीति नैगमनय कराता है। इसी मे से संग्रह का उद्भव

होता है, और संग्रह की भित्ति पर ही व्यवहार का चित्र खिंचा जाता है।

प्र०– पूर्वोक्त प्रकार से शेष चार नयों की व्याख्या कीजिए, उनके उदाहरण दीजिए, और दूसरी जानकारी कराइये।

उ०– १ जो विचार भूत और भविष्यत् काल का ख़याल न करके सिर्फ वर्तमान को ही ग्रहण करता है– वह ऋजुसूत्र है।

२ जो विचार शब्दप्रधान होता हुआ कितनेक शाब्दिक धर्मों की ओर झुक कर तदनुसार ही अर्थ भेद की कल्पना करता है– वह शब्दनय है।

३ जो विचार शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थभेद की कल्पना करता है– वह समभिरूढनय है।

४ जो विचार शब्द से फलित होने वाले अर्थ के घटने पर ही उस वस्तु को उस रूप में मानता है, अन्यथा नहीं– वह एवंभूतनय है।

ऋजुसूत्रनय

यद्यपि मनुष्य की कल्पना भूत और भविष्य की सर्वथा उपेक्षा करके नहीं चल सकती, तथापि मनुष्य की बुद्धि कई बार तात्कालिक परिणाम की ओर झुक कर सिर्फ वर्तमान में ही प्रवृत्ति करने लगती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य बुद्धि ऐसा मानने लगती है कि जो उपस्थित है, वही सत्य है, वही कार्यकारी है, और भूत तथा भावी वस्तु वर्तमान में कार्य साधक न होने से शून्यवत् है। वर्तमान समृद्धि ही सुख का साधन होने से समृद्धि कही जा सकती है। लेकिन भूत समृद्धि का स्मरण या भावी समृद्धि की कल्पना– वर्तमान में सुख को साधने वाली न होने से समृद्धि ही नहीं कही जा सकती। इसी

तरह पुत्र मौजूद हो, और माता पिता की सेवा करे, तब तो वह पुत्र है। किन्तु जो पुत्र अतीत हो या भावी हो, पर मौजूद न हो– वह तो पुत्र ही नहीं। इस तरह के सिर्फ वर्तमानकाल से संबन्ध रखने वाले विचार ऋजुसूत्रनय की कोटि मे रक्खे जाते है।

शब्दनय

जब विचार की गहराई मे उतरनेवाली बुद्धि एक बार भूत और भविष्यत् काल की जड़ काटने पर उतारू हो जाती है, तब वह दूसरी बार उससे भी आगे बढ़ कर किसी दूसरी जड़ को भी काटने पर तैयार होने लगती है। इसी से वह कभी सिर्फ शब्द को ही पकड़ कर प्रवृत्त होती है, और ऐसा विचार करने लगती है कि– यदि वर्तमान काल भूत या भावी से पृथक् होने के कारण सिर्फ वही लिया जाय, तब तो एक ही अर्थ मे व्यवहृत होने वाले भिन्न भिन्न लिङ्ग, काल, सख्या, कारक, पुरुष और उपसर्गयुक्त शब्दों के अर्थ भी अलग अलग क्यो न माने जाएँ? जैसे तीनो कालों मे कोई सूत्र रूप एक वस्तु नहीं है, किन्तु वर्तमान स्थित वस्तु ही एक मात्र वस्तु कहलाती है, वैसे ही भिन्न भिन्न लिङ्ग, संख्या और कालादि से युक्त शब्दो द्वारा कही जाने वाली वस्तुएँ भी भिन्न भिन्न ही मानी जानी चाहिएँ। ऐसा विचार करके बुद्धि–काल और लिङ्गादि के भेद से अर्थ में भी भेद मानने लगती है।

उदाहरणार्थ– शास्त्र मे एक ऐसा वाक्य मिलता है कि–'राज गृह नाम का नगर था' इस वाक्य का अर्थ मोटे रूप से ऐसा होता है कि राजगृह नाम का नगर भूतकाल में था, लेकिन वर्तमान मे नही। जब कि वास्तव मे लेखक के समय में भी राजगृह मौजूद है। यदि वर्तमान मे मौजूद है, तब उसको 'था' ऐसे क्यों

लिखा ? इस प्रश्न का जवाव शव्दनय देता है। वह कहता है कि वर्तमान मे मौजूद राजगृह से भूतकाल का राजगृह तो भिन्न ही है, और उसी का वर्णन प्रस्तुत होने से 'राजगृह था' ऐसा कहा गया है। यह कालभेद से अर्थभेद का उदाहरण हुआ।

लिङ्गभेद से अर्थभेद, जैसे कि– कुऑ, कुई। यहाँ पहला शव्द नर जाति का और दूसरा नारी जाति का है। इन दोनो का कल्पित अर्थभेद भी व्यवहार मे प्रसिद्ध है। कितने ही ताराओं को नक्षत्र के नाम से पुकारा जाता है, फिर भी इस शव्दनय के अनुसार 'अमुक तारा नक्षत्र है' अथवा 'यह मघा नक्षत्र है' ऐसा शव्द व्यवहार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस नय के अनुसार लिङ्गभेद से अर्थभेद माने जाने के कारण 'तारा और नक्षत्र' एव 'मघा और नक्षत्र' इन दोनो शव्दो का एक ही अर्थ मे प्रयोग नहीं कर सकते।

सस्थान (आकार) प्रस्थान (गमन) उपस्थान (उपस्थिति) इसी प्रकार आराम, विराम–इत्यादि शव्दो मे एक ही धातु होने पर भी उपसर्ग के लग जाने से जो अर्थ भेद हो जाता है, वही शव्दनय की भूमिका को वनाता है।

इस तरह के विविध शाव्दिक धर्मों के आधार पर जो अर्थ भेद की अनेक मान्यताएँ प्रचलित है, वे सभी शव्दनय की श्रेणी की हैं।

समभिरूढनय

शाव्दिक धर्म भेद के आधार पर अर्थ भेद करने वाली वुद्धि ही जब और भी आगे वढ कर व्युत्पत्ति भेद का आश्रय लेने लगती है, और ऐसा मानने पर उतारू हो जाती है कि जहाँ पर अनेक जुदे जुदे शव्दो

का एक ही अर्थ मान लिया जाता है, वहाँ पर भी वास्तव मे उन सभी शब्दो का एक अर्थ नही हो सकता, किन्तु जुदा जुदा ही अर्थ है। उसकी दलील यह है कि– यदि लिङ्गभेद और सख्या-भेद आदि से अर्थभेद मान सकते हैं, तब शब्दभेद भी अर्थ का भेदक क्यो नहीं मान लिया जाता? ऐसा कह कर वह बुद्धि– राजा, नृप, भूपति आदि एकार्थक शब्दो का भी व्युत्पत्ति के अनुसार जुदा जुदा अर्थ करती है, और कहती है कि राजचिह्नो से शोभित हो वह– 'राजा' मनुष्यो का रक्षण करने वाला– 'नृप' तथा पृथ्वी का पालन-संवर्धन करनेवाला ही– 'भूपति' है।

इस तरह से उक्त तीनो नामो से कहे जाने वाले एक ही अर्थ मे व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थभेद की मान्यता रखनेवाला विचार समभिरूढ़नय कहलाता है। पर्याय भेद से की जाने वाली अर्थभेद की सभी कल्पनाएँ इसी नय की श्रेणी मे आ जाती हैं।

सविशेष रूप से गहराई मे जाने की आदत वाली बुद्धि जब अन्त तक गहराई मे पहुँच जाती है, तब वह विचार करती है

एवभूतनय

कि यदि व्युत्पत्ति भेद से अर्थभेद माना जा सकता है, तब तो ऐसा भी मानना चाहिए कि जब व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ घटित होता हो, तभी उस शब्द का वह अर्थ स्वीकार करना चाहिए; तथा उस शब्द के द्वारा उस अर्थ का प्रतिपादन करना चाहिए, अन्यथा नहीं। इस कल्पना के अनुसार किसी समय राजचिह्नो से शोभित होने की योग्यता को धारण करना, किंवा मनुष्य रक्षण के उत्तरदायित्व को प्राप्त कर लेना– इतना मात्र ही 'राजा' या 'नृप' कहलाने के वास्ते पर्याप्त नहीं। किन्तु इससे आगे बढ़कर 'राजा' तो उसी समय

कहला सकता है, जब कि सचमुच राजदण्ड को धारण करता हुआ उससे शोभायमान हो रहा हो, इसी तरह 'नृप' तब कहना चाहिए, जब जब भी वह मनुष्यों का रक्षण कर रहा हो।

सारांश यह है कि किसी व्यक्ति के लिए राजा या नृप शब्द का प्रयोग करना तभी ठीक होगा, जब कि उसमें शब्द का व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ भी घटित हो रहा हो।

इसी रीति से जब कोई सचमुच सेवा कर रहा हो, उसी समय या उतनो बार ही उसे 'सेवक' इस नाम से बोल सकते हैं। जब वास्तव मे कोई क्रिया हो रही हो, उसी समय उससे संबन्ध रखने वाले विशेषण या विशेष्य नाम का व्यवहार करने वाली मान्यताएँ एवंभूतनय की कहलाती हैं।

पूर्वोक्त चार प्रकार की विचार श्रेणियों में जो अन्तर है, वह तो उदाहरणो से ही स्पष्ट हो सकता है। अत. उसे अब पृथक् लिखने को ज़रूरत नहीं। हां, इतना जान लेना चाहिए कि पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। अतएव उत्तर-उत्तर नय का विषय पूर्व-पूर्व नय के विपय पर ही अवलम्बित रहता है। इन चारो नयो का मूल पर्यायार्थिक नय है। यह बात इसलिए कही गई है कि ऋजुसूत्र सिर्फ वर्तमान को ही स्वीकार करता है, भूत और भविष्यत् को नहीं। अत यह स्पष्ट है कि इसका विपय सामान्य न रह कर विशेष रूप से ही ध्यान मे आता है, अर्थात् वास्तव मे ऋजुसूत्र से ही पर्यायार्थिक नय— विशेषगामिनी दृष्टि का आरम्भ माना जाता है। ऋजुसूत्र के बाद के तीन नय तो उत्त-

शेष वक्तव्य

रोत्तर और भी अधिक विशेषगामी बनते जाते हैं। जिससे उनका पर्यायार्थिक होना तो स्पष्ट ही है।

यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि इन चार नयों में भी— जब कि उत्तर नय को पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्म कहा जाता है, तब वह पूर्व नय उतने अंश मे तो उत्तर की अपेक्षा सामान्यगामी है ही। ठीक इसी तरह द्रव्यार्थिक नय की भूमिका पर ठहरे हुए नैगमादि तीन नय भी— पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्म होने से उतने अंश मे तो पूर्व की अपेक्षा विशेषगामी समझने ही चाहिएँ।

इतने पर भी प्रथम के तीन नयो को द्रव्यार्थिक और बादके चार नयो को पर्यायार्थिक कहने का तात्पर्य इतना ही है कि प्रथम के तीनों मे सामान्य तत्त्व और उसका विचार अधिक स्पष्ट है, क्योंकि वे तीनो अधिक स्थूल हैं। इनके बाद के चार नय विशेष सूक्ष्म हैं, उनमे विशेष तत्त्व व उसका विचार भी ज्यादा स्पष्ट है। सामान्य और विशेष की इसी स्पष्टता किंवा अस्पष्टता के कारण तथा उनकी मुख्यता-गौणता को ध्यान में रख कर ही सात नयो के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक— ऐसे दो विभाग किये गए हैं। पर जब वास्तविक विचार करते हैं, तब सामान्य और विशेष— ये दोनो एक ही वस्तु के अविभाज्य दो पहलू होने से एकान्त रूप में एक नय के विषय को दूसरे नय के विषय से सर्वथा अलग नहीं कर सकते।

नयदृष्टि, विचारसरणि, या सापेक्ष अभिप्राय— इन सभी शब्दों का एक ही अर्थ है। पूर्वोक्त वर्णन से इतना पता अवश्य लगेगा कि किसी भी एक विषय को लेकर विचारसरणियाँ अनेको हो सकती है। विचारसरणियाँ चाहे कितनी ही क्यो न

हो, पर उन्हे संक्षिप्त करके अमुक दृष्टि से सात ही भाग किये गए है। उनमे भी पहली विचारसरणि की अपेक्षा दूसरी मे, और दूसरी की अपेक्षा तीसरी मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्मत्व आता जाता है। एवभूत नाम की अन्तिम विचारसरणि मे सबसे अधिक सूक्ष्मत्व दीख पड़ता है। इसी लिए उक्त चार विचारसरणियो के अन्य प्रकार से भी दो भाग किये गए हैं– व्यवहारनय और निश्चयनय। व्यवहार अर्थात् स्थूलगामी किंवा उपचार-प्रधान और निश्चय अर्थात् सूक्ष्मगामी किंवा तत्त्वस्पर्शी। वास्तव में एवंभूत ही निश्चय की पराकाष्ठा है।

एक तीसरे प्रकार से भी सात नयो के दो विभाग किये जाते हैं– शब्दनय और अर्थनय। जिसमे अर्थ का विचार प्रधान रूप से किया जाय– वह अर्थनय और जिसमे शब्द का प्राधान्य हो– वह शब्दनय। ऋजुसूत्र पर्यन्त पहले के चार अर्थनय है, और बाक़ी के तीन शब्दनय हैं।

पूर्वोक्त दृष्टियो के अलावा और भी बहुत सी दृष्टियॉ है। जीवन के दो भाग हैं। एक तो सत्य को पहचानने का और दूसरा सत्य को पचाने का। जो भाग सिर्फ सत्य का विचार करता है, अर्थात् तत्त्वस्पर्शी होता है, वह ज्ञानदृष्टि– ज्ञाननय है। तथा जो भाग तत्त्वानुभव को पचाने मे ही पूर्णता समझता है, वह क्रियादृष्टि– क्रियानय है।

ऊपर वर्णित सातो नय तत्त्व-विचारक होने से ज्ञाननय मे समा जाते हैं। तथा उन नयो के द्वारा शोधित सत्यको जीवन उतारने की जो दृष्टि, वही क्रियादृष्टि है। क्रिया का अर्थ है को सत्यमय बनाना। ३४,३५।

दूसरा अध्याय।

पहले अध्याय में सात पदार्थों का नामनिर्देश किया गया है। अगले नव अध्यायो मे क्रमश. उनका विशेष विचार करना है। अतएव सबसे पहले इस अध्याय मे जीव पदार्थ का तत्त्व-स्वरूप बतलाते हुए उसके अनेक भेद, प्रभेद आदि विषयो का वर्णन चौथे अध्याय तक करते हैं।

पॉच भाव, उनके भेद और उदाहरण-

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च। १।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्। २।

सम्यक्त्वचारित्रे। ३।

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च। ४।

ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च। ५।

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः। ६।

जीवभव्याभव्यत्वादीनि च। ७।

औपशमिक, क्षायिक और मिश्र- क्षायोपशमिक, ये तीन तथा औदयिक, पारिणामिक ये दो, कुल पॉच भाव हैं। सो जीव के स्वरूप हैं।

उक्त पाँच भावों के अनुक्रम से दो, नव, अट्ठारह, इक्कीस और तीन भेद है।

सम्यक्त्व और चारित्र ये दो औपशमिक हैं।

ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य तथा सम्यक्त्व और चारित्र ये नव क्षायिक हैं।

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र– सर्वविरति और संयमासंयम– देशविरति ये अट्ठारह क्षायोपशमिक हैं।

चार गतियाँ, चार कषाय, तीन लिङ्ग– वेद, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयम, एक असिद्धभाव और छः लेश्याएँ– ये इक्कीस औदयिक हैं।

जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन तथा अन्य भी पारिणामिक भाव हैं।

आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जैनदर्शन का अन्य दर्शनों के साथ क्या मन्तव्य भेद है यही बतलाना प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है। सांख्य और वेदान्त दर्शन आत्मा को कूटस्थनित्य मानकर उसमें कोई परिणाम नहीं मानते। ज्ञान, सुख दुःखादि परिणामों को वे प्रकृति के ही मानते हैं। वैशेषिक और नैयायिक ज्ञान आदि को आत्मा का गुण मानते हैं सही, पर ऐसा मानकर भी वे आत्मा को एकान्तनित्य– अपरिणामी मानते है। नवीन मीमांसक का मत वैशेषिक और नैयायिक जैसा ही है। बौद्ध दर्शन के अनुसार

आत्मा एकान्तक्षणिक अर्थात् [1]निरन्वय परिणामों का प्रवाह मात्र है। जैन दर्शन का कथन है कि जैसे प्राकृतिक जड़ पदार्थों में न तो [2]कूटस्थनित्यता है और न एकान्तक्षणिकता किन्तु [3]परिणामि-नित्यता है, वैसे ही आत्मा भी परिणामी नित्य है। अतएव ज्ञान, सुख, दु ख आदि पर्याय आत्मा के ही समझने चाहिएँ।

आत्मा के सभी पर्याय एक ही अवस्था वाले नहीं पाये जाते, कुछ पर्याय किसी एक अवस्था में, तो दूसरे कुछ पर्याय किसी दूसरी अवस्था मे पाये जाते हैं। पर्यायो की वे ही भिन्न भिन्न अवस्थाएँ भाव कहलाती हैं। आत्मा के पर्याय अधिक से अधिक पाँच भाव वाले हो सकते हैं। वे पाँच भाव ये हैं- १ औपशमिक, २ क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४ औदयिक और ५ पारिणामिक।

१ औपशमिक भाव वह है- जो उपशम से पैदा हो। उपशम

---

१ भिन्न-भिन्न क्षणों में सुख-दु:ख किंवा थोड़े बहुत भिन्न विषयक ज्ञानादि परिणामों का जो अनुभव होता है, सिर्फ़ उन्हीं परिणामों को मानना और उनके बीच सूत्ररूप किसी भी अखण्ड स्थिर तत्त्व को स्वीकार न करना- इसीको निरन्वय परिणामों का प्रवाह कहते हैं।

२ हथौड़े की चाहे कितनी भी चोटें क्यों न लगें, तब भी घन (एरन) जैसे स्थिर ही रहता है, वैसे ही देश कालादि सम्बन्धी विविध परिवर्तनों के होने पर भी- जिसमें किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता- वही कूटस्थ-नित्यता है।

३ तीनों कालों में मूल वस्तु के कायम रहने पर भी देश, कालादि के निमित्त से जिसमें परिवर्तन होता रहता है- वह परिणामिनित्यता है।

एक प्रकार की आत्म शुद्धि है, जो सत्तागत कर्म का उदय बिलकुल रुक जाने पर वैसे ही होती है जैसे मल नीचे बैठ जाने पर जल में स्वच्छता ।

भावों का स्वरूप

२ क्षायिक भाव वह है– जो क्षय से पैदा हो । क्षय आत्मा की वह परम विशुद्धि है, जो कर्म का सम्बन्ध बिलकुल छूट जाने पर वैसे ही प्रकट होती है जैसे सर्वथा मल निकाल देने पर जल मे स्वच्छता ।

३ क्षायोपशमिक भाव वह है– जो क्षयोपशम से पैदा हो । क्षयोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है, जो कर्म के एक अंश का उदय सर्वथा रुक जाने पर और दूसरे अंश का प्रदेशोदय[1] द्वारा क्षय होते रहने पर प्रकट होती है । यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित है जैसे धोने से मादक शक्ति के कुछ क्षीण हो जाने और कुछ रह जाने पर कोदों की शुद्धि ।

४ औदयिक भाव वह है जो उदय से पैदा हो । उदय एक प्रकार का आत्मिक कालुष्य– मालिन्य है, जो कर्म के विपाकानुभव से वैसे ही होता है जैसे मल के मिल जाने पर जल मे मालिन्य ।

५ पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है, जो सिर्फ द्रव्य के अस्तित्व से आप ही आप हुआ करता है अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन ही पारिणामिक भाव कहलाता है ।

ये ही पाँच भाव आत्मा के स्वरूप हैं अर्थात् संसारी या मुक्त

---

१ नीरस किये हुए कर्म दलिकों का वेदन प्रदेशोदय है और रस विशिष्ट दलिकों का विपाकवेदन विपाकोदय है ।

कोई भी आत्मा हो उसके सभी पर्याय उक्त पाँच भावों में से किसी न किसी भाव वाले अवश्य होंगे। अजीव में उक्त पाँचों भाव वाले पर्यायों का सम्भव नहीं है, इस लिए वे पाँचों अजीव के स्वरूप नहीं हो सकते। उक्त पाँचो भाव सभी जीवों में एक साथ पाये जाएँ यह भी नियम नहीं है। समस्त मुक्त जीवों में सिर्फ दो भाव होते है, क्षायिक और पारिणामिक। संसारी जीवों मे कोई तीन भाव वाला कोई चार भाव वाला कोई पाँच भाव वाला होता है, पर दो भाव वाला कोई नहीं होता, अर्थात् मुक्त आत्मा के पर्याय उक्त दो भाव में और संसारी के पर्याय तीन से लेकर पाँच भाव वाले तक पाये जाते है। अतएव पाँच भावों को जीव का स्वरूप कहा है सो जीवराशि की अपेक्षा से या किसी जीव विशेष मे सम्भव की अपेक्षा से समझना चाहिए।

जो पर्याय औदयिक भाव वाले हो वे वैभाविक और शेष चारो भाव वाले पर्याय स्वाभाविक हैं। १।

उक्त पाँच भावो के कुल त्रेपन भेद इस सूत्र में गिनाए हैं, जो अगले सूत्रों मे नाम पूर्वक क्रमशः बतलाये गए है कि– किस भाव वाले कितने कितने पर्याय हैं और वे कौन से। २।

औपशमिक भाव के भेद

दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम से सम्यक्त्व का और चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से चारित्र का आविर्भाव होता है। इसलिए सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही पर्याय औपशमिक भाव वाले समझने चाहिएँ। ३।

केवल ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान, केवलदर्शनावरण के क्षय से केवलदर्शन, पंचविध अन्तराय के क्षय से दान, लाभ-

भोग, उपभोग, और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ, दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय से सम्यक्त्व, और चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से चारित्र का आविर्भाव होता है। इसीसे केवल ज्ञानादि नवविध ही पर्याय क्षायिक कहलाते है। ४।

क्षायिक भाव के भेद

मति ज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण और मन-पर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति, श्रुत, अवधि और मन-पर्यय ज्ञान का आविर्भाव होता है। मति-अज्ञानावरण, श्रुत-अज्ञानावरण और विभङ्ग-ज्ञानावरण के क्षयोपशम से मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, और विभङ्गज्ञान का आविर्भाव होता है। चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम से चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन का आविर्भाव होता है। पंचविध अन्तराय के क्षयोपशम से दान, लाभ आदि उक्त पाँच लब्धियों का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क तथा दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम से सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि बारह प्रकार के कषाय के क्षयोपशम से चारित्र–सर्वविरति का आविर्भाव होता है। अनन्तानुबन्धी आदि अष्टविध कषाय के क्षयोपशम से संयमासंयम–देशविरति का आविर्भाव होता है। इसलिए मतिज्ञान आदि उक्त अठारह प्रकार के ही पर्याय क्षायोपशमिक हैं। ५।

क्षायोपशमिक भाव के भेद

गतिनाम कर्म के उदय का फल नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ है। कषायमोहनीय के उदय से क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय पैदा होते है। वेदमोहनीय के उदय

औदयिक भाव के भेद

से स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद होता है। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से मिथ्यादर्शन– तत्त्व का अश्रद्धान होता है। अज्ञान– ज्ञानाभाव, ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय के उदय का फल है। असंयतत्व– विरति का सर्वथा अभाव, अनन्तानुवन्धी आदि वारह प्रकार के चारित्र मोहनीय के उदय का परिणाम है। असिद्धत्व– शरीरधारण वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म के उदय का नतीजा है। कृष्ण, नील, कापोत, तेज., पद्म और शुक्ल ये छ प्रकार की लेश्याएँ– कषायोदय रञ्जित योगप्रवृत्ति या योगपरिणाम– कषाय के उदय अथवा योगजनक शरीरनाम कर्म के उदय का फल है। अतएव गति आदि उक्त इक्कीस पर्याय औदयिक कहे जाते हैं। ६।

पारिणामिक भाव के भेद

जीवत्व–चैतन्य, भव्यत्व– मुक्ति की योग्यता, अभव्यत्व– मुक्ति की अयोग्यता, ये तीन भाव स्वाभाविक हैं अर्थात् न तो वे कर्म के उदय से, न उपशम से, न क्षय से या न क्षयोपशम से पैदा होते हैं, किन्तु अनादि-सिद्ध आत्मद्रव्य के अस्तित्व से ही सिद्ध है, इसीसे वे पारिणामिक हैं।

प्र०– क्या पारिणामिक भाव तीन ही हैं ?

उ०– नहीं, और भी हैं।

प्र०– वे कौन से ?

उ०– अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणवत्त्व, प्रदेशवत्त्व, असंख्यात प्रदेशत्व, असर्वगतत्व, अरूपत्व आदि अनेक हैं।

प्र०– फिर तीन ही क्यों गिनाए ?

उ०– यहाँ जीव का स्वरूप वतलाना है सो उसके असाधारण भावों के द्वारा ही वतलाया जा सकता है। इसलिए औपशमिक

आदि के साथ पारिणामिक भाव भी वे ही वतलाए है जो सिर्फ जीव के असाधारण हैं। अस्तित्व आदि पारिणामिक है सही, पर वे जीव की तरह अजीव मे भी है। इसलिए वे जीव के असाधारण भाव नहीं हैं। इसीसे यहाँ उनका निर्देश नहीं किया है, तथापि अन्त मे आदि शब्द रक्खा है सो उन्हीं को सूचित करने के लिए, और दिगम्बर सम्प्रदाय में यही अर्थ 'च' शब्द से निकाला गया है। ७।

जीव का लक्षण–

उपयोगो लक्षणम् । ८ ।

उपयोग यह जीव का लक्षण है ।

जीव जिसको आत्मा और चेतन भी कहते हैं वह अनादिसिद्ध, स्वतन्त्र द्रव्य है। तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियो द्वारा नहीं हो सकता, पर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि से किया जा सकता है। तथापि साधारण जिज्ञासुओ के लिए एक ऐसा लक्षण वतला देना चाहिए– जिससे कि आत्मा की पहचान की जा सके। इसी अभिप्राय से प्रस्तुत सूत्र मे उसका लक्षण वतलाया है। आत्मा लक्ष्य– ज्ञेय और उपयोग लक्षण– जानने का उपाय है। जगत् अनेक जड़-चेतन पदार्थों का मिश्रण है। उसमे से जड़ और चेतन का विवेक पूर्वक निश्चय करना हो तो उपयोग के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि उपयोग तरतम भाव से सभी आत्माओं मे अवश्य पाया जाता है। जड़ वही है जिसमे उपयोग न हो।

प्र०– उपयोग क्या वस्तु है ?

उ०– बोध रूप व्यापार ही उपयोग है।

प्र०— आत्मा मे वोध की क्रिया होती है और जड़ में नहीं, सो क्यो ?

उ०— वोध का कारण चेतनाशक्ति है। वह जिसमे हो, उसी मे वोध क्रिया हो सकती है, दूसरे में नहीं। चेतनाशक्ति आत्मा में ही है, जड़ मे नहीं।

प्र०— आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, इसलिए उसमें अनेक गुण होने चाहिएँ, फिर उपयोग को ही लक्षण क्यो कहा ?

उ०— नि सन्देह आत्मा में अनन्त गुण-पर्याय हैं, पर उन सव मे उपयोग ही मुख्य है, क्योंकि स्वपर प्रकाश रूप होनेसे उपयोग ही अपना तथा इतर पर्यायों का ज्ञान करा सकता है। इसके सिवाय आत्मा जो कुछ अस्ति-नास्ति जानता है, ननु-नच करता है, सुख-दु ख का अनुभव करता है वह सव उपयोग से। अतएव उपयोग ही सव पर्यायो मे प्रधान है।

प्र०— क्या लक्षण स्वरूप से भिन्न है ?

उ०— नहीं।

प्र०— तव तो पहले पाँच भावो को जीव का स्वरूप कहा है, इसलिए वे भी लक्षण हुए, फिर दूसरा लक्षण वतलाने का क्या प्रयोजन ?

उ०— असाधारण धर्म भी सव एक से नहीं होते। कुछ तो ऐसे होते हैं जो लक्ष्य में होते हैं सही, पर कभी होते हैं कभी नही। कुछ ऐसे भी होते हैं जो समग्र लक्ष्य में नही रहते और कुछ ऐसे भी होते हैं जो तीनो काल मे समग्र लक्ष्य मे रहते है। समग्र लक्ष्य मे तीनो काल मे पाया जाने वाला उपयोग ही है। इसलिए लक्षणरूप से उसीका पृथक् कथन किया है और तद्द्वारा

यह सूचित किया है कि औपशमिक आदि भाव जीव के स्वरूप है सही, पर वे न तो सब आत्माओ मे पाये जाते हैं और न त्रिकाल-वर्त्ती ही है। त्रिकालवर्त्ती और सब आत्माओ मे पाया जाने वाला एक जीवत्व रूप पारिणामिक भाव ही है, जिसका फलित अर्थ उपयोग ही होता है। इसलिए उसी को अलग करके यहाँ लक्षण रूप से कहा है। दूसरे सब भाव कादाचित्क– कभी होनेवाले कभी नहीं होने वाले, कतिपय लक्ष्यवर्त्ती और कर्म सापेक्ष होने से जीव के उपलक्षण हो सकते हैं, लक्षण नही। उपलक्षण और लक्षण का अन्तर यह है कि जो प्रत्येक लक्ष्य मे सर्वात्मभाव से तीनो काल में पाया जाय– जैसे अग्नि मे उष्णत्व– वह लक्षण, और जो किसी लक्ष्य मे हो किसी में न हो, कभी हो कभी न हो, और स्वभाव-सिद्ध न हो वह उपलक्षण, जैसे अग्नि के लिए धूम। जीवत्व को छोडकर आत्मा के बावन भेद आत्मा के उपलक्षण ही है।

उपयोग की विविधता–

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः। ९।

वह उपयोग दो प्रकार का है तथा आठ प्रकार का और चार प्रकार का है।

जानने की शक्ति– चेतना समान होने पर भी, जानने की क्रिया– बोधव्यापार या उपयोग– सब आत्माओं में समान नहीं देखी जाती। यह उपयोग की विविधता, बाह्य-आभ्यन्तर कारणकलाप की विविधता पर अवलम्बित है। विषय भेद, इन्द्रिय आदि साधन भेद, देश-काल भेद इत्यादि विविधता बाह्य सामग्री की है। आवरण की तीव्रता-मन्दता का तारतम्य आन्तरिक सामग्री की विविधता

है। इस सामग्री-वैचित्र्य की बदौलत एक ही आत्मा भिन्न भिन्न समय मे भिन्न भिन्न प्रकार की बोधक्रिया करता है और अनेक आत्मा एक ही समय मे भिन्न भिन्न बोध करते हैं। यह बोध की विविधता अनुभवगम्य है। इसको सक्षेप मे वर्गीकरण द्वारा बतलाना ही इस सूत्र का उद्देश्य है।

उपयोगराशि के सामान्यरूप से दो विभाग किये जाते हैं- १ साकार, २ अनाकार। विशेषरूप से साकार-उपयोग के आठ और अनाकार-उपयोग के चार विभाग किये हैं। इस तरह उपयोग के कुल बारह भेद होते है।

साकार के आठ भेद ये हैं– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन.पर्यायज्ञान, केवलज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्ग-ज्ञान। अनाकार उपयोग के चार भेद ये हैं– चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

प्र०– साकार और अनाकार का मतलब क्या है?

उ०– जो बोध ग्राह्यवस्तु को विशेष रूप से जानने वाला हो– वह साकार उपयोग, और जो बोध ग्राह्यवस्तु को सामान्य रूप से जानने वाला हो– वह अनाकार उपयोग। साकार को ज्ञान या सविकल्पक बोध और अनाकार को दर्शन या निर्विकल्पक बोध भी कहते हैं।

प्र०– उक्त बारह भेद मे से कितने भेद पूर्ण विकसित चेतना-शक्ति के कार्य हैं और कितने अपूर्ण विकसित चेतनाशक्ति के कार्य?

उ०– केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो पूर्ण विकसित चेतना के व्यापार और शेष सब अपूर्ण विकसित चेतना के व्यापार हैं।

प्र०– विकास की अपूर्णता के समय तो अपूर्णता की विवि-

धता के कारण उपयोग भेद सम्भव है पर विकास की पूर्णता के समय उपयोग'भेद कैसे ?

उ०— विकास की पूर्णता के समय भी केवलज्ञान और केवल-दर्शन रूप से जो उपयोग भेद माना जाता है इसका कारण सिर्फ ग्राह्य विषय की द्विरूपता है अर्थात् प्रत्येक विषय सामान्य और विशेष रूप से उभयस्वभाव है इसलिए उसको जानने वाला चेतना-जन्य व्यापार भी ज्ञान, दर्शन रूप से दो प्रकार का होता है ।

प्र०— साकार के आठ भेद मे ज्ञान और अज्ञान का क्या अन्तर है ?

उ०— और कुछ नहीं, सिर्फ सम्यक्त्व के सद्भाव, असद्भाव का ।

प्र०— तो फिर शेष दो ज्ञानो के प्रतिपक्षी अज्ञान और दर्शन के प्रतिपक्षी अदर्शन क्यो नहीं ?

उ०— मनःपर्याय और केवल ये दो ज्ञान सम्यक्त्व के बिना होते ही नहीं, इस लिए उनके प्रतिपक्ष का संभव नहीं । दर्शनो मे केवलदर्शन सम्यक्त्व के सिवाय नहीं होता, पर शेष तीन दर्शन सम्यक्त्व के अभाव मे भी होते हैं, तथापि उनके प्रतिपक्षी तीन अदर्शन न कहने का कारण यह है कि दर्शन यह सामान्यमात्र का बोध है । इस लिए सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी के दर्शन के बीच कोई भेद नहीं बतलाया जा सकता ।

प्र०— उक्त बारह भेदो की व्याख्या क्या है ?

उ०— ज्ञान के आठ भेदो का स्वरूप[1] पहले ही बतलाया जा

---

[1] देखो अ० १, सू० ९ से ३३ तक ।

चुका है। दर्शन के चार भेदो का स्वरूप इस प्रकार है– १ जो सामान्य वोध नेत्रजन्य हो वह चक्षुर्दर्शन, २ नेत्र के सिवाय अन्य किसी इन्द्रिय से या मन से होने वाला सामान्य वोध अचक्षुर्दर्शन, ३ अवधिलब्धि से मूर्त पदार्थों का सामान्य वोध अवधिदर्शन, ४ और केवललब्धि से होने वाला समस्त पदार्थों का सामान्य वोध केवलदर्शन कहलाता है। ९।

जीवराशि के विभाग–

संसारिणो मुक्ताश्च। १०।

संसारी और मुक्त ऐसे दो विभाग हैं।

जीव अनन्त हैं। चैतन्य रूप से वे सव समान हैं। यहाँ उनके दो विभाग किये गये है सो पर्यायविशेष के सद्भाव-असद्भाव की अपेक्षा से, अर्थात् एक संसार रूप पर्याय वाले और दूसरे संसार रूप पर्याय से रहित। पहले प्रकार के जीव ससारी और दूसरे प्रकार के मुक्त कहलाते हैं।

प्र०– संसार क्या वस्तु है ?

उ०– द्रव्य और भाव वन्ध ही संसार है। कर्मदल का विशिष्ट सवन्ध द्रव्यवन्ध है। राग-द्वेष आदि वासनाओ का सवन्ध भाववन्ध है। १०।

ससारी जीव के भेद-प्रभेद–

समनस्काऽमनस्काः। ११।
संसारिणस्त्रसाः स्थावरा.। १२।

पृथिव्यऽम्बुवनस्पतयः स्थावराः । १३ ।
तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः । १४ ।

मनवाले और मनरहित ऐसे ससारी जीव हैं ।
तथा वे त्रस और स्थावर हैं ।
पृथिवीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय ये तीन स्थावर हैं ।
तेज काय, वायुकाय और द्वीन्द्रिय आदि त्रस हैं ।

ससारी जीव भी अनन्त हैं । संक्षेप में उनके दो विभाग किये हैं, सो भी दो तरह से । पहला विभाग मन के संबन्ध और असंबन्ध पर निर्भर है अर्थात् मनवाले और मनरहित इस तरह दो विभाग किये है, जिनमे सकल संसारी का समावेश हो जाता है । दूसरा विभाग त्रसत्व और स्थावरत्व के आधार पर किया है अर्थात् एक त्रस और दूसरे स्थावर । इस विभाग मे भी सकल ससारी जीवो का समावेश हो जाता है ।

प्र०— मन किसे कहते हैं ?

उ०— जिससे विचार किया जा सके ऐसी आत्मिक शक्ति मन है और इस शक्ति से विचार करने मे सहायक होनेवाले एक प्रकार के सूक्ष्म परमाणु भी मन कहलाते हैं । पहला भावमन और दूसरा द्रव्यमन कहा जाता है ।

प्र०— त्रसत्व और स्थावरत्व का मतलब क्या है ?

उ०— उद्देश पूर्वक एक जगह से दूसरी जगह को जाने की या हिलने चलने की शक्ति यह त्रसत्व, और ऐसी शक्ति का न होना यह स्थावरत्व ।

प्र०— जो जीव मनरहित कहे गये हैं क्या उनके द्रव्य, भाव किसी प्रकार का मन नहीं होता ?

उ०— होता है, पर सिर्फ भावमन ।

प्र०— तब तो सभी मनवाले हुए, फिर मनवाले और मनरहित यह विभाग कैसे ?

उ०— द्रव्यमन की अपेक्षा से अर्थात् जैसे बहुत बूढा आदमी पॉव और चलने की शक्ति होने पर भी लकड़ी के सहारे के बिना नहीं चल सकता; इसी तरह भावमन होने पर भी द्रव्यमन के बिना स्पष्ट विचार नहीं किया जा सकता । इसी कारण द्रव्यमन की प्रधानता मानकर उसके भाव, अभाव की अपेक्षा से मनवाले और मनरहित ऐसा विभाग किया है ।

प्र०— क्या दूसरा विभाग करने का यह तो मतलब नहीं है कि सभी त्रस समनस्क और स्थावर सभी अमनस्क हैं ।

उ०— नहीं, त्रस में भी कुछ ही समनस्क होते हैं, सब नहीं। और स्थावर तो सभी अमनस्क ही होते हैं । ११, १२ ।

स्थावरके पृथिवीकाय, जलकाय और वनस्पतिकाय ये तीन भेद है और त्रस के तेज काय, वायुकाय ये दो भेद तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय ऐसे भी चार भेद हैं ।

प्र०— त्रस और स्थावरका मतलब क्या है ?

उ०— जिसके त्रसनाम कर्म का उदय हो वह त्रस, और स्थावर नाम कर्म का उदय हो वह स्थावर ।

प्र०— त्रसनाम कर्म के उदय की और स्थावरनाम कर्म के उदय की पहचान क्या है ?

उ०— दुःख को त्यागने और सुख को पाने की प्रवृत्ति का

स्पष्ट रूप मे दिखाई देना और न दिखाई देना यही क्रमश त्रसनाम कर्म के उदय की और स्थावरनाम कर्म के उदय की पहचान है।

प्र०– क्या द्वीन्द्रिय आदि की तरह तेज कायिक और वायुकायिक जीव भी उक्त प्रवृत्ति करते हुए स्पष्ट दिखाई देते है? जिससे उनको त्रस माना जाय।

उ०– नहीं।

प्र०– तो फिर पृथिवी कायिक आदि की तरह उनको स्थावर क्यो न कहा?

उ०– उक्त लक्षण के अनुसार वे असल मे स्थावर ही है। यहाँ द्वीन्द्रिय आदि के साथ सिर्फ गति का सादृश्य देखकर उनको त्रस कहा है अर्थात् त्रस दो प्रकार के है– लब्धित्रस और गतित्रस। त्रसनाम कर्म के उदय वाले लब्धित्रस हैं, ये ही मुख्य त्रस है, जैसे द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव। स्थावरनाम कर्म का उदय होनेपर भी त्रस की सी गति होने के कारण जो त्रस कहलाते हैं वे गतित्रस, ये उपचार मात्र से त्रस है, जैसे तेजकायिक, वायुकायिक। १३, १४।

इन्द्रियों की सख्या, उनके भेद प्रभेद और नाम निंदश–

पञ्चेन्द्रियाणि। १५।
द्विविधानि। १६।
निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्। १७।
लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। १८।
उपयोगः स्पर्शादिषु। १९।
स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि। २०।

इन्द्रियाँ पाँच हैं।

वे प्रत्येक दो दो प्रकार की हैं।

द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरण रूप है।

भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप है।

उपयोग स्पर्श आदि विषयों में होता है।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इन्द्रियों के नाम हैं।

यहाँ इन्द्रियो की संख्या वतलाने का उद्देश्य यह है कि उसके आधार पर संसारी जीवो के विभाग करने हो तो मालूम हो सके कि इतने विभाग हो सकते हैं। इन्द्रियाँ पाँच है। सभी ससारियों के पाँचो इन्द्रियाँ नही होती। किन्ही के एक, किन्हीं के दो, इसी तरह एक-एक वढ़ाते-वढाते किन्हीं के पाँच तक होती हैं। जिनके एक इन्द्रिय हो वे एकेन्द्रिय, जिनके दो हो वे द्वीन्द्रिय, इसी तरह त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय— ऐसे पाँच भेद संसारी जीवों के होते है।

प्र०— इन्द्रिय का मतलव क्या है?

उ०— जिससे ज्ञान लाभ हो सके— वह इन्द्रिय।

प्र०— क्या पाँच से अधिक इन्द्रियाँ नही हैं?

उ०— नहीं, ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ही हैं। यद्यपि साख्य आदि शास्त्रों मे वाक्, पाणि, पाद, पायु—गुदा और उपस्थ— लिङ्ग अर्थात् जननेन्द्रिय को भी इन्द्रिय कहा है, परन्तु वे कर्मेन्द्रियाँ हैं। यहाँ सिर्फ ज्ञानेन्द्रियोंको वतलाना है, जो पाँच से अधिक नहीं हैं।

प्र०— ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का मतलव क्या है?

उ०— जिससे मुख्यतया जीवन यात्रोपयोगी ज्ञान हो सके वह

ज्ञानेन्द्रिय और जीवन यात्रोपयोगी आहार, विहार, निहार आदि क्रिया जिससे हो वह कर्मेन्द्रिय । १५ ।

पाँचो इन्द्रियो के द्रव्य और भाव रूप से दो दो भेद हैं । पुद्गलमय जड़ इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय है, और आत्मिक परिणामरूप इन्द्रिय भावेन्द्रिय है । १६ ।

द्रव्येन्द्रिय, निर्वृत्ति और उपकरण रूप से दो प्रकार की है । शरीर के ऊपर दीखने वाली इन्द्रियों की आकृतियाँ जो पुद्गलस्कन्धों की विशिष्ट रचना रूप हैं, उनको निर्वृत्ति-इन्द्रिय और निर्वृत्ति-इन्द्रिय की बाहरी और भीतरी पौद्गलिक शक्ति, जिसके बिना निर्वृत्ति-इन्द्रिय ज्ञान पैदा करने में असमर्थ है, उसको उपकरणेन्द्रिय कहते है । १७ ।

भावेन्द्रिय भी लब्धि और उपयोग रूप से दो प्रकार की है । मतिज्ञानावरणीय कर्म आदि का क्षयोपशम जो एक प्रकार का आत्मिक परिणाम है– वह लब्धि-इन्द्रिय है । और लब्धि, निर्वृत्ति तथा उपकरण इन तीनो के मिलने से जो रूपादि विषयों का सामान्य व विशेष बोध होता है– वह उपयोगेन्द्रिय है । उपयोगेन्द्रिय मति-ज्ञान तथा चक्षु, अचक्षु दर्शनरूप है । १८ ।

मतिज्ञान रूप उपयोग जिसको भावेन्द्रिय कहा है वह अरूपी (अमूर्त) पदार्थों को जान नहीं सकता, रूपी पदार्थोंको जान सकता है पर उनके सकल गुण, पर्यायों को नहीं जान सकता सिर्फ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, और शब्द पर्यायो को ही जान सकता है ।

प्र०– प्रत्येक इन्द्रिय के द्रव्य-भाव रूप से दो दो और द्रव्य के तथा भाव के भी अनुक्रम से निर्वृत्ति-उपकरण रूप तथा लब्धि-

उपयोग रूप दो दो भेद बतलाए, अब यह कहिये कि इनका प्राप्ति-क्रम कैसा है ?

उ०— लब्धीन्द्रिय होने पर ही निर्वृत्ति का संभव है। निर्वृत्ति के बिना उपकरण नहीं अर्थात् लब्धि प्राप्त होने पर निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग हो सकते है। इसी तरह निर्वृत्ति प्राप्त होने पर उपकरण और उपयोग तथा उपकरण प्राप्त होने पर उपयोग का संभव है। सारांश यह है कि पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त होनेपर उत्तर-उत्तर इन्द्रिय के प्राप्त होने का संभव है। पर ऐसा नियम नहीं कि उत्तर-उत्तर इन्द्रिय की प्राप्ति होने पर ही पूर्व-पूर्व इन्द्रिय प्राप्त हो। १९।

इन्द्रियों के नाम[1]

१ स्पर्शनेन्द्रिय— त्वचा, २ रसनेन्द्रिय— जिह्वा, ३ घ्राणेन्द्रिय— नासिका, ४ चक्षुरिन्द्रिय— आँख, ५ श्रोत्रेन्द्रिय— कान। इन पाँचो के लब्धि, निर्वृत्ति उपकरण और उपयोग रूप चार चार प्रकार हैं अर्थात् इन चार चार प्रकारो की समष्टि ही स्पर्शन आदि एक एक पूर्ण इन्द्रिय है। इस समष्टि मे जितनी न्यूनता उतनी ही इन्द्रिय की अपूर्णता।

प्र०— उपयोग तो ज्ञान विशेष है जो इन्द्रिय का फल है, उसको इन्द्रिय कैसे कहा ?

उ०— यद्यपि उपयोग वास्तव मे लब्धि, निर्वृत्ति और उपकरण इन तीन की समष्टि का कार्य है, पर यहाँ उपचार से अर्थात् कार्य मे कारण का आरोप करके उसको भी इन्द्रिय कहा है। २०।

---

१ इनके विशेष विचार के लिए देखो— हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ पृ० ३६ इन्द्रिय शब्द विषयक परिशिष्ट।

इन्द्रियों के ज्ञेय अर्थात् विषय–

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तेषामर्थाः । २१ ।

श्रुतमनिन्द्रियस्य । २२ ।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण– रूप और शब्द ये पॉच क्रम से उनके अर्थात् पूर्वोक्त पॉच इन्द्रियों के अर्थ– ज्ञेय हैं।

अनिन्द्रिय– मन का विषय श्रुत है।

जगत् के सब पदार्थ एक से नही है। कुछ मूर्त्त है और कुछ अमूर्त्त। जिनमे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि हो वे मूर्त्त। मूर्त्त ही पदार्थ इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं, अमूर्त्त नहीं। पॉचो इन्द्रियो के विषय जो जुदा जुदा बतलाए हैं वे आपस मे सर्वथा भिन्न और मूलतत्त्व–द्रव्यरूप नहीं, किन्तु एक ही द्रव्य के भिन्न भिन्न अंश–पर्याय हैं अर्थात् पॉचो इन्द्रियॉ एक ही द्रव्य की पारस्परिक भिन्न भिन्न अवस्था विशेषों को जानने मे प्रवृत्त होती हैं। अतएव इस सूत्र में पॉच इन्द्रियों के जो पॉच विषय बतलाए है उन्हे स्वतन्त्र अलग अलग वस्तु न समझ कर एक ही मूर्त्त– पौद्गलिक द्रव्य के अंश समझना चाहिए। जैसे एक लड्डू है उसी को भिन्न भिन्न रूप से पॉचों इन्द्रियॉं जानती हैं। अंगुली छूकर उसका शीत, उष्ण आदि स्पर्श बतला सकती है। जीभ चखकर उसका खट्टा मीठा आदि रस बतलाती है। नाक सूँघ कर उसकी खुशबू या बदबू बतलाती है। ऑख देखकर उसके लाल, सफेद आदि रंग बतलाती है। कान उस कड़े लड्डू को खाने आदि से उत्पन्न होनेवाले शब्दों को जानता है। यह भी नही कि उस एक ही लड्डू मे स्पर्श, रस, गन्ध आदि उक्त पॉचों विषयो का स्थान अलग अलग

हो। किन्तु वे सभी उसके सब भागो में एक साथ रहते हैं, क्योंकि वे सभी एक ही द्रव्य के अविभाज्य पर्याय हैं। उनका विभाग सिर्फ बुद्धि द्वारा किया जा सकता है जो इन्द्रियों से होता है। इन्द्रियों की शक्ति जुदा जुदा है। वे कितनी ही पटु क्यो न हो, पर अपने ग्राह्य विषय के अलावा अन्य विपय को जानने मे समर्थ नहीं होती। इसी कारण पाँचो इन्द्रियो के पाँच विषय असंकीर्ण–पृथक् पृथक् हैं।

प्र०– स्पर्श आदि पाँचों अवश्य सहचरित है तव ऐसा क्यों है कि किसी किसी वस्तु मे उन पाँचो की उपलब्धि न हो कर सिर्फ एक या दो की होती है, जैसे सूर्य आदि की प्रभा का रूप तो मालूम होता है पर स्पर्श, रस, गन्ध आदि नहीं। इसी तरह पुष्पादि से अमिश्रित वायु का स्पर्श मालूम पड़ने पर भी रस, गन्ध आदि मालूम नहीं पड़ते।

उ०– प्रत्येक भौतिक द्रव्य मे स्पर्श आदि उक्त सभी पर्याय होते है पर जो पर्याय उत्कट हो वही इन्द्रियग्राह्य होता है। किसी मे स्पर्श आदि पाँचो पर्याय उत्कटतया अभिव्यक्त होते हैं और किसी में एक दो आदि। शेप पर्याय अनुत्कट अवस्था मे होने के कारण इन्द्रियो से जाने नहीं जाते, पर होते है अवश्य। इन्द्रिय की पटुता– ग्रहणशक्ति भी सब जाति के प्राणियो की एक सी नहीं। एक जातीय प्राणियों मे भी इन्द्रिय की पटुता विविध प्रकार की देखी जाती है। इसलिए स्पर्श आदि की उत्कटता, अनुत्कटता का विचार इन्द्रिय की पटुता के तरतम भाव पर निर्भर है। २१।

उक्त पाचों इन्द्रियों के अलावा एक और भी इन्द्रिय है जिसे मन कहते है। मन यह ज्ञान का साधन है पर स्पर्शन आदि की

तरह वाह्य साधन न होकर आन्तरिक साधन है, इसीसे उसको अन्तःकरण भी कहते हैं। मन का विषय वाह्य इन्द्रियो की तरह परिमित नहीं है। वाह्य इन्द्रियाँ सिर्फ मूर्त्त पदार्थ को ग्रहण करती है और सो भी अंश रूप से, जब कि मन मूर्त्त, अमूर्त्त सभी पदार्थों को ग्रहण करता है, सो भी अनेक रूप से। मन का कार्य विचार करने का है, जो इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किये गए और नहीं ग्रहण किये गए सभी विषयो मे विकास– योग्यता के अनुसार विचार कर सकता है। यह विचार ही श्रुत है। इसी से कहा गया है कि अनिन्द्रिय का विषय श्रुत है अर्थात् मूर्त्त अमूर्त्त सभी तत्त्वो का स्वरूप मन का प्रवृत्ति क्षेत्र है।

प्र०– जिसे श्रुत कहते हो वह यदि मन का कार्य है और वह एक प्रकार का स्पष्ट तथा विशेषग्राही ज्ञान है, तो फिर क्या मन से मतिज्ञान नहीं होता ?

उ०– होता है, पर मन के द्वारा पहले पहल जो सामान्य रूप से वस्तु का ग्रहण होता है तथा जिसमे शब्दार्थ सम्बन्ध, पौर्वापर्य– आगे पीछे का अनुसन्धान और विकल्प रूप विशेषता न हो वही मतिज्ञान है। इसके वाद होने वाली उक्त विशेषता युक्त विचार धारा श्रुतज्ञान है, अर्थात् मनोजन्य ज्ञान व्यापार की धारा मे प्राथमिक अल्प अश मतिज्ञान है और पीछे का अधिक अंश श्रुतज्ञान है। सारांश यह है कि स्पर्शन आदि पॉच इन्द्रियो से सिर्फ मतिज्ञान होता है, पर मन से मति, श्रुत दोनों। इनमे भी मति की अपेक्षा श्रुत ही प्रधान है। इसी से यहाँ मन का विषय श्रुत कहा गया है।

प्र०– मन को अनिन्द्रिय क्यों कहा है ?

उ०– यद्यपि वह भी ज्ञान का साधन होने से इन्द्रिय है ही,

परन्तु रूप आदि विषयो मे प्रवृत्त होने के लिए उसको नेत्र आदि इन्द्रियों का सहारा लेना पड़ता है। इसी पराधीनता के कारण उसे अनिन्द्रिय या नोइन्द्रिय–ईषद्इन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय जैसा कहा है।

प्र०—क्या मन भी नेत्र आदि की तरह शरीर के किसी ख़ास स्थान मे ही रहता है या सर्वत्र ?

उ०—वह शरीर के अंदर सर्वत्र वर्त्तमान है, किसी ख़ास स्थान मे नहीं; क्योंकि शरीर के भिन्न भिन्न स्थानो में वर्त्तमान इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किये गए सभी विषयों में मन की गति है, जो उसे देहव्यापी माने विना घट नहीं सकती; इसीसे[1] यह कहा जाता है कि 'यत्र पवनस्तत्र मन'। २१,२२।

इन्द्रियों के स्वामी–

वाय्वन्तानामेकम् । २३ ।

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि । २४ ।

संज्ञिनः समनस्काः । २५ ।

वायुकाय तक के जीवों के एक इन्द्रिय है।

कृमि, पिपीलिका–चींटी, भ्रमर–भौंरा और मनुष्य वगैरह के क्रम से एक एक इन्द्रिय अधिक होती है।

सञ्ज्ञी ही मनवाले हैं।

तेरहवें और चौदहवें सूत्र मे संसारी जीवो के स्थावर और

---

१ यह मत श्वेताम्बर परम्परा का है, दिगम्बर परम्परा के अनुसार द्रव्य मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर नहीं है, किन्तु सिर्फ हृदय है।

त्रस रूप से दो विभाग बतलाए है । उनके नव निकाय– जातियाँ हैं, जैसे– पृथिवीकाय, जलकाय, वनस्पतिकाय, तेजःकाय, वायुकाय ये पाँच तथा द्वीन्द्रिय आदि चार । इनमे से वायुकाय तक के पाँच निकायों के सिर्फ एक इन्द्रिय होती है और वह भी स्पर्शन ।

कृमि, जलौका आदि के दो इन्द्रियाँ होती है, एक स्पर्शन और दूसरी रसन । चींटी, कुंथु, खटमल आदि के उक्त दो और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं । भौंरे, मक्खी, बिच्छू, मच्छर आदि के उक्त तीन तथा आँख ये चार इन्द्रियाँ होती हैं । मनुष्य, पशु, पक्षी तथा देव-नारक के उक्त चार और कान ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं ।

प्र०– क्या यह संख्या द्रव्य-इन्द्रिय की है या भाव-इन्द्रिय की किंवा उभय-इन्द्रिय की ?

उ०– उक्त संख्या सिर्फ द्रव्य-इन्द्रिय की समझनी चाहिए, भाव-इन्द्रियाँ तो सभी के पाँचो होती हैं ।

प्र०– तो फिर क्या कृमि आदि भावेन्द्रिय के बल से देख या सुन लेते हैं ?

उ०– नहीं, सिर्फ भावेन्द्रिय काम करने मे समर्थ नहीं, उसे द्रव्येन्द्रिय का सहारा चाहिए । अतएव सब भावेन्द्रियो के होने पर भी कृमि या चींटी आदि नेत्र तथा कर्ण रूप द्रव्येन्द्रिय न होने से देखने, सुनने मे असमर्थ है, फिर भी वे अपनी अपनी द्रव्येन्द्रिय की पटुता के बल से जीवन-यात्रा का निर्वाह कर ही लेते है ।

पृथिवीकाय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त के आठ निकायों के तो मन होता ही नहीं, पंचेन्द्रियो के होता है पर सब के नहीं । पचेन्द्रिय के चार वर्ग हैं– देव, नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च । इनमे

से पहले दो वर्गों मे तो सभी के मन होता है और पिछले दो वर्गों मे उन्हीं के होता है जो गर्भोत्पन्न हो, अर्थात् मनुष्य और तिर्यञ्च-गर्भोत्पन्न तथा संमूर्छिम इस तरह दो दो प्रकार के होते हैं, जिनमें संमूर्छिम मनुष्य और तिर्यञ्च के मन नहीं होता। सारांश यह है कि पंचेन्द्रियों में सब देव, सब नारक और गर्भज मनुष्य तथा गर्भज तिर्यञ्च के ही मन होता है।

प्र०— अमुक के मन है और अमुक के नहीं, इसकी क्या पहचान ?

उ०—इसकी पहचान संज्ञा का होना या न होना है।

प्र०— संज्ञा, वृत्ति को कहते हैं और वृत्ति तो न्यूनाधिक रूप से किसी न किसी प्रकार की सभी मे देखी जाती है, क्योंकि कृमि, चींटी आदि जन्तुओं में भी आहार, भय आदि की वृत्तियाँ देखी जाती हैं, फिर उन जीवों के मन क्यों नहीं माना जाता ?

उ०— यहाँ संज्ञा का मतलब साधारण वृत्ति से नहीं है किन्तु [1]विशिष्टवृत्ति से है। वह विशिष्टवृत्ति गुण-दोष की विचारणा है, जिससे हित की प्राप्ति और अहित का परिहार हो सके। इस विशिष्टवृत्ति को शास्त्र मे सम्प्रधारण संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा मन का कार्य है जो देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च मे ही स्पष्ट रूप से देखी जाती है। इसलिए वे ही मनवाले माने जाते हैं।

प्र०— क्या कृमि, चींटी आदि जीव अपने अपने इष्ट को पाने तथा अनिष्ट को त्यागने का प्रयत्न नहीं करते ?

---

१ इसके खुलासे के लिए देखो हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ पृ० ३८ में 'संज्ञा' शब्द का परिशिष्ट।

उ०– करते है ।

प्र०– तब फिर उनमे संप्रधारण संज्ञा और मन क्यो नही माने जाते ?

उ०– कृमि आदि मे भी अत्यन्त सूक्ष्म मन मौजूद है, इससे वे हित मे प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति कर लेते हैं। पर उनका वह कार्य सिर्फ देह-यात्रोपयोगी है, इससे अधिक नहीं। यहाँ इतना पुष्ट मन विवक्षित है जिससे निमित्त मिलने पर देह-यात्रा के अलावा और भी अधिक विचार किया जा सके अर्थात् जिससे पूर्व जन्म का स्मरण तक हो सके– इतनी विचार की योग्यता ही संप्रधारण संज्ञा कहलाती है। इस संज्ञा वाले उक्त देव, नारक, गर्भज मनुष्य और गर्भज तिर्यञ्च ही हैं। अतएव उन्हीं को यहाँ समनस्क कहा है। २३–२५।

अन्तराल गति सबन्धी विशेष जानकारी के लिए योग आदि पाँच बातों का वर्णन–

विग्रहगतौ कर्मयोगः । २६ ।

अनुश्रेणि गतिः । २७ ।

अविग्रहा जीवस्य । २८ ।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः । २९ ।

एकसमयोऽविग्रहः । ३० ।

---

१ देखो ज्ञानविन्दु प्रकरण (यशोविजय जैन ग्रन्थमाला) पृ० १४४।

२ इस विषयको विशेष स्पष्टता पूर्वक समझने के लिए देखो हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ मे 'अनाहारक' शब्द का परिशिष्ट पृ० १४३।

एकं द्वौ वाऽनाहारकः । ३१ ।

विग्रहगति में कर्मयोग– कार्मणयोग ही होता है ।

गति, श्रेणि– सरलरेखा के अनुसार होती है ।

जीव– मुच्यमान आत्मा की गति विग्रहरहित ही होती है ।

संसारी आत्मा की गति अविग्रह और सविग्रह होती है । विग्रह चार से पहले अर्थात् तीन तक हो सकते हैं ।

एक विग्रह एक ही समय का होता है ।

एक या दो समय तक जीव अनाहारक रहता है ।

पुनर्जन्म मानने वाले प्रत्येक दर्शन के सामने अन्तराल गति संबन्धी निम्नलिखित पाँच प्रश्न उपस्थित होते हैं–

१ जन्मान्तर के लिए या मोक्ष के लिए जीव जब गति करता है तब, अर्थात् अन्तराल गति के समय स्थूल शरीर न होने से जीव किस तरह प्रयत्न करता है ?

२ गतिशील पदार्थ गतिक्रिया करते हैं, सो किस नियम से ?

३ गतिक्रिया के कितने प्रकार हैं और कौन-कौन जीव किस-किस गतिक्रिया के अधिकारी हैं ?

४ अन्तराल गति का जघन्य या उत्कृष्ट कालमान कितना है और यह कालमान किस नियम पर अवलम्बित है ?

५ अन्तराल गति के समय जीव आहार करता है या नहीं, अगर नहीं करता है तो जघन्य या उत्कृष्ट कितने काल तक और अनाहारक स्थिति का कालमान किस नियम पर अवलम्बित है ?

इन पाँच प्रश्नों पर आत्मा को व्यापक मानने वाले दर्शनों को

भी विचार करना चाहिए, क्योकि उन्हे भी पुनर्जन्म की उपपत्ति के लिए आखिरकार सूक्ष्म शरीर का गमन और अन्तराल गति माननी ही पड़ती है, परन्तु देहव्यापी आत्मवादी होने से जैन दर्शन को तो उक्त प्रश्नो पर अवश्य विचार करना चाहिए। यही विचार यहाँ क्रमश किया गया है, सो इस प्रकार—

अन्तराल गति दो प्रकार की है, ऋजु और वक्र। ऋजुगति से स्थानान्तर को जाते हुए जीव को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता,

योग

क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व शरीरजन्य वेग मिलता है, जिससे वह दूसरे प्रयत्न के विना ही धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे ही नये स्थान को पहुँच जाता है। दूसरी गति वक्र– घुमाव वाली होती है, इसलिए इस गति से जाते हुए जीव को नये प्रयत्न की अपेक्षा होती है, क्योंकि पूर्व शरीरजन्य प्रयत्न वहाँ तक ही काम करता है जहाँ से जीव को घूमना पडे। घूमने का स्थान आते ही पूर्व देहजनित प्रयत्न मन्द पड़ जाता है, इसलिए वहाँ से सूक्ष्म शरीर जो जीव के साथ उस समय भी है उसी से प्रयत्न होता है। वही सूक्ष्म शरीरजन्य प्रयत्न कार्मण योग कहलाता है। इसी आशय से सूत्र मे कहा गया है कि विग्रह गति मे कार्मण योग ही होता है। सारांश यह है कि वक्रगति से जाने वाला जीव सिर्फ पूर्व शरीर-जन्य प्रयत्न से नये स्थान को नहीं पहुँच सकता, इसके लिए नया प्रयत्न कार्मण– सूक्ष्म शरीर से ही साध्य है, क्योंकि उस समय दूसरा कोई स्थूल शरीर नहीं है। स्थूल शरीर न होने से उस समय मनोयोग और वचनयोग भी नहीं होते। २६।

गतिशील पदार्थ दो ही प्रकार के हैं– जीव और पुद्गल।

इन दोनों में गतिक्रिया की शक्ति है, इसलिए वे निमित्त वश गतिक्रिया में परिणत होकर गति करने लगते हैं। बाह्य उपाधि से वे भले ही वक्रगति करें, पर स्वाभाविक गति तो उनकी सीधी ही होती है। सीधी गति का मतलब यह है कि पहले जिस आकाश क्षेत्र में जीव या परमाणु स्थित हो, वहाँ से गति करते हुए वे उसी आकाश क्षेत्र की सरल रेखा में चाहे ऊँचे, नीचे या तिरछे चले जाते हैं। इसी स्वाभाविक गति को लेकर सूत्र में कहा गया है कि गति अनुश्रेणि होती है। श्रेणि का मतलब पूर्वस्थान प्रमाण आकाश की अन्यूनाधिक सरल रेखा से है। इस स्वाभाविक गति के वर्णन से सूचित हो जाता है कि जब कोई प्रतिघातकारक कारण हो तब जीव या पुद्गल श्रेणि-सरलरेखा को छोड़कर वक्ररेखा से भी गमन करते हैं। सारांश यह है कि गतिशील पदार्थों की गतिक्रिया प्रतिघातक निमित्त के अभाव में पूर्वस्थान प्रमाण सरलरेखा से ही होती है और प्रतिघातक निमित्त होने पर वक्ररेखा से होती है। २७।

गति का नियम

पहले कहा गया है कि गति, ऋजु और वक्र दो प्रकार की होती है। ऋजु गति वह है जिसमें पूर्व स्थान से नये स्थान तक जाने में सरलरेखा का भंग न हो अर्थात् एक भी घुमाव न करना पड़े। वक्रगति वह है जिसमें पूर्व स्थान से नये स्थान तक जाने में सरलरेखा का भंग हो अर्थात् कम से कम एक घुमाव अवश्य हो। यह भी कहा गया है कि जीव, पुद्गल दोनों उक्त दोनों गतियों के अधिकारी हैं। यहाँ मुख्य प्रश्न जीव का है। पूर्व शरीर छोड़ कर स्थानान्तर को जाने वाले जीव दो प्रकार के हैं— एक तो वे जो स्थूल और

गति का प्रकार

सूक्ष्म शरीर को सदा के लिए छोड़कर स्थानान्तर को जाते हैं, वे जीव मुच्यमान– मोक्ष जाने वाले कहलाते हैं। दूसरे वे जो पूर्व स्थूल शरीर को छोड़कर नये स्थूल शरीर को प्राप्त करते हैं। अत. जो अन्तराल गति के समय सूक्ष्म शरीर से अवश्य वेष्टित होते हैं वे ही संसारी कहलाते हैं। मुच्यमान जीव मोक्ष के नियत स्थान पर ऋजुगति से ही जाते हैं, वक्रगति से नहीं, क्योंकि वे पूर्व स्थान की सरलरेखा वाले मोक्ष स्थान मे ही प्रतिष्ठित होते हैं, थोड़ा भी इधर उधर नहीं। परन्तु संसारी जीव के उत्पत्ति स्थान का कोई नियम नहीं। कभी तो उनको जहाँ उत्पन्न होना हो वह नया स्थान पूर्व स्थान की बिलकुल सरलरेखा मे होता है और कभी वक्ररेखा मे, क्योकि पुनर्जन्म के नवीन स्थान का आधार पूर्वकृत कर्म पर है, और कर्म विविध प्रकार का होता है, इसलिए ससारी जीव ऋजु और वक्र दोनो गतियों के अधिकारी हैं। सारांश यह है कि मुक्तिस्थान मे जाने वाले आत्मा की एक मात्र सरल गति होती है, और पुनर्जन्म के लिए स्थानान्तर मे जानेवाले जीवो की सरल तथा वक्र दोनों गतियाँ होती हैं। ऋजुगति का दूसरा नाम इषुगति भी है, क्योंकि वह धनुष के वेग से प्रेरित बाण की गति की तरह पूर्व शरीरजनित वेग के कारण सीधी होती है। वक्रगति के [1]पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका और गोमूत्रिका ऐसे तीन नाम हैं, जिसमे एक वार सरलरेखा का भङ्ग हो वह पाणिमुक्ता, जिसमे दो वार हो वह लाङ्गलिका और जिसमें तीन वार हो वह गोमूत्रिका। कोई भी ऐसी वक्रगति जीव की नहीं होती, जिसमें तीन से अधिक

१ ये पाणिमुक्ता आदि सज्ञाएँ दिगम्बरीय व्याख्या ग्रन्थों मे प्रसिद्ध हैं।

घुमाव करने पड़ें; क्योंकि जीव का नया उत्पत्ति स्थान कितना ही विश्रेणिपतित– वक्ररेखा स्थित क्यों न हो, पर वह तीन घुमाव में तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है। पुद्गल की वक्रगति में घुमाव की संख्या का कोई भी नियम नहीं है, उसका आधार प्रेरक निमित्त पर है। २८,२९।

गति का कालमान

अन्तराल गति का कालमान जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट चार समय का है। जब ऋजुगति हो तब एक ही समय और जब वक्रगति हो तब दो, तीन या चार समय समझने चाहिएँ। समय की संख्या की वृद्धि का आधार घुमाव की संख्या की वृद्धि पर अवलम्बित है। जिस वक्रगति में एक घुमाव हो उसका कालमान दो समय का, जिसमें दो घुमाव हों उसका कालमान तीन समय का, और जिसमें तीन घुमाव हो उसका कालमान चार समय का है। सारांश यह है कि एक विग्रह की गति से उत्पत्ति स्थान में जब जाना हो तब पूर्व स्थान से घुमाव के स्थान तक पहुँचने में एक समय और घुमाव के स्थान से उत्पत्ति स्थान में दूसरा समय लग जाता है। इसी नियम के अनुसार दो विग्रह की गति में तीन समय और तीन विग्रह की गति में चार समय लग जाते हैं। यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि ऋजुगति से जन्मान्तर करने वाले जीव के पूर्व शरीर त्यागते समय ही नये आयुष और गति कर्म का उदय हो जाता है, और वक्रगति वाले जीव के प्रथम वक्र स्थान से नवीन आयु, गति और आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय हो जाता है, क्योंकि प्रथम वक्रस्थान तक ही पूर्व भवीय आयु आदि का उदय रहता है। ३०।

मुच्यमान जीव के लिए तो अन्तराल गति में आहार का प्रश्न

ही नहीं है, क्योंकि वह सूक्ष्म, स्थूल सब शरीरो से मुक्त है। पर संसारी जीव के लिए आहार का प्रश्न है, क्योकि उसके अन्तराल गति मे भी सूक्ष्म शरीर अवश्य होता है। आहार का मतलब है स्थूल शरीर योग्य पुद्गलो को ग्रहण करना। ऐसा आहार संसारी जीवो मे अन्तराल गति के समय मे पाया भी जाता है और नहीं भी पाया जाता। जो ऋजुगति से या दो समय की एक विग्रह वाली गति से जाने वाले हो वे अनाहारक नहीं होते, क्योंकि ऋजुगति वाले जिस समय मे पूर्व शरीर छोड़ते हैं उसी समय मे नया स्थान प्राप्त करते हैं, समयान्तर नहीं होता। इसलिए उनकी ऋजुगति का समय त्यागे हुए पूर्वभवीय शरीर के द्वारा ग्रहण किये गए आहार का या नवीन जन्मस्थान मे ग्रहण किये आहार का समय है। यही हाल एक विग्रह वाली गति का है, क्योकि इस के दो समयो मे से पहला समय पूर्व शरीर के द्वारा ग्रहण किये हुए आहार का है और दूसरा समय नये उत्पत्ति स्थान मे पहुँचने का है, जिसमे नवीन शरीर धारण करने के लिए आहार किया जाता है। परन्तु तीन समय की दो विग्रह वाली और चार समय की तीन विग्रह वाली गति मे अनाहारक स्थिति पाई जाती है, यह इसलिए कि इन दोनों गतियों के क्रम से तीन और चार समयों मे से पहला समय त्यक्त शरीर के द्वारा लिए हुए आहार का और अन्तिम समय उत्पत्तिस्थान मे लिए हुए आहार का है। पर इन प्रथम तथा अन्तिम दो समयो को छोड़कर बीच का काल आहारशून्य होता है। अतएव द्विविग्रह गति मे एक समय और त्रिविग्रह गति मे दो समय तक जीव अनाहारक माने गए हैं। यही भाव प्रस्तुत सूत्र मे प्रकट किया गया है। साराश यह

अनाहार का कालमान

है कि ऋजुगति और एकविग्रह गति मे आहारक दशा ही रहती है और द्विविग्रह तथा त्रिविग्रह गति मे प्रथम, चरम दो समयो को छोड़कर अनुक्रम से मध्यवर्ती एक तथा दो समय पर्यन्त अनाहारक दशा रहती है। कहीं कहीं तीन समय भी अनाहारक दशा के माने गये है, सो पाँच समय की चार विग्रह वाली गति के संभव की अपेक्षा से।

प्र०– अन्तराल गति मे शरीर पोषक आहाररूप से स्थूल पुद्गलों के ग्रहण का अभाव तो मालूम हुआ, पर यह कहिये कि उस समय कर्मपुद्गल ग्रहण किये जाते हैं या नहीं ?

उ०– किये जाते है।

प्र०– सो कैसे ?

उ०– अन्तराल गति में भी संसारी जीवो के कार्मण शरीर अवश्य होता है। अतएव यह शरीरजन्य आत्मप्रदेश-कम्पन, जिसको कार्मण योग कहते हैं वह भी अवश्य होता है। जब योग है तब कर्मपुद्गल का ग्रहण भी अनिवार्य है, क्योंकि योग ही कर्म-वर्गणा के आकर्पण का कारण है। जैसे जल की वृष्टि के समय फेंका गया संतप्त बाण जलकणो को ग्रहण करता व उन्हें सोखता हुआ चला जाता है, वैसे ही अन्तराल गति के समय कार्मण योग से चञ्चल जीव भी कर्मवर्गणाओ को ग्रहण करता और उन्हें अपने साथ मिलाता हुआ स्थानान्तर को जाता है। ३१।

जन्म और योनि के भेद तथा उनके स्वामी–

सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म। ३२।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः। ३३।

जराय्वण्डपोतजानां गर्भः। ३४।

नारकदेवानामुपपातः । ३५ ।

शेषाणां सम्मूर्छनम् । ३६ ।

(सम्मूर्छन, गर्भ, और उपपात के भेद से तीन प्रकार का जन्म है ।)

सचित्त, शीत और संवृत ये तीन, तथा इन तीनों की प्रतिपक्षभूत अचित्त, उष्ण और विवृत, तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत– कुल नव उसकी अर्थात् जन्म की योनियाँ हैं ।

(जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियों का गर्भ जन्म होता है ।

नारक और देवों का उपपात जन्म होता है ।

शेष सब प्राणियों का सम्मूर्छन जन्म होता है ।)

पूर्व भव समाप्त होने पर संसारी जीव नया भव धारण करते हैं, इसके लिए उन्हे जन्म लेना पड़ता है, पर जन्म सब का एक सा नहीं होता यही बात यहाँ बतलाई गई है ।

जन्म भेद

पूर्व भव का स्थूल शरीर छोड़ने के बाद अन्तराल गति से सिर्फ कार्मण शरीर के साथ आकर नवीन भव योग्य स्थूल शरीर के लिए पहले पहल योग्य पुद्गलो को ग्रहण करना– यह जन्म है । इसके सम्मूर्छन, गर्भ और उपपात ऐसे तीन भेद हैं । माता पिता के संबन्ध के सिवाय ही उत्पत्ति स्थान मे स्थित औदारिक पुद्गलो को पहले पहल शरीर रूप मे परिणत करना सम्मूर्छन जन्म है, उत्पत्ति स्थान मे स्थित शुक्र और शोणित के पुद्गलो को पहले पहल शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भ जन्म

है। उत्पत्ति स्थान मे स्थित वैक्रिय पुद्गलो को पहले पहल शरीर रूप मे परिणत करना उपपात जन्म है। ३२।

योनि भेद

जन्म के लिए कोई स्थान चाहिए। जिस स्थान मे पहले पहल स्थूल शरीर के लिए ग्रहण किये गए पुद्गल कार्मण शरीर के साथ गरम लोहे में पानी की तरह मिल जाते हैं, वही स्थान योनि है। योनि के नव प्रकार हैं– सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत।

१ जो योनि जीव प्रदेशों से अधिष्ठित हो–वह सचित्त, २ जो अधिष्ठित न हो– वह अचित्त, ३ और जो कुछ भाग मे अधिष्ठित हो तथा कुछ भाग मे न हो– वह मिश्र, ४ जिस उत्पत्ति स्थान मे शीत स्पर्श हो– वह शीत, ५ जिसमें उष्ण स्पर्श हो– वह उष्ण, ६ और जिसके कुछ भाग में शीत तथा कुछ भाग में उष्ण स्पर्श हो– वह मिश्र, ७ जो उत्पत्ति स्थान ढका या दबा हो– वह संवृत, ८ जो ढका न हो, खुला हो– वह विवृत, ९ और जो कुछ ढका तथा कुछ खुला हो– वह मिश्र।

किस-किस योनि मे कौन-कौन जीव उत्पन्न होते हैं, इसका व्यौरा यों है–

जीव	योनि
नारक और देव	अचित्त
गर्भज मनुष्य और तिर्यंच	मिश्र–सचित्ताचित्त
शेष सब अर्थात् पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य	त्रिविध– सचित्त, अचित्त, तथा मिश्र

गर्भज मनुष्य और तिर्यंच तथा देव[1]	मिश्र- शीतोष्ण
तेज कायिक- अग्निकाय	उष्ण
शेष सब अर्थात् चार स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य तथा नारक	त्रिविध- शीत, उष्ण, मिश्र- शीतोष्ण
नारक, देव और एकेन्द्रिय	संवृत
गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य	मिश्र- संवृतविवृत
शेष सब अर्थात् तीन विकलेन्द्रिय, अगर्भज पञ्चेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच	विवृत

प्र०- योनि और जन्म मे क्या भेद है ?

उ०- योनि आधार है और जन्म आधेय है अर्थात् स्थूल शरीर के लिए योग्य पुद्गलों का प्राथमिक ग्रहण- वह जन्म; और वह ग्रहण जिस जगह हो- वह योनि।

प्र०- योनियाँ तो चौरासी लाख कही जाती है, तो फिर नव ही क्यो ?

उ०- चौरासी लाख का कथन है सो विस्तार से। पृथिवी-काय आदि जिस जिस निकाय के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के तरतम भाव वाले जितने जितने उत्पत्ति स्थान हैं उस उस निकाय

---

१ दिगम्बरीय टीका ग्रन्थों मे शीत, और उष्ण योनियों के स्वामी देव और नारक माने गए है। तदनुसार वहाँ शीत, उष्ण आदि त्रिविध योनियों के स्वामिओ मे नारक को न गिनकर गर्भज मनुष्य और तिर्यंच को गिनना चाहिए।

की उतनी उतनी योनियाँ चौरासी लाख मे गिनी गई हैं। यहाँ उन्हीं चौरासी लाख के सचित्त आदि रूप से संक्षेप मे विभाग करके नव भेद वतलाए है। ३३।

जन्म के स्वामी

ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के जन्म मे से कौन कौन जन्म किन किन जीवो का होता है, इसका विभाग नीचे लिखे अनुसार है–

जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणियो का गर्भजन्म होता है। देव और नारकों का उपपात जन्म होता है। शेष सव अर्थात् पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और अगर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्य का सम्मूर्छन जन्म होता है। जरायुज, वे हैं जो जरायु से पैदा हो– जैसे मनुष्य, गाय, भैंस, वकरी आदि जाति के जीव। जरायु एक प्रकार का जाल जैसा आवरण है, जो रक्त और मांस से भरा होता है, और जिसमे पैदा होनेवाला वच्चा लिपटा हुआ रहता है। जो अण्डे से पैदा होते हैं वे अण्डज, जैसे– साँप, मोर, चिड़िया, कवूतर आदि जाति के जीव। जो किसी प्रकार के आवरण से वेष्टित न होकर ही पैदा होते है वे पोतज। जैसे– हाथी, शशक, नेवला, चूहा आदि जाति के जीव। ये न तो जरायु से ही लिपटे हुए पैदा होते हैं और न अण्डे से, किन्तु खुले अङ्ग पैदा होते हैं। देवो और नारको मे जन्म के लिए ख़ास नियत स्थान होता है जो उपपात कहलाता है। देवशय्या के ऊपर का भाग जो दिव्यवस्त्र से आच्छन्न रहता है वह देवो का उपपात क्षेत्र है, और वज्रमय भीत का गवाक्ष– कुंभी ही नारको का उपपात क्षेत्र है, क्योंकि इस उपपात क्षेत्र मे स्थित वैक्रियपुद्गलो को वे शरीर के लिए ग्रहण करते हैं। ३४–३६।

शरीरों के सवन्ध मे वर्णन-

औदारिकवैक्रियाऽऽहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ।३७।
परं परं सूक्ष्मम् । ३८ ।
प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् । ३९ ।[1]
अनन्तगुणे परे । ४० ।
अप्रतिघाते । ४१ ।
अनादिसम्बन्धे च । ४२ ।
सर्वस्य । ४३ ।
तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः । ४४ ।
निरुपभोगमन्त्यम् । ४५ ।
गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् । ४६ ।
वैक्रियमौपपातिकम् । ४७ ।
लब्धिप्रत्ययं च । ४८ ।[2]
शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधरस्यैव ।४९।

---

१ यहाँ प्रदेश शब्द का अर्थ 'अनन्ताणुक स्कन्ध' ऐसा भाष्य की वृत्ति मे किया है, परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि मे 'परमाणु' अर्थ लिया है ।

२ इस सूत्र के वाद 'तैजसमपि' ऐसा सूत्र दिगम्वरीय परपरा मे है, जो श्वेताम्वरीय परपरा में नहीं । सर्वार्थसिद्धि आदि मे उसका अर्थ इस प्रकार है- तैजस शरीर भी लब्धिजन्य है, अर्थात् जैसे वैक्रिय शरीर लब्धि से उत्पन्न किया जा सकता है, वैसे ही लब्धि से तैजस शरीर भी वनाया जा सकता है, इस अर्थ से यह फलित नहीं होता कि तैजस शरीर लब्धिजन्य ही है ।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पॉच प्रकार के शरीर हैं।

उक्त पॉच प्रकारों में जो शरीर पर पर अर्थात् आगे आगे का है, वह पूर्व पूर्व से सूक्ष्म है।

तैजस के पूर्ववर्ती तीन शरीरों में पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर शरीर प्रदेशों– स्कन्धों से असंख्यात गुण होता है।

और परवर्ती दो अर्थात् तैजस और कार्मण शरीर प्रदेशों से अनन्त गुण होते हैं।

तैजस और कार्मण दोनों शरीर प्रतिघात रहित हैं।

आत्मा के साथ अनादि सबन्ध वाले हैं।

और सब संसारी जीवों के होते हैं।

एक साथ एक जीव के शरीर– तैजस, कार्मण से लेकर चार तक– विकल्प से होते हैं।

अन्तिम अर्थात् कार्मण शरीर ही उपभोग– सुखदुःखादि के अनुभव से रहित है।

पहला अर्थात् औदारिक शरीर सम्मूर्छनजन्म और गर्भ-जन्म से ही पैदा होता है।

वैक्रियशरीर उपपात जन्म से पैदा होता है।

तथा वह लब्धि से भी पैदा होता है।

आहारक शरीर शुभ– प्रशस्त पुद्गल द्रव्य जन्य, विशुद्ध–

निष्पाप कार्यकारी, और व्याघात– बाधा रहित होता है, तथा वह चौदह पूर्व वाले मुनि के ही पाया जाता है।

जन्म ही शरीरका आरम्भ है, इसलिए जन्मके बाद शरीर का वर्णन किया है, जिसमें उससे संबन्ध रखनेवाले अनेक प्रश्नों पर नीचे लिखे अनुसार क्रमश विचार किया है।

शरीर के प्रकार और उनकी व्याख्या

देहधारी जीव अनन्त है, उनके शरीर भी अलग-अलग होने से व्यक्तिश अनन्त हैं। पर कार्य, कारण आदि के सादृश्य की दृष्टिसे संक्षेपमे विभाग करके उनके पॉच प्रकार बतलाए गए हैं, जैसे– औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण।

जीव का क्रिया करने का जो साधन है– वह शरीर। (१ जो शरीर जलाया जा सके व जिसका छेदन, भेदन हो सके– वह औदारिक। २ जो शरीर कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी पतला, कभी मोटा, कभी एक, कभी अनेक इत्यादि अनेक रूपोंको धारण कर सके– वह वैक्रिय। ३ जो शरीर सिर्फ चतुर्दशपूर्वी मुनिके द्वारा ही रचा जा सके– वह आहारक। ४ जो शरीर तेजोमय होने से खाए हुए आहार आदि के परिपाक का हेतु और दीप्ति का निमित्त हो– वह तैजस। और ५ कर्मसमूह ही कार्मण शरीर है। ३७।)

स्थूल-सूक्ष्म भाव

उक्त पॉच शरीरो मे सबसे अधिक स्थूल औदारिक शरीर है, वैक्रिय उससे सूक्ष्म है, आहारक वैक्रिय से भी सूक्ष्म है। इसी तरह आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण सूक्ष्म, सूक्ष्मतर है।

प्र०– यहाँ स्थूल और सूक्ष्म का मतलब क्या है?

उ०— स्थूल और सूक्ष्म का मतलव रचना की शिथिलता और सघनता से है, परिमाण से नहीं। औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, पर आहारक से स्थूल । इसी तरह आहारक आदि शरीर भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्म और उत्तर उत्तर की अपेक्षा स्थूल है, अर्थात् यह स्थूल-सूक्ष्म भाव अपेक्षा कृत है । इसका मतलव यह है कि जिस शरीर की रचना जिस दूसरे शरीर की रचना से शिथिल हो वह उससे स्थूल और दूसरा उससे सूक्ष्म । रचना की शिथिलता और सघनता पौद्गलिक परिणति पर निर्भर है । पुद्गलो मे अनेक प्रकार के परिणमन होने की शक्ति है, इससे वे परिमाण मे थोडे होने पर भी जव शिथिल रूप मे परिणत होते है तव स्थूल कहलाते हैं और परिमाण मे वहुत होने पर भी जैसे-जैसे सघन होते जाते है वैसे-वैसे वे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर कहलाते है । उदाहरणार्थ— भिंडीकी फली और हाथी का दाँत ये दोनो वरावर परिमाणवाले लेकर देखे जायँ, तो भिंडी की रचना शिथिल होगी और दाँत की रचना उससे निविड़, इसीसे परिमाण वरावर होने पर भी भिंडी की अपेक्षा दाँत का पौद्गलिक द्रव्य अधिक है । ३८ ।

आरम्भक-उपादान द्रव्य का परिमाण

स्थूल, सूक्ष्म भाव की उक्त व्याख्या के अनुसार उत्तर-उत्तर शरीर का आरम्भक द्रव्य पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा परिमाण मे अधिक होता है, यह वात मालूम हो जाती है, पर वह परिमाण जितना-जितना पाया जाता है, उसीको दो सूत्रों में वतलाया है ।

परमाणुओं से वने हुए जिन स्कन्धो से शरीर का निर्माण होता है वे ही स्कन्ध शरीर के आरम्भक द्रव्य हैं । जव तक पर-माणु अलग-अलग हो तव तक उनसे शरीर नहीं वनता । परमाणु-

पुञ्ज जो स्कन्ध कहलाते हैं उन्हीं से शरीर बनता है। वे स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओ के बने हुए होने चाहिएँ। औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्धो से वैक्रिय शरीरके आरम्भक स्कन्ध असख्यात गुण होते हैं, अर्थात् औदारिक शरीर के आरम्भक स्कन्ध अनन्त परमाणुओके होते हैं और वैक्रिय शरीर के आरम्भक स्कन्ध भी अनन्त परमाणुओ के, पर वैक्रिय शरीर के स्कन्धगत परमाणुओ की अनन्त संख्या, औदारिक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या से असंख्यात गुण अधिक होती है। यही अधिकता वैक्रिय और आहारक शरीर के स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त सख्या मे समझनी चाहिए।

आहारक स्कन्धगत परमाणुओं की अनन्त संख्या से तैजस के स्कन्धगत परमाणुओ की अनन्त संख्या अनन्तगुण होती है इसी तरह तैजस से कार्मण के स्कन्धगत परमाणु भी अनन्तगुण अधिक हैं। इस प्रकार देखने से यह स्पष्ट है कि पूर्व पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तर-उत्तर शरीर का आरम्भक द्रव्य अधिक ही अधिक होता है। फिर भी परिणमन की विचित्रता के कारण ही उत्तर-उत्तर शरीर निबिड़, निबिड़तर, निबिड़तम बनता जाता है, और सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम कहलाता है।

प्र०– औदारिक के स्कन्ध भी अनन्त परमाणु वाले और वैक्रिय आदि के स्कन्ध भी अनन्त परमाणु वाले हैं, तो फिर उन स्कन्धो मे न्यूनाधिकता क्या हुई ?

उ०– अनन्त संख्या अनन्त प्रकार की है। इसलिए अनन्त-रूप से समानता होने पर भी औदारिक आदि के स्कन्ध से वैक्रिय

आदि के स्कन्ध का असंख्यात गुण या अनन्त गुण अधिक होना असम्भव नहीं है। ३९, ४०।

अन्तिम दो शरीरों का स्वभाव, काल मर्यादा और स्वामी

उक्त पाँच शरीरो मे से पहले तीन की अपेक्षा पिछले दो मे कुछ विशेषता है; जो यहाँ तीन बातो के द्वारा क्रमश: तीन सूत्रों में बतलाई गई है।

स्वभाव

तैजस और कार्मण ये दो शरीर सारे लोक मे कहीं भी प्रतिघात नहीं पाते अर्थात् वज्र जैसी कठिन वस्तु भी उन्हे प्रवेश करने से रोक नहीं सकती, क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म है। यद्यपि एक मूर्त वस्तु का दूसरी मूर्त वस्तु से प्रतिघात देखा जाता है तथापि यह प्रतिघात का नियम स्थूल वस्तुओं मे लागू पड़ता है, सूक्ष्म मे नहीं। सूक्ष्म वस्तु बिना रुकावट के सर्वत्र प्रवेश कर पाती है जैसे लोहपिण्ड मे अग्नि।

प्र०— तब तो सूक्ष्म होने से वैक्रिय और आहारक को भी अप्रतिघाती ही कहना चाहिए?

उ०— अवश्य, वे भी बिना प्रतिघात के प्रवेश कर लेते हैं। पर यहाँ अप्रतिघात का मतलब लोकान्त पर्यन्त अव्याहत गति से है। वैक्रिय और आहारक अव्याहत गति वाले हैं, पर तैजस, कार्मण की तरह सारे लोक में नहीं किन्तु लोक के खास भाग में अर्थात् त्रसनाडी मे।

कालमर्यादा

तैजस और कार्मण का संबन्ध आत्मा के साथ प्रवाह रूप से जैसा अनादि है वैसा पहले तीन शरीरों का नहीं है, क्योंकि वे तीनों शरीर अमुक काल के बाद कायम नहीं रह सकते। इसलिए औदारिक आदि तीनों

शरीर कादाचित्क- अस्थायी संवन्ध वाले कहे जाते हैं और तैजस, कार्मण अनादि संबन्ध वाले।

प्र०- जव कि वे जीव के साथ अनादि संवद्ध हैं, तव तो उनका अभाव कभी न होना चाहिए, क्योकि अनादिभाव का नाश नहीं होता।[1]

उ०- उक्त दोनो शरीर व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं, पर प्रवाह की अपेक्षा से अनादि हैं। अतएव उनका भी अपचय, उपचय हुआ करता है। जो भावात्मक पदार्थ व्यक्तिरूप से अनादि होता है वही नष्ट नहीं होता, जैसे परमाणु।

स्वामी

तैजस और कार्मण शरीर को सभी संसारी धारण करते है, पर औदारिक, वैक्रिय और आहारक को नहीं। अतएव तैजस, कार्मण के स्वामी सभी संसारी हैं, और औदारिक आदि के स्वामी कुछ ही होते है।

प्र०- तैजस और कार्मण के वीच कुछ अन्तर वतलाइए ?

उ०- कार्मण यह सारे शरीरो की जड़ है, क्योकि वह कर्म स्वरूप है और कर्म ही सव कार्यों का निमित्त कारण है। वैसे तैजस सवका कारण नहीं, वह सवके साथ अनादिसंवद्ध रहकर भुक्त आहार के पाचन आदि मे सहायक होता है। ४१-४३।

एक साथ लभ्य शरीरों की सख्या

तैजस और कार्मण ये दो शरीर सभी संसारी जीवों के ससारकाल पर्यन्त अवश्य होते है, पर औदारिक आदि वदलते रहते है, इससे वे कभी होते हैं और कभी नहीं। अतएव यह प्रश्न होता है कि प्रत्येक जीव के कम से कम और अधिक से अधिक कितने

---

१ इस वात का प्रतिपादन गीता मे भी है- नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ' अध्याय २, श्लो० १६।

शरीर हो सकते हैं ? इसका उत्तर प्रस्तुत सूत्र मे दिया गया है। एक साथ एक संसारी जीव के कम से कम दो और अधिक से अधिक चार तक शरीर हो सकते हैं, पॉच कभी नही होते। जब दो होते हैं तब तैजस और कार्मण, क्योकि ये दोनो यावत्-संसार भावी हैं। ऐसी स्थिति अन्तराल गति मे ही पाई जाती है, क्योंकि उस समय अन्य कोई भी शरीर नही होता। जब तीन होते हैं तब तैजस, कार्मण और औदारिक या तैजस, कार्मण और वैक्रिय। पहला प्रकार मनुष्य, तिर्यञ्च मे और दूसरा प्रकार देव, नारक में जन्मकाल से लेकर मरण पर्यन्त पाया जाता है। जब चार होते हैं तब तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रिय अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक। पहला विकल्प वैक्रिय लब्धि के प्रयोग के समय कुछ ही मनुष्य तथा तिर्यञ्च मे पाया जाता है। दूसरा विकल्प आहारक लब्धि के प्रयोग के समय चतुर्दशपूर्वी मुनि मे ही होता है। पॉच शरीर एक साथ किसी के भी नहीं होते, क्योंकि वैक्रिय लब्धि और आहारक लब्धि का प्रयोग एक साथ संभव नहीं।

प्र०— उक्त रीति से दो, तीन या चार शरीर जब हो तब उनके साथ एक ही समय में एक जीव का संबन्ध कैसे घट सकेगा ?

उ०— जैसे एक ही प्रदीप का प्रकाश एक साथ अनेक वस्तुओ पर पड़ सकता है, वैसे एक ही जीव के प्रदेश अनेक शरीरो के साथ अविच्छिन्न रूप से संबद्ध हो सकते है।

प्र०— क्या किसी के कभी कोई एक ही शरीर नही होता ?

उ०— नहीं। सामान्य सिद्धान्त ऐसा है कि तैजस, कार्मण ये दो शरीर कभी अलग नही होते। अतएव किसी एक शरीर का

कभी संभव नही, पर [1]किसी आचार्य का ऐसा मत है कि तैजस शरीर कार्मण की तरह यावत्-संसार भावी नही है, किन्तु वह आहार की तरह लब्धिजन्य ही है। इस मत के अनुसार अंतराल गति मे सिर्फ कार्मण शरीर होता है। अतएव उस समय एक शरीर का पाया जाना संभव है।

प्र०—जो यह कहा गया कि वैक्रिय और आहारक इन दो लब्धियो का युगपत्– एक साथ प्रयोग नहीं होता इसका कारण क्या ?

उ०—वैक्रियलब्धि के प्रयोग के समय और लब्धि से शरीर बना लेने पर नियम[2] से प्रमत्त दशा होती है। परन्तु आहारक के विषय मे ऐसा नहीं है, क्योंकि आहारक लब्धि का प्रयोग तो प्रमत्त दशा मे होता है। पर उससे शरीर बना लेने के बाद शुद्ध अध्यवसाय का संभव होने के कारण अप्रमत्तभाव पाया जाता है, जिससे उक्त दो लब्धियो का प्रयोग एक साथ विरुद्ध है। सारांश यह है कि युगपत् पाँच शरीरो का न होना कहा गया है, सो आविर्भाव की अपेक्षा से। शक्ति रूप से तो पॉच भी हो सकते है, क्योंकि आहारक लब्धि वाले मुनि के वैक्रिय लब्धि का भी संभव है। ४४।

प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई प्रयोजन होता ही है। इसलिए शरीर भी सप्रयोजन होने ही चाहिएँ, पर उनका मुख्य प्रयोजन क्या है और वह सब शरीरो के लिए समान है या कुछ विशेषता भी है ? यह प्रश्न होता है। इसीका उत्तर यहाँ दिया गया है। शरीर का मुख्य प्रयोजन उपभोग है जो पहले

प्रयोजन

---

१ यह मत भाष्य मे निर्दिष्ट है, देखो अ० २, सू० ४४।

२ यह विचार अ० २, सू० ४४ की भाष्यवृत्ति में है।

चार शरीरो से सिद्ध होता है। सिर्फ अन्तिम– कार्मण शरीर से सिद्ध नहीं होता, इसीसे उसको निरुपभोग कहा है।

प्र०– उपभोग का मतलब क्या है ?

उ०– कर्ण आदि इन्द्रियो से शुभ-अशुभ शब्द आदि विषय ग्रहण करके सुख-दु ख का अनुभव करना, हाथ, पॉव आदि अवयवो से दान, हिंसा आदि शुभ-अशुभ क्रिया द्वारा शुभ-अशुभ कर्म का बंध करना, बद्धकर्म के शुभ-अशुभ विपाक का अनुभव करना, पवित्र अनुष्ठान द्वारा कर्म की निर्जरा– क्षय करना यह सब उपभोग कहलाता है।

प्र०– औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर सेन्द्रिय तथा सावयव हैं, इसलिए उक्त प्रकार का उपभोग उनसे साध्य हो सकता है। पर तैजस शरीर जो न तो सेन्द्रिय है और न सावयव है, उससे उक्त उपभोग का होना कैसे संभव है ?

उ०– यद्यपि तैजस शरीर सेन्द्रिय और सावयव– हस्तपादादि युक्त नहीं है, तथापि उसका उपयोग पाचन आदि ऐसे कार्य मे हो सकता है, जिससे सुख-दु ख का अनुभव आदि उक्त उपभोग सिद्ध हो सकता है, उसका अन्य कार्य शाप और अनुग्रह रूप भी है। अर्थात् अन्न पाचन आदि कार्य मे तैजस शरीर का उपयोग तो सब कोई करते है, पर जो विशिष्ट तपस्वी तपस्याजन्य खास लब्धि प्राप्त कर लेते है वे कुपित होकर उस शरीर के द्वारा अपने कोपभाजन को जला तक सकते है और प्रसन्न होकर उस शरीर से अपने अनुग्रह पात्र को शान्ति भी पहुँचा सकते हैं। इस तरह तैजस शरीर का शाप, अनुग्रह आदि मे उपयोग हो सकने से सुख-दुःख का अनुभव, शुभाशुभ कर्म का बन्ध आदि उक्त उपभोग उसका माना गया है।

प्र०– ऐसी बारीकी से देखा जाय तो कार्मण शरीर जो कि तैजस के समान ही सेन्द्रिय और सावयव नहीं है, उसका भी उपभोग घट सकेगा, क्योंकि वही अन्य सब शरीरो की जड़ है। इसलिए अन्य शरीरो का उपभोग असल में कार्मण का ही उपभोग माना जाना चाहिए फिर उसे निरुपभोग क्यो कहा ?

उ०– ठीक है, उक्त रीति से कार्मण भी सोपभोग अवश्य है। यहाँ उसे निरुपभोग कहने का अभिप्राय इतना ही है कि जब तक अन्य शरीर सहायक न हो तब तक अकेले कार्मण शरीर से उक्त प्रकार का उपभोग साध्य नहीं हो सकता, अर्थात् उक्त विशिष्ट उपभोग को सिद्ध करने मे साक्षात् साधन औदारिक आदि चार शरीर हैं। इसी से वे सोपभोग कहे गए हैं, और परम्परया साधन होने से कार्मण को निरुपभोग कहा है। ४५।

जन्मसिद्धता और कृत्रिमता

अन्त मे एक यह भी प्रश्न होता है कि कितने शरीर जन्मसिद्ध हैं और कितने कृत्रिम ? तथा जन्मसिद्ध मे कौनसा शरीर किस जन्म से पैदा होता है और कृत्रिम का कारण क्या है ? इसीका उत्तर चार सूत्रो मे दिया गया है।

तैजस और कार्मण ये दो न तो जन्मसिद्ध हैं और न कृत्रिम। अर्थात् वे जन्म के बाद भी होने वाले है फिर भी वे अनादि सबद्ध हैं। औदारिक जन्मसिद्ध ही है, जो गर्भ तथा सम्मूर्छन इन दो जन्मो से पैदा होता है तथा जिसके स्वामी मनुष्य और तिर्यंच ही हैं। वैक्रिय शरीर जन्मसिद्ध और कृत्रिम दो प्रकार का है। जो जन्मसिद्ध है वह उपपात जन्म के द्वारा पैदा होता है और देवों तथा नारकों के ही होता है। कृत्रिम वैक्रिय का कारण लब्धि है। लब्धि एक

प्रकार की तपोजन्य शक्ति है, जिसका संभव कुछ ही गर्भज मनुष्यों और तिर्यंचों मे होता है। इसलिए वैसी लब्धि से होने वाले वैक्रिय शरीर के अधिकारी गर्भज मनुष्य और तिर्यंच ही हो सकते हैं। कृत्रिम वैक्रिय की कारणभूत एक दूसरे प्रकार की भी लब्धि मानी गई है, जो तपोजन्य न हो कर जन्म से ही मिलती है। ऐसी लब्धि कुछ बादर वायुकायिक जीवो मे ही मानी गई है। इससे वे भी लब्धिजन्य– कृत्रिम वैक्रियशरीर के अधिकारी हैं। आहारक-शरीर कृत्रिम ही है इसका कारण विशिष्ट लब्धि ही है, जो मनुष्य के सिवाय अन्य जाति मे नहीं होती और मनुष्य में भी विशिष्ट मुनि के ही होती है।

प्र०– विशिष्ट मुनि कौन से ?

उ०– चतुर्दशपूर्वपाठी।

प्र०– वे उस लब्धि का प्रयोग कब और किस लिए करते हैं ?

उ०– जब उनको किसी सूक्ष्म विषय में संदेह हो तब संदेह निवारण के लिए। अर्थात् जब कभी किसी चतुर्दशपूर्वी को गहन विषय मे संदेह हो और सर्वज्ञ का सन्निधान न हो तब वे औदारिक शरीर से क्षेत्रान्तर मे जाना असभव समझ कर अपनी विशिष्ट लब्धि का प्रयोग करते हैं और हस्तप्रमाण छोटा सा शरीर बनाते हैं; जो शुभ पुद्गल-जन्य होने से सुन्दर होता है, प्रशस्त उद्देश्य से बनाये जाने के कारण निरवद्य होता है और अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण अव्याघाती अर्थात् किसी को रोकने वाला या किसी से रुकने वाला नहीं होता। ऐसे शरीर से वे क्षेत्रान्तर में सर्वज्ञ के पास पहुँच कर उनसे संदेह निवारण कर फिर अपने स्थान मे वापिस आ जाते हैं। यह कार्य सिर्फ अन्तर्मुहूर्त में हो जाता है।

प्र०— और कोई शरीर लब्धिजन्य नहीं है ?

उ०— नही।

प्र०— शाप और अनुग्रह के द्वारा तैजस का जो उपभोग बतलाया उससे तो वह लब्धिजन्य स्पष्ट मालूम होता है फिर और कोई शरीर लब्धिजन्य नहीं है, सो कैसे ?

उ०— यहाँ लब्धिजन्य का मतलब उत्पत्ति से है, प्रयोग से नही। तैजस की उत्पत्ति लब्धि मे नही होती, जैसे वैक्रिय और आहारक की होती है, पर उसका प्रयोग कभी लब्धि से किया जाता है। इसी आशय से तैजस को यहाँ लब्धिजन्य— कृत्रिम नही कहा। ४६–४९।

वेद— लिंग विभाग—

नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि। ५०।

न देवाः। ५१।

नारक और संमूर्छिम नपुसक ही होते हैं।

देव नपुसक नहीं होते।

शरीरो का वर्णन हो चुकने के बाद लिंग का प्रश्न होता है। इसी का खुलासा यहाँ किया गया है। लिंग, चिह्न को कहते है। वह तीन प्रकार का पाया जाता है। यह बात पहले [1]औदयिक भावों की संख्या बतलाते समय कही जा चुकी है। तीन लिंग ये है— पुंलिग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग। लिंग का दूसरा नाम वेद भी है। ये तीनो वेद [2]द्रव्य और भाव रूप से दो दो प्रकार के

१ देखो अ० २, सू० ६।

२ द्रव्य और भाव वेद का पारस्परिक सबन्ध तथा तत्सबन्धी अन्य

हैं। द्रव्यवेद का मतलब ऊपर के चिह्न से है और भाववेद का मतलब अभिलाषा विशेष से है। १ जिस चिह्नसे पुरुष की पहचान होती है वह द्रव्य पुरुषवेद और स्त्री के संसर्ग सुख की अभिलाषा भाव पुरुषवेद है। २ स्त्री की पहचान का साधन द्रव्य स्त्रीवेद और पुरुष के संसर्ग सुख की अभिलाषा भाव स्त्रीवेद है। ३ जिसमें कुछ स्त्री के चिह्न और कुछ पुरुष के चिह्न हो वह द्रव्य नपुंसकवेद और स्त्री पुरुष दोनों के संसर्ग सुख की अभिलाषा भाव नपुंसकवेद है। द्रव्यवेद पौद्गलिक आकृति रूप है जो नाम कर्म के उदय का फल है। भाववेद एक प्रकार का मनोविकार है, जो मोहनीय कर्म के उदय का फल है। द्रव्यवेद और भाववेद के बीच साध्य-साधन या पोष्य-पोषक का संबन्ध है।

विभाग

नारक और सम्मूर्छिम जीवों के नपुंसक वेद होता है। देवों के नपुंसक वेद नहीं होता शेष दो होते हैं। बाकी के सब अर्थात् गर्भज मनुष्यों तथा तिर्यंचो के तीनो वेद हो सकते है।

विकार की तरतमता

पुरुषवेद का विकार सब से कम स्थायी होता है। उससे स्त्रीवेद का विकार अधिक स्थायी और नपुंसक वेद का विकार स्त्रीवेद के विकार से भी अधिक स्थायी होता है। यह बात उपमान के द्वारा इस तरह समझाई गई है–

पुरुषवेद का विकार घास की अग्नि के समान है, जो शीघ्र

आवश्यक बातें जानने के लिए देखो, हिन्दी चौथा कर्मग्रन्थ पृ० ५३ की टिप्पणी।

शान्त हो जाता है और प्रकट भी शीघ्र होता है। स्त्रीवेद का विकार अगारे के समान है जो जल्दी शान्त नहीं होता और प्रकट भी जल्दी नहीं होता। नपुसक वेद का विकार संतप्त ईट के समान है जो बहुत देर में शान्त होता है।

स्त्री मे कोमल भाव मुख्य है जिसे कठोर तत्त्व की अपेक्षा रहती है, पुरुष में कठोर भाव मुख्य है जिसे कोमल तत्त्व की अपेक्षा रहती है, पर नपुंसक मे दोनो भावों का मिश्रण होने से दोनों तत्त्वों की अपेक्षा रहती है। ५०, ५१।

आयुष के प्रकार और उनके स्वामी–

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्या-युषः । ५२ ।[1]

औपपातिक (नारक और देव), चरम शरीरी, उत्तम पुरुष और असख्यात वर्षजीवी ये अनपवर्त्तनीय आयु वाले ही होते हैं।

युद्ध आदि विप्लव में हज़ारो हट्टे-कट्टे नौजवानो को एक साथ मरते देखकर और बूढे तथा जर्जर देह वालो को भी भयानक आफ़त से बचते देखकर यह सदेह होता है कि क्या अकाल मृत्यु भी है ? जिस से अनेक व्यक्तियाँ एक साथ मर जाती हैं और कोई नहीं भी मरता, इसका उत्तर हाँ और ना मे यहाँ दिया गया है।

---

१ दिगम्बरीय परम्परा में "औपपादिकचरमोत्तमदेहासख्येयवर्षायुषो-ऽनपवर्त्यायुष" ऐसा सूत्र मिलता है। सर्वार्थसिद्धि आदि व्याख्याओं मे 'चरमदेह' ऐसा भी पाठान्तर दिया गया है, तदनुसार 'चरमदेहोत्तमदेह' ऐसा भी पाठ मानना चाहिए।

आयु दो प्रकार की है– अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय। जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले ही शीघ्र भोगी जा सके वह अपवर्त्तनीय और जो आयु बन्धकालीन स्थिति के पूर्ण होने से पहले न भोगी जा सके वह अनपवर्त्तनीय, अर्थात् जिसका भोगकाल बन्धकालीन स्थितिमर्यादा से कम हो वह अपवर्त्तनीय और जिसका भोगकाल उक्त मर्यादा के बराबर ही हो वह अनपवर्त्तनीय आयु कही जाती है।

अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय आयु का बन्ध स्वाभाविक नही है, किन्तु परिणाम के तारतम्य पर अवलम्बित है। भावी जन्म की आयु वर्त्तमान जन्म मे निर्माण की जाती है। उस समय अगर परिणाम मन्द हो तो आयुका बन्ध शिथिल हो जाता है। जिससे निमित्त मिलने पर बन्धकालीन कालमर्यादा घट जाती है। इसके विपरीत अगर परिणाम तीव्र हों तो आयु का बन्ध गाढ होता है, जिससे निमित्त मिलने पर भी बन्धकालीन कालमर्यादा नहीं घटती और न आयु एक साथ ही भोगी जा सकती है। जैसे, अत्यन्त दृढ होकर खड़े हुए पुरुषो की पंक्ति अभेद्य और शिथिल होकर खडे हुए पुरुषो की पंक्ति भेद्य होती है, अथवा जैसे सघन बोए हुए बीजों के पौधे पशुओ के लिए दुष्प्रवेश और विरल विरल बोए हुए बीजों के पौधे उनके लिए सुप्रवेश होते हैं, वैसे ही तीव्र परिणाम जनित गाढबन्ध आयु शस्त्र विष आदि का प्रयोग होने पर भी अपनी नियत कालमर्यादा से पहले पूर्ण नहीं होती और मन्द परिणाम जनित शिथिलबन्ध आयु उक्त प्रयोग होते ही अपनी नियत काल-मर्यादा समाप्त होने के पहले ही अतर्मुहूर्त्त मात्र मे भोग ली जाती है। आयु के इस शीघ्र भोग को ही अपवर्त्तना या अकाल मृत्यु

कहते है और नियत स्थितिक भोग को अनपवर्तना या कालमृत्यु कहते है। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम– उपक्रम सहित ही होती है। तीव्र शस्त्र, तीव्र विष, तीव्र अग्नि आदि जिन निमित्तो से अकाल मृत्यु होती है उन निमित्तों का प्राप्त होना उपक्रम है। ऐसा उपक्रम अपवर्त्तनीय आयु के अवश्य होता है, क्योकि वह आयु नियम से कालमर्यादा समाप्त होने के पहले ही भोगने योग्य होती है। परन्तु अनपवर्त्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकार की होती है अर्थात् उस आयु को अकालमृत्यु लाने वाले उक्त निमित्तो का सनिधान होता भी है और नहीं भी होता। उक्त निमित्तो का संनिधान होने पर भी अनपवर्त्तनीय आयु नियत कालमर्यादा के पहले पूर्ण नहीं होती। सारांश यह है कि अपवर्तनीय आयु वाले प्राणियों को शस्त्र आदि कोई न कोई निमित्त मिल ही जाता है, जिससे वे अकाल मे ही मर जाते और अनपवर्त्तनीय आयु वालो को कैसा भी प्रबल निमित्त क्यों न मिले पर वे अकाल मे नहीं मरते।

अधिकारी

उपपात जन्म वाले नारक और देव ही हैं। चरमदेह तथा उत्तमपुरुष मनुष्य ही होते हैं। चरमदेह वे कहलाते हैं जो जन्मान्तर विना किये उसी शरीर से मोक्ष पाने वाले हो। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि उत्तमपुरुष कहलाते है। असंख्यात वर्षजीवी[1] कुछ मनुष्य और कुछ तिर्यंच

---

[1] असख्यात वर्षजीवी मनुष्य तीस अकर्मभूमिओ, छप्पन अन्तर्द्वीपों और कर्मभूमिओं मे उत्पन्न युगलिक ही है। परन्तु असख्यात वर्षजीवी तिर्यंच तो उक्त क्षेत्रों के अलावा ढाई द्वीप के वाहर के द्वीप-समुद्रों मे भी पाये जाते हैं।

ही होते हैं। इनमे से औपपातिक और असंख्यात वर्षजीवी निरुप-क्रम अनपवर्त्तनीय आयु वाले ही होते हैं। चरमदेह और उत्तम-पुरुष सोपक्रम अनपवर्त्तनीय तथा निरुपक्रम अनपवर्त्तनीय– दोनो तरह की आयु वाले होते हैं। इनके सिवाय शेष सभी मनुष्य तिर्यंच अपवर्तनीय तथा अनपवर्तनीय आयु वाले पाये जाते हैं।

प्र०– नियत कालमर्यादा के पहले आयु का भोग हो जाने से कृतनाश, अकृतागम और निष्फलता दोष लगेंगे, जो शास्त्र मे इष्ट नहीं हैं, उनका निवारण कैसे होगा ?

उ०– शीघ्र भोग होने मे उक्त दोष नहीं हैं, क्योंकि जो कर्म चिरकाल तक भोगा जा सकता है, वही एक साथ भोग लिया जाता है, उसका कोई भी भाग विना विपाकानुभव किये नहीं छूटता। इसलिए न तो कृतकर्म का नाश है और न बद्धकर्म की निष्फलता ही है। इसी तरह कर्मानुसार आने वाली मृत्यु ही आती है, अतएव अकृतकर्म का आगम भी नहीं है। जैसे घास की सघन राशि में एक तरफ से छोटा अग्निकण छोड़ दिया जाय, तो वह अग्निकण एक एक तिनके को क्रमश जलाते जलाते सारी उस राशि को विलम्ब से जला सकता है। वे ही अग्निकण घास की शिथिल और विरल राशि मे चारो ओर से छोड़ दिये जावँ, तो एक साथ उसे जला डालते है।

इसी वात को विशेष स्फुट करने के लिए शास्त्र में और भी दो दृष्टान्त दिये गए हैं– पहला गणितक्रिया का और दूसरा वस्त्र सुखाने का। जैसे कोई विशिष्ट संख्या का लघुतम छेद निकालना हो, तो इसके लिए गणितप्रक्रिया मे अनेक उपाय हैं। निपुण गणितज्ञ अभीष्ट फल लाने के लिए एक ऐसी रीति का उपयोग करता

है, जिससे बहुत ही शीघ्र अभीष्ट परिणाम निकल आता है और दूसरा साधारण जानकार मनुष्य भागाकार आदि विलम्ब साध्य क्रिया से उस अभीष्ट परिणाम को देरी से ला पाता है। परिणाम तुल्य होने पर भी दक्ष गणितज्ञ उसे शीघ्र निकाल लेता है और साधारण गणितज्ञ देरी से निकाल पाता है। इसी तरह से समान रूप मे भीगे हुए दो कपड़ो मे से एक को समेट कर और दूसरे को फैलाकर सुखाया जाय तो पहला देरी से और दूसरा जल्दी सूखेगा। पानी का परिमाण और शोषणक्रिया समान होने पर भी कपड़े के संकोच और विस्तार के कारण उसके सोखने मे देरी और जल्दी का फर्क पड़ता है। समान परिमाण युक्त अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्त-नीय आयु के भोगने मे भी सिर्फ देरी और जल्दी का ही अन्तर पड़ता है और कुछ नहीं। इसलिए किये का नाश आदि उक्त दोष नहीं आते। ५२।

तीसरा अध्याय ।

दूसरे अध्याय में गति की अपेक्षा से संसारी जीव के नारक, मनुष्य, तिर्यञ्च और देव ऐसे जो चार प्रकार कहे गए हैं, स्थान, आयु, अवगाहना आदि के वर्णन से उनका विशेष स्वरूप तीसरे और चौथे अध्याय मे दिखाना है। तीसरे अध्याय मे नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य का वर्णन है और चौथे मे देव का।

नारकों का वर्णन—

रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घना-
म्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः । १ ।
तासु नरकाः । २ ।
नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः । ३ ।
परस्परोदीरितदुःखाः । ४ ।
संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः । ५ ।
तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरो-
पमाः सत्त्वानां परा स्थितिः । ६ ।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ हैं। जो घनाम्बु, वात और आकाश पर स्थित हैं, एक दूसरे के नीचे हैं और नीचे की ओर अधिक अधिक विस्तीर्ण हैं।

उन भूमिओं में नरक हैं।

वे नरक नित्य– निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले हैं।

तथा परस्पर उत्पन्न किये गए दु ख वाले होते हैं।

और चौथी भूमिसे पहले अर्थात् तीन भूमिओं तक सक्लिष्ट असुरों के द्वारा उत्पन्न किये गए दु ख वाले भी होते हैं।

उन नरकों में वर्त्तमान प्राणियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रम से एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस और तेतीस सागरोपम प्रमाण है।

लोक के अध., मध्यम और ऊर्ध्व ऐसे तीन भाग हैं। अधोभाग मेरु पर्वत के समतल के नीचे नव सौ योजन की गहराई के बाद गिना जाता है, जो आकाश मे ओधे किये हुए शराव– सकोरे के समान है अर्थात् नीचे नीचे विस्तीर्ण है। समतल के नीचे तथा ऊपर के नव सौ नव सौ योजन अर्थात् कुल अठारह सौ योजन का मध्यम लोक है, जो आकार में झालर के समान बराबर आयाम-विष्कम्भ– लम्बाई-चौड़ाई वाला है। मध्यम लोक के ऊपर का सम्पूर्ण लोक ऊर्ध्व लोक है, जो आकार मे पखावज– मृदङ्गविशेष के समान है।

नारकों के निवासस्थान की भूमियाॅ 'नरकभूमि' कहलाती हैं, जो अधोलोक मे हैं। ऐसी भूमियाॅ सात हैं। वे सातो भूमियाँ समश्रेणि मे न होकर एक दूसरे के नीचे हैं। उनकी आयाम– लम्बाई, विष्कम्भ– चौड़ाई आपस मे समान नहीं है, किन्तु नीचे नीचे की भूमि की लम्बाई-चौड़ाई अधिक अधिक है;

अर्थात् पहली भूमि से दूसरी की लम्बाई-चौड़ाई अधिक है, दूसरी से तीसरी की, इसी तरह छठी से सातवीं तक की लम्बाई-चौड़ाई अधिक अधिक समझना।

ये सातो भूमियाँ एक दूसरे के नीचे हैं, पर विलकुल लगी हुई नहीं हैं, किन्तु एक दूसरे के बीच मे बहुत बड़ा अन्तर है। इस अन्तर में घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश क्रमश. नीचे नीचे हैं अर्थात् पहली नरकभूमि के नीचे घनोदधि है, इसके नीचे

---

१ भगवती सूत्र मे लोक स्थिति का स्वरूप समझाते हुए बहुत ही स्पष्ट वर्णन नीचे लिखे अनुसार दिया है।

"त्रस, स्थावरादि प्राणियोंका आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। वायु के आधार पर उदधि और उसके आधार पर पृथ्वी कैसे ठहर सकती है? इस प्रश्न का खुलासा निम्न अनुसार है– कोई पुरुष चमड़े की मशक को पवन भरकर फुला देवे। फिर उस मशक के मुँह को चमड़े के फीते से मजबूत गाठ देकर बाँध देवे। इसी तरह मशक के बीच के भाग को भी बाँध दे। ऐसा करने से मशक में भरे हुए पवन के दो भाग हो जाएगे। जिससे मशक का आकार डुगडुगी जैसा लगने लगेगा। तब मशक का मुँह खोलकर ऊपर के भाग मे से पवन निकाल दिया जावे और उसकी जगह पानी भर कर फिर मशक का मुँह बन्द कर देवे और बीच का बन्धन खोल देवे। उसके बाद ऐसा लगेगा कि जो पानी मशक के ऊपर के भाग मे भरा गया है, वह ऊपर के भाग मे ही रहेगा, अर्थात् वायु के ऊपर ही ठहरेगा, नीचे नहीं जा सकता। क्योंकि ऊपर के भाग मे जो पानी है, उसका आधार मशक के नीचे के भाग मे जो वायु– वह है। अर्थात् जैसे मशक मे पवन के आधार पर पानी ऊपर रहता है, वैसे ही पृथिवी वगैरह भी पवन के आधार पर प्रतिष्ठित है" शतक १, उद्देशक ६।

घनवात, घनवातके नीचे तनुवात और तनुवात के नीचे आकाश है। आकाश के बाद दूसरी नरक भूमि है। इस भूमि और तीसरी भूमिके बीच भी घनोदधि आदि का वही क्रम है। इसी तरह सातवीं भूमि तक सब भूमिओं के नीचे उसी क्रम से घनोदधि आदि वर्तमान हैं। ऊपर की अपेक्षा नीचे का पृथ्वीपिंड–भूमि की मोटाई अर्थात् ऊपर से लेकर नीचे के तल तक का भाग कम कम है, जैसे प्रथम भूमिकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन, दूसरी की एक लाख बत्तीस हजार, तीसरी की एक लाख अट्ठाइस हजार, चौथी की एक लाख बीस हजार, पाँचवीं की एक लाख अट्ठारह हजार, छठी की एक लाख सोलह हजार तथा सातवीं की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन की है। सातों भूमिओं के नीचे जो सात घनोदधि वलय हैं, उन सबकी मोटाई बराबर अर्थात् बीस बीस हजार योजन की है और जो सात घनवात तथा सात तनुवात वलय हैं, उनकी मोटाई सामान्य रूप से असंख्यात योजन-प्रमाण होने पर भी आपस में तुल्य नहीं है, अर्थात् प्रथम भूमि के नीचे के घनवात वलय तथा तनुवात वलय की असंख्यात योजन प्रमाण मोटाई से, दूसरी भूमि के नीचे के घनवात वलय तथा तनुवात वलय की असंख्यात योजन प्रमाण मोटाई विशेष है। इसी क्रम से उत्तरोत्तर छठी भूमि के घनवात-तनुवात वलय से सातवीं भूमि के घनवात-तनुवात वलय की मोटाई विशेष विशेष है। इसी तरह आकाश के बारे में भी समझना।

पहली भूमि रत्नप्रधान होने से रत्नप्रभा कहलाती है। इसी तरह शर्करा– कंकड़ की बहुतायत से दूसरी शर्कराप्रभा। वालुका– रेती की मुख्यता से तीसरी वालुकाप्रभा। पङ्क– कीचड़ की अधि-

कता से चौथी पङ्कप्रभा। धूम- धुएँ की अधिकता से पाँचवीं धूम-प्रभा। तमः- अंधेरे की विशेषता से छठी तम प्रभा और महा-तम.- घन अन्धकार की प्रचुरता से सातवीं भूमि महातम'प्रभा कह-लाती है। इन सातों के नाम क्रमश - घर्मा, वंशा, शैला, अञ्जना, रिष्टा, माघव्या और माघवी- ये हैं।

रत्नप्रभा भूमि के तीन काण्ड- हिस्से हैं। प्रथम खरकाण्ड रत्नप्रचुर है, जो सबसे ऊपर है, वह मोटाई मे १६ हजार योजन प्रमाण है। उसके नीचेका दूसरा काण्ड पङ्कबहुल है, जो मोटाई में ८४ हजार योजन है। उसके नीचे का तीसरा काण्ड जलबहुल है, जो मोटाई मे ८० हजार योजन है। तीनो काण्डो की मोटाई मिलाने से १ लाख ८० हजार योजन होती है। यह प्रथम भूमि की मोटाई हुई। दूसरी से लेकर सातवी भूमि तक में ऐसे काण्ड नहीं हैं; क्योकि उनमें शर्करा, वालुका आदि जो जो पदार्थ हैं वे सब जगह एक से हैं। रत्नप्रभाका प्रथम काण्ड दूसरे पर और दूसरा काण्ड तीसरे पर स्थित है। तीसरा काण्ड घनोदधि वलय पर, घनोदधि घनवात वलय पर, घनवात तनुवात वलय पर, तनु-वात आकाश पर प्रतिष्ठित है, परन्तु आकाश किसी पर स्थित नहीं है। वह आत्म-प्रतिष्ठित है, क्योकि आकाश का स्वभाव ही ऐसा है, जिससे उसको दूसरे आधार की अपेक्षा नहीं रहती। दूसरी भूमि का आधार उसका घनोदधि वलय है, वह वलय अपने नीचे के घनवात वलय पर आश्रित है, घनवात अपने नीचे के तनुवात के आश्रित है, तनुवात नीचे के आकाश पर प्रतिष्ठित है और आकाश स्वाश्रित है। यही क्रम सातवीं भूमि तक की हर एक भूमि और उनके घनोदधि आदि वलय की स्थिति के सबन्ध मे समझ लेना चाहिए।

ऊपर ऊपर की भूमि से नीचे नीचे की भूमिका वाहल्य कम होने पर भी उनका विष्कम्भ, आयाम अधिक अधिक वढता ही जाता है। इस लिए उनका सस्थान छत्रातिछत्र के समान अर्थात् उत्तरोत्तर पृथु- विस्तीर्ण, पृथुतर कहा गया है। १।

सातो भूमिओ की जितनी जितनी मोटाई पीछे कही गई है, उसके ऊपर तथा नीचे का एक एक हजार योजन छोड़कर वाकी के मध्यभाग मे नरकावास हैं; जैसे रत्नप्रभा की एक लाख अस्सी हजार योजन की मोटाई मे से ऊपर-नीचे का एक एक हजार योजन छोड कर वीच के एक लाख अठहत्तर हजार योजन प्रमाण भाग मे नरक हैं। यही क्रम सातवी भूमि तक समझ लेना। नरको के रौरव, रौद्र, घातन, शोचन आदि अशुभ नाम हैं, जिनको सुनने से भी भय होता है। रत्नप्रभागत सीमन्तक नाम के नरकावास से लेकर महातमःप्रभा गत अप्रतिष्ठान नामक नरकावास तक के सभी नरकावास वज्र के छुरे के सदृश तल वाले है। संस्थान- आकार सवका एक सा नही है, कुछ गोल कुछ, त्रिकोण, कुछ चतुष्कोण, कुछ हॉडी जैसे, कुछ लोहे के घड़े जैसे, इस तरह भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। प्रस्तर- प्रतर जो मजिल वाले घर के तले के समान हैं, उनकी सख्या इस प्रकार है- रत्नप्रभा मे तेरह प्रस्तर है, शर्कराप्रभा मे ग्यारह। इस प्रकार हरएक नीचे की भूमि मे दो-दो घटाने से सातवी महातम प्रभा भूमि मे एक ही प्रस्तर है, इन्हीं प्रस्तरों मे नरक हैं।

भूमिओं में नरकावासों की सख्या

प्रथम भूमि मे तीस लाख, दूसरी मे पच्चीस लाख, तीसरी मे पद्रह लाख, चौथी में दस लाख, पॉचवीं मे तीन लाख, छठी मे पाँच कम एक लाख और सातवीं भूमि में सिर्फ पाँच नरकावास हैं।

प्र०— प्रस्तरों मे नरक हैं ऐसा कहा, इसका क्या मतलब ?

उ०— एक प्रस्तर और दूसरे प्रस्तर के बीच जो अवकाश-अन्तर है, उसमे नरक नहीं है, किन्तु हर एक प्रस्तर की मोटाई जो तीन-तीन हजार योजन की मानी गई है, उसी मे ये विविध संस्थान वाले नरक है।

प्र०— नरक और नारक का क्या संबन्ध है ?

उ०— नारक, ये जीव है और नरक, उनके स्थान का नाम है। नरक नामक स्थान के संबन्ध से ही वे जीव नारक कहलाते हैं। २।

पहली भूमि से दूसरी और दूसरी से तीसरी इसी तरह सातवीं भूमि तक के नरक अशुभ, अशुभतर, अशुभतम रचना वाले हैं। इसी प्रकार उन नरको में स्थित नारको की लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया भी उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ है।

रत्नप्रभा मे कापोत लेश्या है। शर्कराप्रभा मे कापोत है, पर रत्नप्रभा से अधिक तीव्र संक्लेश वाली है। वालुकाप्रभामें कापोत-नील लेश्या है। पङ्कप्रभा में नील लेश्या है। धूमप्रभा मे नील-कृष्ण लेश्या है और महातम-प्रभा मे कृष्ण लेश्या हैं, पर तम प्रभा से तीव्रतम है।

लेश्या

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, संस्थान आदि अनेक प्रकार के पौद्गलिक परिणाम सातों भूमिओं मे उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ हैं।

परिणाम

सातो भूमिओं के नारकों के शरीर अशुभ नामकर्म के उदय से उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, सस्थान वाले तथा अधिक अधिक अशुचि और बीभत्स हैं।

शरीर

सातो भूमिओ के नारको की वेदना उत्तरोत्तर अधिक तीव्र होती है। पहली तीन भूमिओ मे उष्ण वेदना, चौथी मे उष्ण शीत, पॉचवी मे शीतोष्ण, छठी मे शीत और सातवीं मे शीततर वेदना है। यह उष्णता और शीतता की वेदना इतनी सख्त है कि इस वेदना को भोगने वाले नारक अगर मर्त्य लोक की सख्त गरमी या सख्त सरदी में आ जायँ, तो उन्हे बडे आराम से नींद आ सकती है।

वेदना

उनकी विक्रिया भी उत्तरोत्तर अधिक अशुभ होती है। वे दु ख से घवरा कर उससे छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, पर होता है उलटा। सुखका साधन सम्पादन करने मे उनको दु ख के साधन ही प्राप्त होते हैं। वे वैक्रियलब्धि से बनाने लगते हैं कुछ शुभ, पर बन जाता है अशुभ।

विक्रिया

प्र०— लेश्या आदि अशुभतर भावो को नित्य कहा, इसका क्या मतलब ?

उ०— नित्य का मतलब निरन्तर से है। गति, जाति, शरीर और अङ्गोपाङ्ग नामकर्म के उदय से नरक गति में लेश्या आदि भाव जीवन पर्यन्त अशुभ ही बने रहते है, बीच मे एक पल के लिए भी अन्तर नही पड़ता और न कभी शुभ ही होते है। ३।

एक तो नरक मे क्षेत्र स्वभाव से सरदी गरमी का भयंकर दु ख है ही, पर भूख-प्यास का दुःख और भी भयंकर है। भूख का दु ख इतना अधिक है कि अग्नि की तरह सर्व भक्षण से भी शान्ति नहीं होती, बल्कि और भी भूख की ज्वाला तेज हो जाती है। प्यास का कष्ट इतना अधिक है कि कितना भी जल क्यो न हो उससे तृप्ति ही नही होती। इस दु ख के उपरान्त बड़ा भारी

दु ख तो उनको आपस के वैर और मारपीट से होता है, जैसे कौआ और उल्लू तथा साँप और नेवला जन्म शत्रु हैं, वैसे ही नारक जीव जन्म शत्रु है। इसलिए एक दूसरे को देखकर कुत्तों की तरह आपस मे लड़ते हैं, काटते है और गुस्से से जलते हैं, इसीलिए परस्परजनित दुःख वाले कहे गए हैं। ४।

नारको के तीन प्रकार की वेदना मानी गई है, जिसमे क्षेत्र-स्वभाव जन्य और परस्परजन्य वेदना का वर्णन पीछे किया गया है। तीसरी वेदना परमाधार्मिक जनित है। पहली दो प्रकार की वेदना सातो भूमिओ मे साधारण है। तीसरे प्रकार की वेदना सिर्फ पहली तीन भूमिओं मे होती है, क्योकि उन्हीं भूमिओं मे परमाधार्मिक हैं। परमाधार्मिक एक प्रकार के असुर देव हैं, जो वहुत क्रूर स्वभाव वाले और पापरत होते हैं। इनकी अम्ब, अम्वरीष आदि पंद्रह जातियाँ हैं। वे स्वभाव से ही ऐसे निर्दय और कुतूहली होते हैं कि उन्हे दूसरो को सताने में ही आनन्द मिलता है। इसलिए वे नारको को अनेक प्रकार के प्रहारो से दु.खित करते ही रहते हैं। उन्हे आपस मे कुत्तो, भैंसो और मल्लो की तरह लड़ाते हैं। आपस मे उनको लड़ते, मार-पीट करते देखकर वहुत खुशी मनाते हैं। यद्यपि वे परमाधार्मिक एक प्रकार के देव है, उन्हे और भी अनेक सुख साधन प्राप्त हैं, तथापि पूर्वजन्म कृत तीव्र दोष के कारण उन्हे दूसरो को सताने मे ही प्रसन्नता होती है। नारक भी वेचारे कर्मवश अशरण होकर सारा जीवन तीव्र वेदनाओ के अनुभव मे ही व्यतीत करते है। वेदना कितनी ही क्यों न हो, पर नारकोको न तो कोई शरण है और अनपवर्त्तनीय— वीचमे कम नहीं होनेवाली आयु के कारण न जीवन ही जल्दी समाप्त होता है। ५।

हर एक गति के जीवो की स्थिति– आयुमर्यादा जघन्य और उत्कृष्ट दो तरह से वतलाई जा सकती है। जिससे कम न पाई जा सके वह जघन्य और जिससे अधिक न पाई जा सके वह उत्कृष्ट। इस जगह नारको की सिर्फ उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन है। उनकी जघन्य स्थिति आगे बतलाई जायगी। पहली में एक सागरोपम की, दूसरी मे तीन, तीसरी मे सात, चौथी मे दस, पॉचवीं मे सत्रह, छठी मे बाईस और सातवीं मे तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है।

नारकों की स्थिति

यहॉं तक सामान्य रूप से अधोलोकका वर्णन पूर्ण होता है। इसमे दो बातें खास जान लेनी चाहिएँ– गति-आगति और द्वीप-समुद्र आदिका सम्भव।

असज्ञी प्राणी मरकर पहली भूमि मे उत्पन्न हो सकते है, आगे नहीं। भुजपरिसर्प पहली दो भूमि तक, पक्षी तीन भूमि तक, सिंह चार भूमि तक, उरग पॉच भूमि तक, स्त्री छ. भूमि तक और मत्स्य तथा मनुष्य मरकर सात भूमि तक जा सकते है। सारांश तिर्यञ्च और मनुष्य ही नरक भूमि मे पैदा हो सकते हैं, देव और नारक नहीं, इसका कारण यह है कि उनमे वैसे अध्यवसाय का अभाव है। नारक मरकर फिर तुरंत न तो नरक गतिमे ही पैदा होते हैं और न देवगति मे। वे सिर्फ तिर्यञ्च और मनुष्य गति मे पैदा हो सकते हैं।

गति

पहली तीन भूमिओ के नारक मनुष्य जन्म पाकर तीर्थङ्कर

१ देखो अ० ४, सू० ३३–४४।

पद तक पा सकते हैं। चार भूमिओ के नारक मनुष्यत्व पाकर निर्वाण भी पा सकते हैं। पाँच भूमिओ के नारक मनुष्य गति मे संयम का लाभ ले सकते हैं। छ भूमिओ से निकले हुए नारक देशविरति और सात भूमिओ से निकले हुए सम्यक्त्व का लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

आगति

रत्नप्रभा को छोड़कर बाकी की छ भूमिओ मे न तो द्वीप, समुद्र, पर्वत, सरोवर ही हैं; न गाँव, शहर आदि है, न वृक्ष, लता आदि बादर वनस्पति काय है, न द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त तिर्यञ्च है, न मनुष्य हैं और न किसी प्रकार के देव ही हैं। रत्नप्रभा को छोड़ कर कहने का कारण यह है कि उसका थोडा भाग मध्यलोक– तिरछे लोक मे सम्मिलित है, जिससे उसमे उक्त द्वीप, समुद्र, ग्राम, नगर, वनस्पति, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव पाये जा सकते हैं। रत्नप्रभा के सिवाय शेष छ भूमिओ मे सिर्फ नारक और कुछ एकेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं। इस सामान्य नियम का भी अपवाद है, क्योंकि उन भूमिओ मे कभी किसी स्थान पर कुछ मनुष्य, देव और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च का भी सम्भव है। मनुष्य का सम्भव तो इस अपेक्षा से है कि केवली समुद्घात करने वाला मनुष्य सर्वलोक व्यापी होने से उन भूमिओं में भी आत्मप्रदेश फैलाता है। इसके सिवाय वैक्रियलब्धि वाले मनुष्य की भी उन भूमिओ तक पहुँच है। तिर्यञ्चों की पहुँच भी उन भूमियो तक है, परन्तु यह सिर्फ वैक्रियलब्धि की अपेक्षा से ही माना जाता है। देवों की पहुँच के विषय मे यह बात है कि कुछ देव कभी कभी अपने पूर्व जन्म के मित्र नारकों के पास उन्हे दु खमुक्त करने के उद्देश्य से जाते हैं। ऐसे जाने वाले

द्वीप, समुद्र आदि का सभव

देव भी सिर्फ तीन भूमिओं तक जा सकते हैं, आगे नहीं। परमाधार्मिक जो एक प्रकार के देव हैं और नरकपाल कहलाते हैं, वे तो जन्म से ही पहली तीन भूमिओं मे हैं, अन्य देव जन्म से सिर्फ पहली भूमि में पाए जा सकते हैं। ६।

मध्यलोक का वर्णन—

जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः। ७।
द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः। ८।
तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः। ९।
तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि। १०।
तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः। ११।
द्विर्धातकीखण्डे। १२।
पुष्करार्धे च। १३।
प्राङ् मानुषोत्तरान् मनुष्याः। १४।
आर्या म्लेच्छाश्च। १५।
भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः। १६।
नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते। १७।
तिर्यग्योनीनां च। १८।

जम्बूद्वीप वगैरह शुभ नाम वाले द्वीप, तथा लवण वगैरह शुभ नाम वाले समुद्र हैं।

वे सभी द्वीप और समुद्र, वलय— चूड़ी जैसी आकृति वाले, पूर्व पूर्व को वेष्टित करने वाले और दूने दूने विष्कम्भ— व्यास अर्थात् विस्तार वाले हैं।

उन सब के बीच में जम्बूद्वीप है, जो वृत्त—गोल है, लाख योजन विष्कम्भ वाला है और जिसके मध्य में मेरु पर्वत है।

उसमें— जम्बूद्वीप में भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेह-वर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष, ऐरावतवर्ष— ये सात क्षेत्र हैं।

उन क्षेत्रों को जुदा करनेवाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी, और शिखरी— ये छः वर्षधर पर्वत हैं।

धातकीखण्ड में पर्वत तथा क्षेत्र जम्बूद्वीप से दूने हैं।

पुष्करार्धद्वीप में भी उतने ही हैं।

मानुषोत्तर नामक पर्वत के पहले तक ही मनुष्य हैं।

वे आर्य और म्लेच्छ हैं।

देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड कर भरत, ऐरावत तथा विदेह— ये सभी कर्म भूमियाँ हैं।

मनुष्यों की स्थिति— आयु उत्कृष्ट तीन पल्योपम तक और जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

तथा तिर्यंचों की स्थिति भी उतनी ही है।

द्वीप और समुद्र

मध्यम लोक की आकृति झालर के समान कही गई है, यही बात द्वीप, समुद्रो के वर्णन द्वारा स्पष्ट की गई है।

मध्यम लोक में द्वीप और समुद्र असख्यात है। वे क्रम से द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र के बाद द्वीप इस तरह अवस्थित हैं। उन सबके नाम शुभ ही है। यहाँ द्वीप-समुद्रो के विषय मे व्यास, रचना और आकृति ये तीन बातें बतलाई गई हैं, जिनसे मध्यम लोक का आकार मालूम हो जाता है।

व्यास

जम्बूद्वीप का पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण विस्तार लाख लाख योजन का है, लवणसमुद्र का उससे दूना है, धातकीखण्ड का लवणसमुद्र से, कालोदधि का धातकीखण्ड से, पुष्करवरद्वीप का कालोदधि से, पुष्करोदधि समुद्र का पुष्करवरद्वीप से विष्कम्भ दूना दूना है। विष्कम्भ का यही क्रम आखिर तक समझना चाहिए अर्थात् आखिरी द्वीप स्वयम्भूरमण से आखिरी समुद्र स्वयम्भूरमण का विष्कम्भ दूना है।

रचना

द्वीप-समुद्रो की रचना चक्की के पाट और थाली के समान है, अर्थात् जम्बूद्वीप लवणसमुद्र से वेष्टित है, लवणसमुद्र धातकीखण्ड से, धातकीखण्ड कालोदधि से, कालोदधि पुष्करवरद्वीप से और पुष्करवरद्वीप पुष्करोदधि से वेष्टित है। यही क्रम स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त है।

आकृति

जम्बूद्वीप थाली जैसा गोल है और अन्य सब द्वीप-समुद्रों की आकृति वलय के सदृश अर्थात् चूड़ी के समान है। ७,८।

जम्बूद्वीप ऐसा द्वीप है, जो सबसे पहला और सब द्वीप-समुद्रो

के बीच मे है अर्थात् उसके द्वारा कोई द्वीप या समुद्र वेष्टित नहीं हुआ है। जम्बूद्वीप का विष्कम्भ लाख योजन प्रमाण है। वह गोल है, पर लवणादि की तरह वलयाकृति नहीं, किन्तु कुम्हार के चाक के समान है। उसके बीच मे मेरु पर्वत है। मेरु का वर्णन सक्षेप मे इस प्रकार है–

जम्बूद्वीप, उसके क्षेत्रों और प्रधान पर्वतों का वर्णन

मेरु की ऊँचाई एक लाख योजन की है, जिसमें हजार योजन जितना भाग जमीन मे अर्थात् अदृश्य है। निन्यानवे हजार योजन प्रमाण भाग जमीन के ऊपर है। जो हजार योजन प्रमाण भाग जमीन मे है, उसकी लम्बाई-चौड़ाई सब जगह दस हजार योजन प्रमाण है। पर बाहर के भाग का ऊपर का अंश जहाँ से चूलिका निकलती है वह हजार हजार योजन प्रमाण लम्बा-चौड़ा है। मेरु के तीन काण्ड हैं। वह तीनों लोकों मे अवगाहित होकर रहा है और चार वनों से घिरा हुआ है। पहला काण्ड हजार योजन प्रमाण है, जो जमीन मे है। दूसरा त्रेसठ हजार योजन और तीसरा छत्तीस हजार योजन प्रमाण है। पहले काण्ड मे शुद्ध पृथिवी तथा कंकड़ आदि की, दूसरे मे चाँदी, स्फटिक आदि की और तीसरे में सोने की प्रचुरता है। चार वनो के नाम क्रमश भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक हैं। लाख योजन की ऊँचाई के बाद सबसे ऊपर एक चूलिका– चोटी है, जो चालीस योजन की ऊँची है, जो मूल मे बारह योजन, बीच मे आठ योजन और ऊपर चार योजन प्रमाण लम्बी-चौडी है।

जम्बूद्वीप मे मुख्यतया सात क्षेत्र हैं, जो वंश, वर्ष या वास्य कहलाते हैं। जिनमे पहला भरत है, जो दक्षिण की ओर है, भरत

से उत्तर की ओर हैमवत, हैमवत से उत्तर मे हरि, हरि से उत्तर में विदेह, विदेह से उत्तर में रम्यक, रम्यक से उत्तर में हैरण्यवत और हैरण्यवत से उत्तर मे ऐरावत वर्ष है। व्यवहारसिद्ध[1] दिशा के नियम के अनुसार मेरु पर्वत सातों क्षेत्रों के उत्तर भाग में अवस्थित है।

सातों क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग करने वाले उनके बीच छ पर्वत हैं, जो वर्षधर कहलाते हैं। वे सभी पूर्व-पश्चिम लम्बे हैं। भरत और हैमवत क्षेत्रके बीच हिमवान पर्वत है। हैमवत और हरिवर्ष का विभाजक महाहिमवान् है। हरिवर्ष और विदेह को जुदा करने वाला निषधपर्वत है। विदेह और रम्यक वर्ष को भिन्न करने वाला नीलपर्वत है। रम्यक और हैरण्यवत को विभक्त करने-वाला रुक्मी पर्वत है। हैरण्यवत और ऐरावत के बीच विभाग करने वाला शिखरी पर्वत है। ९-११।

जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकीखण्ड मे मेरु, वर्ष और वर्षधर की सख्या दूनी है, अर्थात् उसमे दो मेरु, चौदह वर्ष और बारह वर्षधर हैं, परन्तु नाम एक से ही है, अर्थात् जम्बूद्वीप मे स्थित मेरु, वर्षधर और वर्ष के जो नाम हैं, वे ही धातकीखण्डगत मेरु आदि के

धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीप

---

१ दिशा का नियम सूर्य के उदयास्त पर निर्भर है। सूर्योदय की ओर मुख करके खड़े होने पर बाईं तरफ उत्तरदिशा मे मेरु पड़ता है। भरत-क्षेत्र में सूर्यास्त की जो दिशा है, ऐरावत क्षेत्र मे वही सूर्योदय की दिशा है। इसलिए वहाँ भी सूर्योदय की ओर मुख करने से मेरु पर्वत उत्तर दिशा मे ही रहता है। इसी तरह से दूसरे क्षेत्रों मे भी मेरु का उत्तरवर्तित्व समझना चाहिए।

भी है। वलयाकृति धातकीखण्ड के पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध ऐसे दो भाग हैं। पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध का विभाग दो पर्वतों से हो जाता है, जो दक्षिणोत्तर विस्तृत है और इष्वाकार– बाण के समान सरल है। प्रत्येक भाग मे एक-एक मेरु सात-सात वर्ष और छ-छ. वर्षधर हैं। सारांश यह है कि नदी, क्षेत्र, पर्वत आदि जो कुछ जम्बूद्वीप मे हैं वे ही धातकीखण्ड मे द्विगुण हैं। धातकीखण्ड को पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध रूपसे विभक्त करनेवाले दक्षिणोत्तर विस्तृत और इष्वाकार दो पर्वत हैं, तथा पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध मे पूर्व-पश्चिम विस्तृत छ. छ वर्षधर पर्वत हैं। ये सभी एक ओर से कालोदधि को और दूसरी ओरसे लवणोदधि को छुए हुए है। पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध मे स्थित छ छ वर्षधरो को पहिये की नाभि मे लगे हुए आरो की उपमा दी जाय तो उन वर्षधरों के कारण विभक्त होने वाले सात भरत आदि क्षेत्रो को आरो के बीच के अन्तर की उपमा देनी चाहिए।

मेरु, वर्ष और वर्षधरो की जो संख्या धातकीखण्ड मे है, वही पुष्करार्ध द्वीप मे है; अर्थात् उसमे भी दो मेरु, चौदह वर्ष तथा बारह वर्षधर हैं, जो इष्वाकार पर्वतो के द्वारा विभक्त पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध मे स्थित हैं। इस तरह मिलाने से ढाई द्वीप मे कुल पॉच मेरु, तीस वर्षधर, पैंतीस क्षेत्र, पॉच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु, पाँच महाविदेह की एकसौ साठ विजय और पॉच भरत और पॉच ऐरावत के दो सौ पचपन आर्य देश है। अन्तर्द्वीप सिर्फ लवणसमुद्र मे होने के कारण छप्पन है। पुष्कर-द्वीप मे एक मानुषोत्तर नामका पर्वत है, जो इसके ठीक मध्य मे शहर के किले की तरह गोलाकार खड़ा है और मनुष्यलोक को

घेरे हुए है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधा पुष्करद्वीप ये ढाई द्वीप तथा लवण, कालोदधि ये दो समुद्र इतना ही भाग मनुष्यलोक कहलाता है। उक्त भाग का नाम मनुष्यलोक और उक्त पर्वत का नाम मानुषोत्तर इसलिए पड़ा है कि– इसके बाहर न तो कोई मनुष्य जन्म लेता है और न कोई मरता है। विद्या-सम्पन्न मुनि या वैक्रिय लब्धिधारी कोई मनुष्य ढाई द्वीप के बाहर सिर्फ जा सकते हैं, पर उनका भी जन्म-मरण मानुषोत्तर के अंदर ही होता है। १२,१३।

मानुषोत्तर पर्वत के पहले जो ढाई द्वीप और दो समुद्र कहे गए हैं, उनमे मनुष्य की स्थिति है सही, पर वह सार्वत्रिक नहीं, अर्थात् जन्म से तो मनुष्यजाति का स्थान सिर्फ ढाई द्वीप के अन्तर्गत जो पैंतीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर्द्वीप कहे गए हैं, उन्हीं मे होता है, पर संहरण, विद्या या लब्धि के निमित्त से मनुष्य ढाई द्वीप के तथा दो समुद्र के किसी भी भाग मे पाया जा सकता है। इतना ही नहीं, बल्कि मेरुपर्वत की चोटी पर भी वह उक्त निमित्त से रह सकता है। ऐसा होने पर भी यह भारतीय है, यह हैमवतीय है इत्यादि व्यवहार क्षेत्र के सबन्ध से और यह जम्बूद्वीपीय है, यह धातकीखण्डीय है इत्यादि व्यवहार द्वीप के सबन्ध से समझना चाहिए। १४।

मनुष्यजाति का स्थितिक्षेत्र और प्रकार

मनुष्यजाति के मुख्यतया दो भेद हैं– आर्य और म्लेच्छ। निमित्त भेद से छ प्रकार के आर्य माने गए हैं। जैसे क्षेत्र से, जाति से, कुल से, कर्म से, शिल्प से और भाषा से। क्षेत्र-आर्य वे

हैं, जो पंद्रह कर्मभूमिओ मे और उनमे भी आर्यदेशो मे पैदा होते है। जो इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, ज्ञात, कुरु, उग्र आदि वंशो मे पैदा होते हैं, वे जाति-आर्य हैं। कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और दूसरे भी जो विशुद्ध कुल वाले है, वे कुल-आर्य है। यजन, याजन, पठन, पाठन, कृषि, लिपि, वाणिज्य आदि से आजीविका करने वाले कर्म-आर्य है। जुलाहा, नाई, कुम्हार आदि जो अल्प आरम्भ वाली और अनिन्द्य आजीविका से जीते हैं, वे शिल्प-आर्य हैं। जो शिष्ट पुरुषमान्य भाषा में सुगम रीति से बोलने आदि का व्यवहार करते हैं, वे भाषा-आर्य है। इन छ प्रकार के आर्यों से विपरीत लक्षण वाले सभी [3] म्लेच्छ हैं, जैसे शक, यवन, कम्बोज, शबर, पुलिन्द आदि। छप्पन अन्तर्द्वीपो मे रहने वाले तो सभी और कर्मभूमिओ मे भी जो अनार्य देशोत्पन्न हैं, वे म्लेच्छ ही है। १५।

जहाँ मोक्षमार्ग के जानने वाले और उपदेश करने वाले तीर्थङ्कर पैदा हो सकते हैं वही कर्मभूमि है। ढाई द्वीप मे मनुष्य की

---

१ पाच भरत और पाँच ऐरावत मे साढे पचीस आर्यदेश गिनाये गए हैं। इस तरह दो सौ पचपन आयदेश और पाच विदेह के एक सौ साठ चक्रवर्ति-विजय जो आर्यदेश है, उनको छोड़ कर बाकी का पंद्रह कर्मभूमिओ का भाग आर्यदेश रूप से नहीं माना जाता।

२ तीर्थंकर, गणधर आदि जो अतिशयसम्पन्न हैं वे शिष्ट, उनकी भाषा संस्कृत, अर्धमागधी इत्यादि।

३ इस व्याख्या के अनुसार हैमवत आदि तीस भोगभूमि या अकर्मभूमिओं मे रहने वाले म्लेच्छ ही हैं।

पैदाइश वाले पैंतीस क्षेत्र और छप्पन अन्तर्द्वीप कहे गए है, उनमे से उक्त प्रकार की कर्मभूमियाँ पंद्रह ही है। जैसे पॉच भरत, पॉच ऐरावत और पॉच विदेह। इनको छोड़कर बाकी के बीस क्षेत्र तथा सब अन्तरद्वीप अकर्मभूमि ही है। यद्यपि देवकुरु और उत्तरकुरु ये दो विदेह के अदर ही है, तथापि वे कर्मभूमियाँ नहीं, क्योकि उनमे युगलिक धर्म होने के कारण चारित्र का सम्भव कभी नहीं है, जैसा कि हैमवत आदि अकर्मभूमिओं मे नही है। १६।

कर्मभूमिओं का निदश

मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति— जीवितकाल तीन पल्योपम और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही है। तिर्यञ्चों की भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति मनुष्य के बराबर अर्थात् तीन पल्योपम और अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही है।

मनुष्य और तिर्यञ्च की स्थिति

भव और कायभेद से स्थिति दो प्रकार की है। कोई भी जन्म पाकर उसमे जघन्य अथवा उत्कृष्ट जितने काल तक जी सकता है वह भवस्थिति, और बीच में किसी दूसरी जाति में जन्म न ग्रहण करके किसी एक ही जाति मे बार बार पैदा होना वह कायस्थिति है। ऊपर जो मनुष्य और तिर्यञ्च की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति कही गई है वह उन की भवस्थिति है। कायस्थिति का विचार इस प्रकार है— मनुष्य हो या तिर्यञ्च, सब की जघन्य कायस्थिति तो भवस्थिति की तरह अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही है। मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति सात अथवा आठ भवग्रहण परिमाण है, अर्थात कोई भी मनुष्य अपनी मनुष्यजाति मे लगातार सात

अथवा आठ जन्म तक रह करके फिर अवश्य उस जाति को छोड़ देता है।

सब तिर्यञ्चों की कायस्थिति भवस्थिति की तरह एकसी नहीं है। इसलिए उनकी दोनों स्थितिओ का विस्तारपूर्वक वर्णन आवश्यक है। सो इस प्रकार— पृथ्वीकाय की भवस्थिति बाईस हज़ार वर्ष, जलकाय की सात हज़ार वर्ष, वायुकाय की तीन हज़ार वर्ष, तेजःकाय की तीन अहोरात्र भवस्थिति है। उन चारों की कायस्थिति असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण है। वनस्पतिकाय की भवस्थिति दस हज़ार वर्ष और कायस्थिति अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण है। द्वीन्द्रिय की भवस्थिति बारह वर्ष, त्रीन्द्रिय की उनचास अहोरात्र और चतुरिन्द्रिय की छ मास प्रमाण है। इन तीनो की कायस्थिति संख्यात हज़ार वर्ष की है। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों मे गर्भज और संमूर्छिम की भवस्थिति जुदा जुदा है। गर्भज की, जैसे जलचर, उरग और भुजग की करोड़ पूर्व, पक्षिओ की पल्योपम का असंख्यातवॉ भाग और चतुष्पद स्थलचर की तीन पल्योपम भवस्थिति है। संमूर्छिम की, जैसे जलचर की करोड़ पूर्व, उरग की त्रेपन हज़ार, भुजग की बयालीस हज़ार वर्ष की भवस्थिति है। पक्षियों की बहत्तर हज़ार, स्थलचरों की चौरासी हज़ार वर्ष प्रमाण भवस्थिति है। गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च की कायस्थिति सात या आठ जन्मग्रहण और संमूर्छिम की सात जन्मग्रहण परिमाण है। १७,१८।

चौथा अध्याय ।

तीसरे अध्यायमे मुख्यतया नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च का वर्णन किया गया है । अब इस अध्याय मे मुख्यतया देवो का वर्णन करते हैं ।

देवों के प्रकार–

देवाश्चतुर्निकायाः । १ ।

देव चार निकाय वाले हैं ।

निकाय का मतलब समूह विशेष अर्थात् जाति से है । देवो के चार निकाय हैं, जैसे– १ भवनपति, २ व्यन्तर, ३ ज्योतिष्क, और ४ वैमानिक । १ ।

तीसरे निकायकी लेश्या–

तृतीयः [1]पीतलेश्यः । २ ।

तीसरा निकाय पीतलेश्या वाला है ।

---

१ दिगम्बरीय परपरा भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क इन तीन निकायोंमे कृष्ण से तेज पर्यन्त चार लेश्याएँ मानती हैं, पर श्वेताम्बरीय परपरा भवनपति, व्यन्तर दो निकाय मे ही उक्त चार लेश्याएँ मानती हैं, और ज्योतिष्कनिकाय मे सिर्फ तेजोलेश्या मानती है । इसी मतभेद के कारण श्वेताम्बर परम्परा मे यह दूसरा और आगे का सातवाँ ये दोनों सूत्र भिन्न हे । दिगम्बरीय परम्परामे इन दोनों सूत्रों के स्थानमें सिर्फ एक ही सूत्र– 'आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्या' पाया जाता है ।

पूर्वोक्त चार निकायोंमे तीसरे निकायके देव ज्योतिष्क हैं। उनमे सिर्फ पीत– तेजो लेश्या है। यहाँ लेश्याका मतलब द्रव्य-लेश्या अर्थात् शारीरिक वर्ण से है, अध्यवसाय विशेष रूप भाव-लेश्यासे नहीं, क्योंकि भावलेश्या तो चारो निकायों के देवो मे छहो पाई जाती हैं। २।

चार निकायो के भेद–

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः । ३ ।

कल्पोपपन्न देव तक के चतुर्निकायिक देव अनुक्रमसे दस, आठ, पाँच और बारह भेद वाले हैं।

भवनपतिनिकाय के दस, व्यन्तरनिकाय के आठ, ज्योतिष्क-निकाय के पाँच और वैमानिकनिकाय के बारह भेद हैं, जो सब आगे कहे जायँगे। वैमानिकनिकाय के बारह भेद कहे हैं, वे कल्पोपपन्न वैमानिक देव तक के समझने चाहिएँ, क्योंकि कल्पातीत देव हैं तो वैमानिक निकाय के, पर उक्त बारह भेदो मे नहीं आते। सौधर्म से अच्युत तक बारह स्वर्ग– देवलोक हैं, वे कल्प कहलाते हैं। ३।

चतुर्निकाय के अवान्तर भेद–

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपा-लानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः । ४ ।

---

१ लेश्या का विशेष स्वरूप जानने के लिए देखो हिन्दी चौथे कर्मग्रन्थ का लेश्या शब्द विषयक परिशिष्ट पृ० ३३।

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः । ५ ।

चतुर्निकाय के उक्त दस आदि एकएक इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक रूप हैं।

व्यन्तर और ज्योतिष्क त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल रहित हैं।

भवनपतिनिकाय के असुरकुमार आदि दस प्रकार के देव है । वे हरएक किस्म के देव इन्द्र, सामानिक आदि दस भागो मे विभक्त हैं । १ इन्द्र वे हैं जो सामानिक आदि सब प्रकार के देवों के स्वामी हो । २ सामानिक वे हैं जो आयु आदि मे इन्द्र के समान हो अर्थात् जो अमात्य, पिता, गुरु आदि की तरह पूज्य हैं, पर जिनमे सिर्फ इन्द्रत्व नही है । ३ जो देव मत्री या पुरोहित का काम करते हैं वे त्रायस्त्रिंश । ४ जो मित्र का काम करते हैं वे पारिषद्य । ५ जो शस्त्र उठाये हुए आत्मरक्षक रूप से पीठ की ओर खडे रहते हैं वे आत्मरक्षक हैं । ६ लोकपाल वे हैं जो सरहद की रक्षा करते हैं । ७ जो सैनिक रूप और सेनाधिपति रूप है वे अनीक । ८ जो नगरवासी और देशवासी के समान है वे प्रकीर्णक । ९ जो दास के तुल्य हैं वे आभियोग्य– सेवक । १० जो अन्त्यज समान हैं वे किल्बिषिक । बारह देवलोकों मे अनेक प्रकार के वैमानिक देव भी इन्द्र, सामानिक आदि दस भागो मे विभक्त हैं ।

व्यन्तरनिकाय के आठ और ज्योतिष्कनिकाय के पाँच भेद सिर्फ इन्द्र आदि आठ विभागो मे ही विभक्त है, क्योकि इन दोनों निकायो मे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जाति के देव नही होते । ४,५ ।

इन्द्रों की संख्या का नियम—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः । ६ ।

पहले के दो निकायो में दो दो इन्द्र हैं ।

भवनपतिनिकाय के असुरकुमार आदि दसो प्रकार के देवों मे तथा व्यन्तरनिकाय के किन्नर आदि आठो प्रकार के देवो मे दो दो इन्द्र हैं । जैसे, चमर और वलि असुरकुमारो मे, धरण और भूतानन्द नागकुमारों मे, हरि और हरिसह विद्युत्कुमारो मे, वेणुदेव और वेणुदारी सुपर्णकुमारो मे, अग्निशिख और अग्निमाणव अग्निकुमारो मे, वेलम्ब और प्रभञ्जन वातकुमारो मे, सुघोप और महाघोष स्तनितकुमारों मे, जलकान्त और जलप्रभ उदधिकुमारो मे, पूर्ण और वासिष्ठ द्वीपकुमारो मे तथा अमितगति और अमितवाहन दिक्कुमारो में इन्द्र हैं । इसीतरह व्यन्तरनिकाय में भी, किन्नरों मे किन्नर और किंपुरुप, किंपुरुषो मे सत्पुरुप और महापुरुष, महोरग में अतिकाय और महाकाय, गान्धर्वों मे गीतरति और गीतयश, यक्षो में पूर्णभद्र और माणिभद्र, राक्षसो मे भीम और महाभीम, भूतो मे प्रतिरूप और अप्रतिरूप तथा पिशाचो में काल और महाकाल— ये दो दो इन्द्र हैं ।

भवनपति और व्यन्तर इन दो निकायो मे दो दो इन्द्र कहने से शेप दो निकायो मे दो दो इन्द्रों का अभाव सूचित किया गया है । ज्योतिष्क मे तो चन्द्र और सूर्य ही इन्द्र है । चन्द्र और सूर्य असख्यात हैं, इसलिए ज्योतिष्कनिकाय मे इन्द्र भी उतने ही हुए । वैमानिकनिकाय मे हरएक कल्प मे एक एक इन्द्र है । सौधर्मकल्प मे शक्र, ऐशान मे ईशान, सानत्कुमार में सनत्कुमार नामक

इन्द्र है, इसीतरह ऊपर के देवलोको मे उस देवलोक के नामवाला एक एक इन्द्र है। सिर्फ विशेषता इतनी है कि– आनत और प्राणत इन दो का इन्द्र एक है जिसका नाम प्राणत है। आरण और अच्युत इन दो कल्पो का इन्द्र भी एक है, जिसका नाम है अच्युत। ६।

पहले दो निकायों मे लेश्या–

पीतान्तलेश्याः । ७ ।

पहले दो निकाय के देव पीत–तेज पर्यन्त लेश्या वाले हैं।

भवनपति और व्यन्तर जाति के देवो मे शारीरिक वर्णरूप द्रव्यलेश्या चार ही मानी जाती है। जैसे– कृष्ण, नील, कापोत और पीत–तेज। ७।

देवों के कामसुख का वर्णन–

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् । ८ ।
शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः । ९ ।
परेऽप्रवीचाराः । १० ।

ऐशान तक के देव कायप्रवीचार अर्थात् शरीर से विषय-सुख भोगने वाले होते हैं।

बाकी के देव दो दो कल्पों में क्रम से स्पर्श, रूप, शब्द और सकल्प द्वारा विषयसुख भोगने वाले होते हैं।

अन्य सब देव प्रवीचार रहित अर्थात् वैषयिक सुखभोग से रहित होते हैं।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले तथा दूसरे स्वर्ग के

वैमानिक—इतने देव मनुष्य की तरह शरीर से कामसुख का अनुभव करके प्रसन्नता लाभ करते हैं।

तीसरे स्वर्ग से ऊपर के वैमानिक देव मनुष्य के समान सर्वाङ्गीण शरीरस्पर्श द्वारा कामसुख नहीं भोगते, किन्तु अन्य अन्य प्रकार से वैषयिक सुख का अनुभव करते हैं। जैसे तीसरे और चौथे स्वर्ग के देव तो देवियों के स्पर्शमात्र से कामतृष्णा की शान्ति कर लेते हैं, और सुख का अनुभव करते हैं। पाँचवें और छठे स्वर्ग के देव देवियों के सुसज्जित रूप को देखकर ही विषय सुखजन्य संतोष लाभ कर लेते हैं। सातवें और आठवें स्वर्ग के देवों की कामवासना देवियों के विविध शब्दमात्र को सुनने से शान्त हो जाती है और उन्हें विषयसुख के अनुभव का आनन्द मिलता है। नववें और दसवें तथा ग्यारहवें और बारहवें इन दो जोड़ो अर्थात् चार स्वर्गों के देवों की वैषयिक तृप्ति सिर्फ देवियों के चिन्तनमात्र से हो जाती है। इस तृप्ति के लिए उन्हें न तो देवियों के स्पर्श की, न रूप देखने की और न गीत आदि सुनने की अपेक्षा रहती है। सारांश यह है कि—दूसरे स्वर्ग तक ही देवियाँ हैं, ऊपर नहीं। इसलिए वे जब तीसरे आदि ऊपर के स्वर्ग में रहनेवाले देवों को विषयसुख के लिए उत्सुक और इस कारण अपनी ओर आदरशील जानती हैं, तभी वे ऊपर के देवों के निकट पहुँच जाती हैं, वहाँ पहुँचते ही उनके हस्त आदि के स्पर्शमात्र से तीसरे, चौथे स्वर्ग के देवों की कामतृप्ति हो जाती है। उनके शृङ्गारसज्जित मनोहर रूप को देखने मात्र से पाँचवें और छठे स्वर्ग के देवों की कामलालसा पूर्ण हो जाती है। इसी तरह उनके सुन्दर सङ्गीतमय शब्द को सुनने मात्र से सातवें और आठवें स्वर्ग के देव वैषयिक

आनन्द का अनुभव कर लेते है। देवियो की पहुँच सिर्फ आठवे स्वर्ग तक ही है, इसके ऊपर नही। नववे से बारहवें स्वर्ग के देवो की काम-सुखतृप्ति केवल देवियो के चिन्तनमात्र से हो जाती है। बारहवे स्वर्ग से ऊपर जो देव हैं वे शान्त और कामलालसा से रहित होते हैं। इसलिए उनको देवियो के स्पर्श, रूप, शब्द या चिन्तन द्वारा कामसुख भोगने की अपेक्षा नहीं रहती, फिर भी वे अन्य देवो से अधिक सन्तुष्ट और अधिक सुखी होते हैं। कारण स्पष्ट है और वह यह कि— ज्यो ज्यो कामवासना की प्रबलता त्यों-त्यों चित्तसक्लेश अधिक, ज्यो ज्यो चित्तसंक्लेश अधिक त्यो त्यो उसको मिटाने के लिए विषयभोग भी अधिकाधिक चाहिए। दूसरे स्वर्ग तक के देवो की अपेक्षा तीसरे और चौथे के देवो की, और उनकी अपेक्षा पाँचवें छठे के देवो की— इस तरह ऊपर ऊपर के स्वर्ग के देवो की कामवासना मन्द होती हैं। इसलिए उनके चित्त-सक्लेश की मात्रा भी कम होती है। अतएव उनके कामभोग के साधन भी अल्प कहे गए है। बारहवें स्वर्ग के ऊपरवाले देवो की कामवासना शान्त होती है, इस कारण उन्हे स्पर्श, रूप, शब्द, चिन्तन आदि मे से किसी भी भोग की इच्छा नहीं होती। वे सतोपजन्य परमसुख मे निमग्न रहते हैं। यही कारण है कि जिससे नीचे नीचे की अपेक्षा ऊपर ऊपर के देवो का सुख अधिकाधिक माना गया है। ८-१०।

चतुर्निकाय देवों के पूर्वोक्त भेदों का वर्णन—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि-द्वीपदिक्कुमाराः। ११।

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगान्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः । १२ ।

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च । १३ ।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके । १४ ।

तत्कृतः कालविभागः । १५ ।

बहिरवस्थिताः । १६ ।

वैमानिकाः । १७ ।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च । १८ ।

उपर्युपरि । १९ ।

[1]सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तकमहाशुक्रसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च । २० ।

असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ये भवनवासिनिकाय हैं ।

किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये व्यन्तरनिकाय हैं ।

---

१ श्वेताम्बर सम्प्रदाय में बारह कल्प हैं, पर दिगम्बर सम्प्रदाय सोलह कल्प मानता है, उनमें ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र और शतार नाम के चार कल्प अधिक हैं । जो क्रमश छठे, आठवें, नववें और ग्यारहवें नंबर पर आते हैं । दिगम्बरीय सूत्रपाठ के लिए देखो सूत्रों का तुलनात्मक परिशिष्ट ।

सूर्य, चन्द्र तथा ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारा ये ज्योतिष्कनिकाय हैं।

वे मनुष्यलोक में मेरु की चारों ओर प्रदक्षिणा करने वाले तथा नित्य गतिशील हैं।

काल का विभाग उन– चरज्योतिष्कों के द्वारा किया हुआ है।

ज्योतिष्क मनुष्यलोक के बाहर स्थिर होते हैं।

चतुर्थ निकायवाले वैमानिक देव हैं।

वे कल्पोपपन्न और कल्पातीत रूप हैं।

और ऊपर ऊपर रहते हैं।

सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत तथा नव ग्रैवेयक और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्ध में उनका निवास है।

दशविध भवनपति

दसो प्रकार के भवनपति जम्बूद्वीपगत सुमेरु पर्वत के नीचे, उसके दक्षिण और उत्तर भाग मे तिरछे अनेक कोटाकोटि लक्ष योजन तक रहते हैं। असुरकुमार वहुत करके आवासों मे और कभी भवनो मे वसते हैं, तथा नागकुमार आदि सव प्राय: भवनो मे ही वसते हैं। आवास रत्नप्रभा के पृथ्वीपिंड मे से ऊपर नीचे के एक एक हजार योजन छोड़कर वीच के एक लाख अठहत्तर हजार योजन परिमाण भाग मे सव जगह है, पर भवन तो रत्नप्रभा के नीचे नव्वे हजार योजन परिमाण भाग में ही होते हैं। आवास वड़े मण्डप जैसे होते है और भवन नगर-

सदृश। भवन बाहर से गोल भीतर से समचतुष्कोण और तले में पुष्करकर्णिका जैसे होते हैं।

सभी भवनपति, कुमार इसलिए कहे जाते हैं कि वे कुमार की तरह देखने में मनोहर तथा सुकुमार हैं और मृदु व मधुर गतिवाले तथा क्रीड़ाशील हैं। दसों प्रकार के भवनपतियों की चिह्नादि स्वरूपसम्पत्ति जन्म से ही अपनी अपनी जाति में जुदा जुदा है। जैसे– असुरकुमारों के मुकुट में चूडामणि का चिह्न होता है। नागकुमारो के नाग का, विद्युत्कुमारों के वज्र का, सुपर्णकुमारो के गरुड़ का, अग्निकुमारों के घट का, वातकुमारों के अश्व का, स्तनित-कुमारों के वर्धमान– शरावसंपुट (शरावयुगल) का, उदधि-कुमारो के मकर का, द्वीपकुमारों के सिंह का और दिक्कुमारो के हस्ति का चिह्न होता है। नागकुमार आदि सभी के चिह्न उनके आभरण मे होते हैं। सभी के वस्त्र, शस्त्र, भूषण आदि विविध होते हैं। ११।

व्यन्तरों के भेद-प्रभेद

सभी व्यन्तर देव ऊर्ध्व, मध्य और अधः—तीनो लोको मे भवन और आवासो मे वसते हैं। वे अपनी इच्छा से या दूसरों की प्रेरणा से भिन्न भिन्न जगह जाया करते हैं। उनमे से कुछ तो मनुष्यों की भी सेवा करते हैं। वे विविध प्रकार के पहाड़ और गुफाओ के अन्तरो में तथा वनो के अन्तरो मे वसने के कारण व्यन्तर कहलाते हैं। इनमें से किन्नर नामक व्यन्तर के दस प्रकार हैं, जैसे– किन्नर, किंपुरुष,

---

१ सग्रहणी में उदधिकुमारों के अश्व का और वातकुमारों के मकर का चिह्न लिखा है, गा० २६।

किंपुरुषोत्तम, किन्नरोत्तम, हृदयंगम, रूपशाली, अनिन्दित, मनोरम, रतिप्रिय और रतिश्रेष्ठ। किंपुरुष नामक व्यन्तर के दस प्रकार हैं, जैसे– पुरुष, सत्पुरुष, महापुरुष, पुरुषवृषभ, पुरुषोत्तम, अतिपुरुष, मरुदेव, मरुत, मेरुप्रभ, और यशस्वान्। महोरग के दस प्रकार ये हैं– भुजग, भोगशाली, महाकाय, अतिकाय, स्कन्धशाली, मनोरम, महावेग, महेष्वक्ष, मेरुकान्त और भास्वान्। गान्धर्व के बारह प्रकार ये हैं– हाहा, हूहू, तुम्बुरव, नारद, ऋषिवादिक, भूतवादिक, कादम्ब, महाकादम्ब, रैवत, विश्वावसु, गीतरति और गीतयश। यक्षोंके तेरह प्रकार ये हैं– पूर्णभद्र, माणिभद्र, श्वेतभद्र, हरिभद्र, सुमनोभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र, सर्वतोभद्र, मनुष्ययक्ष, वनाधिपति, वनाहार, रूपयक्ष और यक्षोत्तम। राक्षसों के सात प्रकार ये हैं– भीम, महाभीम, विघ्न, विनायक, जलराक्षस, राक्षस राक्षस और ब्रह्मराक्षस। भूतोंके नव प्रकार ये हैं– सुरूप, प्रतिरूप, अतिरूप, भूतोत्तम, स्कन्दिक, महास्कन्दिक, महावेग, प्रतिच्छन्न, और आकाशग। पिशाचों के पद्रह भेद ये हैं– कूष्माण्ड, पटक, जोष, आह्नक, काल, महाकाल, चौक्ष, अचौक्ष, तालपिशाच, मुखरपिशाच, अधस्तारक, देह, महाविदेह, तूष्णीक और वनपिशाच।

आठों प्रकारके व्यन्तरों के चिह्न अनुक्रम से अशोक, चम्पक, नाग, तुम्बरु, वट, खट्वाङ्ग[1], सुलस, और कदम्बक हैं। खट्वाङ्ग के सिवाय शेष सब चिह्न वृक्ष जाति के है, सब चिह्न उनके आभूषण आदि में होते हैं। १२।

---

१ तापस का उपकरण विशेष।

मेरु के समतल भूभाग से सातसौ नव्वे योजन की ऊँचाई पर ज्योतिश्चक्र के क्षेत्र का आरम्भ होता है, जो वहाँ से ऊँचाई में एक सौ दस योजन परिमाण है, और तिरछा असंख्यात द्वीप-समुद्र परिमाण है। उसमे दस योजन की ऊँचाई पर अर्थात् उक्त समतल से आठ सौ योजन की ऊँचाई पर सूर्यके विमान हैं, वहाँ से अस्सी योजन की ऊँचाई पर अर्थात् समतल से आठ सौ अस्सी योजन की ऊँचाई पर चन्द्र के विमान हैं, वहाँ से वीस योजन की ऊँचाई तक मे अर्थात् समतल से नव सौ योजन की ऊँचाई तक मे ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारे है। प्रकीर्ण तारे कहने का मतलव यह है कि अन्य कुछ तारे ऐसे भी हैं जो अनियतचारी होनेसे कभी सूर्य, चन्द्र के नीचे भी चलते हैं और कभी ऊपर भी। चन्द्र के ऊपर वीस योजन की ऊँचाई मे पहले चार योजन की ऊँचाई पर नक्षत्र हैं, इसके वाद चार योजन की ऊँचाई पर वुधग्रह, वुध से तीन योजन ऊँचे शुक्र, शुक्र से तीन योजन ऊँचे गुरु, गुरु से तीन योजन ऊँचे मङ्गल और मङ्गल से तीन योजन ऊँचे शनैश्चर है। अनियतचारी तारा जव सूर्य के नीचे चलता है, तव वह सूर्य के नीचे दस योजन प्रमाण ज्योतिष-क्षेत्र मे चलता है। ज्योतिष— प्रकाशमान विमान मे रहने के कारण सूर्य आदि ज्योतिष्क कहलाते है। उन सवके मुकुटो मे प्रभामण्डल का सा उज्वल, सूर्यादि के मण्डल जैसा चिह्न होता है। सूर्य के सूर्यमण्डल का सा, चन्द्र के चन्द्र-मण्डल का सा और तारा के तारामण्डल का सा चिह्न समझना चाहिए। १३।

पञ्चविध ज्योतिष्क

मानुषोत्तर नामक पर्वत तक मनुष्यलोक है, यह वात

पेहले कही जा चुकी है। उस मनुष्यलोक मे जो ज्योतिष्क हैं, वे सदा भ्रमण किया करते हैं। उनका भ्रमण मेरु की चारो ओर होता है। मनुष्यलोक मे कुल सूर्य और चन्द्र एकसौ बत्तीस एकसौ बत्तीस है। जैसे— जम्बूद्वीप मे दो दो, लवणसमुद्र मे चार चार, धातकीखण्ड में बारह बारह, कालोदधि में बयालीस बयालीस और पुष्करार्ध मे बहत्तर बहत्तर सूर्य तथा चन्द्र हैं। एक एक चन्द्र का परिवार अट्ठाईस नक्षत्र, अट्ठासी ग्रह और छयासठ हज़ार नवसौ पचहत्तर कोटाकोटी तारों का है। यद्यपि लोकमर्यादा के स्वभाव से ही ज्योतिष्क विमान सदा ही आपसे आप फिरते रहते हैं, तथापि समृद्धि विशेष प्रकट करने के लिए और आभियोग्य— सेवक नाम कर्म के उदय से क्रीड़ाशील कुछ देव उन विमानो को उठाकर घूमते रहते हैं। आगे के भाग मे सिंहाकृति, दाहिने गजाकृति, पीछे बैलरूपधारी और उत्तर मे अश्वरूपधारी देव विमान के नीचे लग कर भ्रमण किया करते है। १४।

चरज्योतिष्क

मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास आदि, अतीत, वर्त्तमान आदि, तथा संख्येय असख्येय, आदि रूप से अनेक प्रकार का कालव्यवहार मनुष्यलोक में ही होता है, उसके बाहर नहीं। मनुष्यलोक के बाहर अगर कोई कालव्यवहार करनेवाला हो और ऐसा व्यवहार करे तो भी वह मनुष्यलोक प्रसिद्ध व्यवहार के अनुसार ही, क्योंकि व्यावहारिक कालविभाग का मुख्य आधार नियत क्रियामात्र है। ऐसी क्रिया

कालविभाग

---

१ देखो अ० ३, सू० १४।

सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति ही है। गति भी ज्योतिष्कों की सर्वत्र नहीं पाई जाती, सिर्फ मनुष्यलोक के अंदर वर्तमान ज्योतिष्कों में ही पाई जाती है। इसीलिए माना गया है कि काल का विभाग ज्योतिष्कों की विशिष्ट गति पर ही निर्भर है। दिन, रात, पक्ष आदि जो स्थूल कालविभाग हैं, वे सूर्य आदि ज्योतिष्कों की नियत गति पर अवलम्बित होने के कारण उससे जाने जा सकते हैं, समय आवलिका आदि सूक्ष्म कालविभाग उससे नहीं जाने जा सकते। स्थान विशेष में सूर्य के प्रथम दर्शन से लेकर स्थान विशेष में जो सूर्य का अदर्शन होता है, इस उदय और अस्त के बीच की सूर्य की गतिक्रिया से ही दिन का व्यवहार होता है। इसी तरह सूर्य के अस्त से उदय तक की गतिक्रिया से रात का व्यवहार होता है। दिन और रात का तीसवाँ भाग मुहूर्त है। पंद्रह दिनरात का पक्ष है। दो पक्षों का मास, दो मास की ऋतु, तीन ऋतु का अयन, दो अयन का वर्ष, पाँच वर्षों का युग इत्यादि अनेक प्रकार का लौकिक कालविभाग सूर्य की गतिक्रिया से किया जाता है। जो क्रिया चालू है वह वर्तमान काल, जो होनेवाली है वह अनागत काल और जो हो चुकी है वह अतीत काल। जो काल गिनती मे आ सकता है वह संख्येय, जो गिनती में नहीं आ सकता सिर्फ उपमान द्वारा जाना जा सकता है वह असंख्येय, जैसे— पल्योपम, सागरोपम आदि, और जिसका अन्त नहीं है वह अनन्त। १५।

स्थिरज्योतिष्क

मनुष्यलोक के बाहर के सूर्य आदि ज्योतिष्क विमान स्थिर हैं, क्योंकि उनके विमान स्वभाव से ही एक जगह कायम रहते हैं, इधर उधर भ्रमण नहीं

करते। इसी कारण से उनकी लेश्या और उनका प्रकाश भी एकरूप स्थिर है, अर्थात् वहाँ राहु आदि की छाया न पड़ने से ज्योतिष्कों का स्वाभाविक पीतवर्ण ज्यों का त्यों बना रहता है और उदय, अस्त न होने के कारण उनका लक्ष योजन परिमाण प्रकाश भी एकसा स्थिर ही रहता है। १६।

वैमानिक देव

चतुर्थ निकाय के देव वैमानिक कहलाते हैं। उनका वैमानिक यह नाम पारिभाषिक मात्र है; क्योंकि विमान से चलने वाले तो अन्य निकाय के देव भी हैं। १७।

वैमानिक के कल्पोपपन्न और कल्पातीत ऐसे दो भेद हैं। जो कल्प मे रहते हैं वे कल्पोपपन्न और जो कल्प के ऊपर रहते हैं वे कल्पातीत कहलाते हैं। ये सभी वैमानिक न तो एक ही स्थान में है और न तिरछे हैं किन्तु एक दूसरे के ऊपर-ऊपर वर्तमान हैं। १८, १९।

कल्प के सौधर्म, ऐशान आदि बारह भेद हैं। उनमे से सौधर्म-कल्प ज्योतिश्चक्र के ऊपर असख्यात योजन चढने के बाद मेरु के दक्षिणभाग से उपलक्षित आकाशप्रदेश में स्थित है। उसके बहुत ऊपर किन्तु उत्तर की ओर ऐशान कल्प है। सौधर्म कल्प के बहुत ऊपर समश्रेणि में सानत्कुमार कल्प है, और ऐशान के ऊपर समश्रेणि मे माहेन्द्र कल्प है। इन दोनो के मध्य मे किन्तु ऊपर ब्रह्मलोक कल्प है। इसके ऊपर समश्रेणि में क्रम से लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार ये तीन कल्प एक दूसरे के ऊपर है। इनके ऊपर सौधर्म और ऐशान की तरह आनत, प्राणत दो कल्प हैं। इनके ऊपर समश्रेणि मे सानत्कुमार और माहेन्द्र की तरह आरण और अच्युत कल्प हैं। इन कल्पो के ऊपर अनु-

क्रम से नव विमान ऊपर ऊपर हैं, जो पुरुषाकृति लोक के ग्रीवा-स्थानीय भाग मे होने के कारण ग्रैवेयक कहलाते हैं। इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ये पाँच विमान ऊपर ऊपर हैं जो सबसे उत्तर-प्रधान होने के कारण अनुत्तर कहलाते हैं।

सौधर्म से अच्युत तक के देव कल्पोपपन्न और इनके ऊपर के सभी देव कल्पातीत हैं। कल्पोपपन्न मे स्वामि-सेवक भाव है, पर कल्पातीत मे नहीं, वे तो सभी इन्द्रवत् होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं। मनुष्यलोक में किसी निमित्त से जाना हुआ, तो कल्पोपपन्न देव ही जाते आते हैं, कल्पातीत अपने स्थान को छोड़कर कहीं नहीं जाते। २०।

कुछ बातों में देवों की उत्तरोत्तर अधिकता और हीनता—

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतो-ऽधिकाः। २१।

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः। २२।

स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिविषयमें ऊपर ऊपर के देव अधिक हैं।

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान में ऊपर-ऊपर के देव हीन हैं।

नीचे नीचे के देवों से ऊपर ऊपर के देव सात बातो मे अधिक होते हैं, जैसे—

१ स्थिति इसका विशेष खुलासा आगे तीसवें सूत्र से लेकर त्रेपनवें सूत्र तक है।

निग्रह, अनुग्रह करने का सामर्थ्य, अणिमा महिमा आदि सिद्धि का सामर्थ्य और आक्रमण करके दूसरो से काम करवाने का वल– यह सव प्रभाव के अन्तर्गत हैं। ऐसा प्रभाव यद्यपि ऊपर ऊपर के देवो मे अधिक होता है, तथापि उनमे उत्तरोत्तर अभिमान व सक्लेश कम होने से वे अपने प्रभाव का उपयोग कम ही करते हैं।

२ प्रभाव

इन्द्रियों के द्वारा उनके ग्राह्यविषयों का अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र और आभरण आदि की दीप्ति ही द्युति है। उक्त सुख और द्युति ऊपर-ऊपर के देवो मे अधिक होने के कारण उत्तरोत्तर क्षेत्रस्वभाव-जन्य शुभ पुद्गलपरिणाम की प्रकृष्टता ही है।

३,४ सुख और द्युति

लेश्या का नियम अगले तेवीसवें सूत्र में स्पष्ट है। यहाँ इतना जान लेना चाहिए कि जिन देवो की लेश्या समान है, उनमे भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देवो की लेश्या संक्लेश की कमी के कारण उत्तरोत्तर विशुद्ध, विशुद्धतर ही होती है।

५ लेश्या की विशुद्धि

दूर से इष्ट विषयो को ग्रहण करने का जो इन्द्रियो का सामर्थ्य, वह भी उत्तरोत्तर गुण की वृद्धि और सक्लेश की न्यूनता के कारण ऊपर-ऊपर के देवों मे अधिक-अधिक है।

६ इन्द्रियविषय

अवधिज्ञान का सामर्थ्य भी ऊपर-ऊपर के देवो मे ज्यादा ही होता है। पहले, दूसरे स्वर्ग के देव अधोभाग मे रत्नप्रभा तक, तिरछे भाग मे असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वभाग मे

अपने-अपने भवन तक अवधिज्ञान से जानने का सामर्थ्य रखते हैं। तीसरे, चौथे स्वर्ग के देव अधोभाग में शर्कराप्रभा तक, तिरछे भाग मे असंख्यात लाख योजन तक और ऊर्ध्वभाग में अपने-अपने भवन-तक अवधिज्ञान से देख सकते है, इसी तरह क्रमश. बढ़ते-बढते अन्त मे अनुत्तर-विमानवासी देव सम्पूर्ण लोकनाली को अवधि-ज्ञान से देख सकते है। जिन देवो के अवधिज्ञान का क्षेत्र समान होता है, उनमे भी नीचे की अपेक्षा ऊपर के देव विशुद्ध, विशुद्धतर ज्ञान का सामर्थ्य रखते हैं। २१।

७ अवधिज्ञान का विषय

चार वाते ऐसी है जो नीचे की अपेक्षा ऊपर ऊपर के देवों मे कम-कम पाई जाती हैं, जैसे—

गमनक्रिया की शक्ति और गमनक्रिया मे प्रवृत्ति ये दोनो ही ऊपर ऊपर के देवो मे कम पाई जाती हैं, क्योंकि ऊपर ऊपर के देवों में उत्तरोत्तर महानुभावता और उदासीनता अधिक होने के कारण देशान्तर विषयक क्रीड़ा करने की रति कम-कम होती जाती है। सानत्कुमार आदि के देव जिन की जघन्य स्थिति दो सागरोपम होती है, वे अधोभाग मे सातवे नरक तक और तिरछे असंख्यात हजार कोड़ाकोड़ी योजन पर्यन्त जाने का सामर्थ्य रखते हैं। इसके वाद के जघन्य स्थिति वाले देवो का गतिसामर्थ्य घटते-घटते यहाँ तक घट जाता है कि ऊपर के देव अधिक से अधिक तीसरे नरक तक ही जाने का सामर्थ्य रखते हैं। शक्ति चाहे अधिक हो, पर कोई देव अधोभाग मे तीसरे नरक से आगे न गया है और न जायगा।

१ गति

शरीर का परिमाण पहले, दूसरे स्वर्ग मे सात हाथ का, तीसरे, चौथे स्वर्ग मे छ हाथ का, पॉचवे, छठे स्वर्ग मे चार हाथ का, नववें से वारहवे स्वर्ग तक मे तीन तीन हाथ का, नव ग्रैवेयक में दो हाथ का और अनुत्तरविमान मे एक हाथ का है।

२ शरीर

पहले स्वर्ग मे बत्तीस लाख विमान, दूसरे में अट्ठाईस लाख, तीसरे मे वारह लाख, चौथे मे आठ लाख, पाँचवें मे चार लाख, छठे मे पचास हजार, सातवें मे चालीस हजार, आठवें मे छ हजार, नववें से बारहवे तक में सात सौ सात सौ, अधोवर्ती तीन ग्रैवेयक मे एकसौ ग्यारह, मध्यम तीन ग्रैवेयक में एकसौ सात, ऊर्ध्व तीन ग्रैवेयक मे सौ और अनुत्तर मे सिर्फ पाँच ही विमान का परिग्रह है।

३ परिग्रह

अभिमान का मतलब अहकार से है। स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, विभूति, स्थिति आदि मे अभिमान पैदा होता है। ऐसा अभिमान कषाय की कमी के कारण ऊपर-ऊपर के देवो मे उत्तरोत्तर कम ही होता है।

४ अभिमान

सूत्र मे नहीं कही हुई और भी पाँच बातें देवो के संवन्ध मे ज्ञातव्य हैं– १ उच्छ्वास, २ आहार, ३ वेदना, ४ उपपात और ५ अनुभाव।

ज्यो ज्यो देवो की स्थिति वढ़ती जाती है, त्यो त्यो उच्छ्वास का कालमान भी वढता जाता है, जैसे– दस हजार वर्ष की आयु वाले देवो का एक एक उच्छ्वास सात सात स्तोक परिमाण काल मे होता है। एक पल्योपम की आयु वाले देवो का उच्छ्वास एक दिन के अदर एक ही

१ उच्छ्वास

होता है। सागरोपम की आयु वाले देवों के विषय मे यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की हो उनका एक एक उच्छ्वास उतने उतने पक्ष पर होता है।

आहार के संबन्ध मे यह नियम है कि दस हजार वर्ष की आयु वाले देव एक एक दिन वीच मे छोड़कर आहार लेते हैं। पल्योपम की आयु वाले दिनपृथक्त्व[1] के वाद आहार लेते हैं। सागरोपम के विषय में यह नियम है कि जिनकी आयु जितने सागरोपम की हो वे उतने हजार वर्ष के बाद आहार लेते हैं।

२ आहार

सामान्य रीति से देवों के सात– सुख वेदना ही होती है। कभी असात– दु ख वेदना हो गई तो वह अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहती। सात वेदना भी लगातार छ. महीने तक एक सी रहकर फिर वदल जाती है।

३ वेदना

उपपात का मतलब उत्पत्तिस्थान की योग्यता से है। अन्य–जैनेतरलिङ्गिक मिथ्यात्वी बारहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकते हैं। स्व–जैनलिङ्गिक मिथ्यात्वी ग्रैवेयक तक जा सकते हैं। सम्यग्दृष्टि पहले स्वर्ग से सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त कहीं भी जा सकते हैं। परन्तु चतुर्दशपूर्वी संयत पाँचवें स्वर्ग से नीचे उत्पन्न होते ही नहीं।

४ उपपात

अनुभाव का मतलब लोकस्वभाव– जगद्धर्म से है, इसी की वदौलत सब विमान तथा सिद्धशिला आदि आकाश मे निराधार अवस्थित हैं।

५ अनुभाव

---

१ दो की संख्या से लेकर नव की संख्या तक पृथक्त्व का व्यवहार होता है।

भगवान् अरिहन्त के जन्माभिषेक आदि प्रसंगो पर देवो के आसन का कम्पित होना यह भी लोकानुभाव का ही कार्य है। आसनकप के अनन्तर अवधिज्ञान के उपयोग से तीर्थङ्कर की महिमा को जानकर कुछ देव निकट आकर उनकी स्तुति, वन्दना, उपासना आदि से आत्मकल्याण करते हैं। कुछ देव अपने ही स्थान मे रहकर प्रत्युत्थान, अञ्जलिकर्म, प्रणिपात, नमस्कार, उपहार आदि से तीर्थङ्कर की अर्चा करते हैं। यह भी सब लोकानुभाव का ही कार्य है। २२।

वैमानिकों में लेश्या का नियम–

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु । २३ ।

दो, तीन और शेष स्वर्गों में क्रम से पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले देव हैं।

पहले दो स्वर्गों के देवो मे पीत– तेजो लेश्या होती है। तीसरे से पाँचवें स्वर्ग तक के देवो मे पद्मलेश्या और छठे से सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त के देवो मे शुक्ललेश्या होती है। यह नियम शरीरवर्णरूप द्रव्यलेश्या का है, क्योंकि अध्यवसाय रूप भावलेश्या तो सब देवो मे छहों पाई जाती हैं। २३।

कल्पों की परिगणना–

प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः । २४ ।

ग्रैवेयकों से पहले कल्प हैं।

जिनमे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि रूप से देवो के विभाग की कल्पना है– वे कल्प। ऐसे कल्प ग्रैवेयक के पहले तक

अर्थात् सौधर्म से अच्युत पर्यन्त बारह हैं। ग्रैवेयक से लेकर सभी कल्पातीत हैं, क्योकि उनमे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि रूप से देवो की विभाग कल्पना नहीं है, अर्थात् वे सभी बराबरी वाले होने से अहमिन्द्र कहलाते हैं। २४।

लोकान्तिक देवों का वर्णन—

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः । २५ ।

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाध-मरुतोऽरिष्टाश्च । २६ ।

ब्रह्मलोक ही लोकान्तिक देवों का आलय—निवासस्थान है।

सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, मरुत और अरिष्ट ये लोकान्तिक हैं।

लोकान्तिक देव जो विषयरति से रहित होने के कारण देवर्षि कहलाते हैं, तथा आपस मे छोटे बड़े न होने के कारण सभी

---

१. रायल एशियाटिक सोसायटी की मुद्रित पुस्तक में 'अरिष्टाश्च' इस अंश को निश्चित रूप से सूत्र में न रख कर कोष्ठक में रखा है परन्तु स० भ० की मुद्रित पुस्तक में यही अंश 'रिष्टाश्च' पाठ रूप से ही निश्चित रूप में छपा है। यद्यपि श्वेताम्बर संप्रदाय के सूत्रपाठ में 'ऽरिष्टाश्च' ऐसा पाठ है, तथापि इस सूत्र के भाष्य की टीका में "मध्ये रिष्टविमानप्रस्तारवर्तिभिः" इत्यादि उल्लेख है, जिससे 'अरिष्ट' के स्थान में 'रिष्ट' होने का भी तर्क हो सकता है। परन्तु दिगम्बर संप्रदाय में इस सूत्र का अन्तिम भाग 'ऽव्याबाधारिष्टाश्च' ऐसा मिलता है। इसमें बहुत साफ तौर पर 'अरिष्ट' नाम ही उल्लिखित पाया है, 'रिष्ट' नहीं, [illegible] 'मरुत' का भी विधान नहीं है।

स्वतन्त्र हैं और जो तीर्थङ्कर के निष्क्रमण–गृहत्याग के समय उनके सामने उपस्थित होकर "बुज्झह बुज्झह" शब्द द्वारा प्रतिबोध करने का अपना आचार पालन करते है, वे ब्रह्मलोक नामक पाँचवें स्वर्ग के ही चारो ओर दिशाओ, विदिशाओ मे रहते हैं, दूसरी जगह कहीं नही रहते । वे सभी वहाँ से च्युत होकर मनुष्य जन्म लेकर मोक्ष पाते हैं ।

हरएक दिशा, हरएक विदिशा और मध्यभाग में एक एक जाति बसने के कारण उनकी कुल नव जातियाँ हैं, जैसे–पूर्वोत्तर अर्थात् ईशानकोण मे सारस्वत, पूर्व मे आदित्य, पूर्वदक्षिण–अग्निकोण मे वह्नि, दक्षिण में अरुण, दक्षिणपश्चिम–नैऋर्त्यकोण मे गर्दतोय, पश्चिम मे तुषित, पश्चिमोत्तर–वायव्यकोण मे अव्याबाध, उत्तर मे मरुत और बीच में अरिष्ट नामक लोकान्तिक रहते है। इनके सारस्वत आदि नाम विमान के नाम के आधार पर ही प्रसिद्ध हैं । यहाँ इतनी विशेषता और भी जान लेनी चाहिए कि इन दो सूत्रों के मूलभाष्य में लोकान्तिक देवों के आठ ही भेद बतलाये गए हैं, नव नहीं । दिगम्बर संप्रदाय के सूत्र पाठ से भी अष्ट संख्या की ही उपलब्धि होती है, उनमें 'मरुत' का उल्लेख नहीं । हाँ, स्थानाङ्ग आदि सूत्रों मे नव भेद जरूर पाये जाते हैं । उत्तमचरित्र मे तो दश भेदो का भी उल्लेख मिलता है । इससे ऐसा मालूम होता है कि यहाँ मूलसूत्र में 'मरुतो' पाठ पीछे से प्रक्षिप्त हुआ है । २५, २६ ।

अनुत्तर विमान के देवों का विशेषत्व–

विजयादिषु द्विचरमाः । २७ ।

विजयादि में देव, द्विचरम— दो बार मनुष्यजन्म धारण करके सिद्धत्व को प्राप्त करने वाले होते हैं।

अनुत्तरविमान के पाँच प्रकार हैं। उनमें से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार विमानों मे जो देव रहते हैं, वे द्विचरम होते हैं, अर्थात् वे अधिक से अधिक दो बार मनुष्य जन्म धारण करके मोक्ष जाते हैं। इसका क्रम इस प्रकार है— चार अनुत्तरविमान से च्युत होने के बाद मनुष्यजन्म, उस जन्म के बाद अनुत्तरविमान मे देवजन्म, वहाँ से फिर मनुष्य जन्म और उसी जन्म से मोक्ष। परन्तु सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देव सिर्फ एक ही बार मनुष्य जन्म लेते है, वे उस विमान से च्युत होने के बाद मनुष्यत्व धारण करके उसी जन्म मे मोक्ष लाभ करते हैं। अनुत्तर विमानवासी के सिवाय अन्य सब प्रकार के देवों के लिए कोई नियम नहीं है, क्योंकि कोई तो एक ही बार मनुष्यजन्म लेकर मोक्ष जाते हैं, कोई दो बार, कोई तीन बार, कोई चार बार और कोई उससे भी अधिक बार जन्म धारण करते हैं। २७।

तिर्यञ्चों का स्वरूप—

औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः। २८।

औपपातिक और मनुष्य से जो शेष हैं, वे तिर्यञ्चयोनि वाले हैं।

तिर्यञ्च कौन कहलाते है? इस प्रश्न का उत्तर इस सूत्र में दिया है। औपपातिक— देव तथा नारक, और मनुष्य को छोड़कर बाकी के सभी संसारी जीव तिर्यञ्च कहे जाते हैं। देव, नारक

और मनुष्य सिर्फ पञ्चेन्द्रिय होते है, पर तिर्यञ्च में एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक सब प्रकार के जीव आ जाते हैं। देव, नारक और मनुष्य जैसे लोक के खास खास भागों मे ही पाये जाते है, वैसे तिर्यञ्च नहीं पाये जाते हैं, क्योंकि उनका स्थान लोक के सब भागो मे है। २८।

अधिकार सूत्र–

स्थितिः। २९।

आयु वर्णन की जाती है।

मनुष्य और तिर्यञ्च की जघन्य और उत्कृष्ट आयु बतलाई गई है। देव और नारक की बतलाना बाकी है, वही इस अध्याय की समाप्ति तक बतलाई जाती है। २९।

भवनपतिनिकाय की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन–

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम्। ३०।
शेषाणां पादोने। ३१।
असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च। ३२।

भवनों में दक्षिणार्ध के इन्द्रों की स्थिति डेढ़ पल्योपम की है।

शेष इन्द्रों की स्थिति पौने दो पल्योपम की है।

दो असुरेन्द्रों की स्थिति क्रम से सागरोपम और कुछ अधिक सागरोपम की है।

यहाँ भवनपतिनिकाय की जो स्थिति बतलाई गई है, वह उत्कृष्ट समझनी चाहिए, क्योंकि जघन्यस्थिति का वर्णन आगे पैंतालीसवें सूत्र मे आने वाला है। भवनपतिनिकाय के असुरकुमार, नागकुमार आदि दस भेद पहले कहे जा चुके हैं। हरएक भेद

के दक्षिणार्ध के अधिपति और उत्तरार्ध के अधिपति रूप से दो दो इन्द्र हैं; जिनका वर्णन पहले ही कर दिया गया है। उनमे से दक्षिण और उत्तर के दो असुरेन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है– दक्षिणार्ध के अधिपति चमर नामक असुरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम की और उत्तरार्ध के अधिपति बलि नामक असुरेन्द्र की स्थिति सागरोपम से कुछ अधिक है। असुरकुमार को छोड़कर बाकी के नागकुमार आदि नव प्रकार के भवनपति के जो दक्षिणार्ध के धरण आदि नव इन्द्र हैं, उनकी स्थिति डेढ़ पल्योपम की और जो उत्तरार्ध के भूतानन्द आदि नव इन्द्र हैं, उनकी स्थिति पौने दो पल्योपम की है। ३०– ३२।

वैमानिकों की उत्कृष्ट स्थिति–

सौधर्मादिषु यथाक्रमम्। ३३।

सागरोपमे। ३४।

अधिके च। ३५।

सप्त सानत्कुमारे। ३६।

विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च। ३७।

आरणाच्युताद् ऊर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु, विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च। ३८।

सौधर्म आदि देवलोकों में निम्नोक्त क्रम से स्थिति जानना।

सौधर्म में दो सागरोपम की स्थिति है।

ऐशान में कुछ अधिक दो सागरोपम की स्थिति है।

सानत्कुमार में सात सागरोपम की स्थिति है।

माहेन्द्र से आरणाच्युत तक क्रम से कुछ अधिक सात सागरोपम, तीन से अधिक सात सागरोपम, सात से अधिक सात सागरोपम, दस से अधिक सात सागरोपम, ग्यारह से अधिक सात सागरोपम, तेरह से अधिक सात सागरोपम, पन्द्रह से अधिक सात सागरोप प्रमाण स्थिति है।

आरणाच्युत के ऊपर नव ग्रैवेयक, चार विजयादि और सर्वार्थसिद्ध में अनुक्रम से एक एक सागरोपम अधिक स्थिति है।

यहाँ वैमानिक देवों की जो स्थिति क्रम से बतलाई गई है वह उत्कृष्ट है, उनकी जघन्य स्थिति आगे बतलाई जाएगी। पहले स्वर्ग मे दो सागरोपम की, दूसरे मे दो सागरोपम से कुछ अधिक, तीसरे मे सात सागरोपम की, चौथे में सात सागरोपम से कुछ अधिक, पाँचवें में दस सागरोपम की, छठे मे चौदह सागरोपम की, सातवे मे सत्रह सागरोपम की, आठवें मे अठारह सागरोपम की, नववें-दसवे मे बीस सागरोपम की और ग्यारहवें-बारहवें स्वर्ग में बाईस सागरोपम की स्थिति है। नव ग्रैवेयक में से पहले ग्रैवेयक मे तेईस सागरोपम की, दूसरे मे चौबीस सागरोपम की, इसी तरह एक एक बढते बढ़ते नववें ग्रैवेयक में इकतीस सागरोपम की स्थिति है। पहले चार अनुत्तर विमान मे बत्तीस[1] और सर्वार्थसिद्ध में तेतीस सागरोपम की स्थिति है। ३३–३८।

---

१ दिगम्बरीय टीकाओं में और कहीं कहीं श्वेताम्बर ग्रन्थों मे भी विजयादि चार विमानों में उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की मानी है। देखो इसी अध्याय का सू० ४२ का भाष्य। सग्रहणी में भी ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति कही है।

वैमानिकों की जघन्य स्थिति–

अपरा पल्योपममधिकं च । ३९ ।

सागरोपमे । ४० ।

अधिके च । ४१ ।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा । ४२ ।

अपरा–जघन्य स्थिति पल्योपम और कुछ अधिक पल्योपम की है ।

दो सागरोपम की है ।

कुछ अधिक दो सागरोपम की है ।

आगे आगे पहली पहली परा– उत्कृष्ट स्थिति अनन्तर अनन्तर की जघन्य स्थिति है ।

सौधर्मादि की जघन्य स्थिति अनुक्रम से इस प्रकार है– पहले स्वर्ग मे एक पल्योपम की, दूसरे मे पल्योपम से कुछ अधिक, तीसरे मे दो सागरोपम की, चौथे मे दो सागरोपम से कुछ अधिक स्थिति है । पाँचवे से आगे आगे सभी देवलोको मे जघन्य स्थिति वही है जो अपनी अपनी अपेक्षा पूर्व पूर्व के देवलोको मे उत्कृष्ट स्थिति हो । इस नियम के अनुसार चौथे देवलोक की कुछ अधिक सात सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति ही पाँचवें देवलोक मे जघन्य स्थिति है, पाँचवें की दस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति छठे मे जघन्य स्थिति है, छठे की चौदह सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति सातवें मे जघन्य स्थिति है, सातवे की सत्रह सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति आठवें मे जघन्य है, आठवे की अट्ठारह सागरो-

पम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति नववें-दसवे मे जघन्य, नववे-दसवे की वीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति ग्यारहवे-वारहवे की जघन्य, ग्यारहवे-वारहवे की वाईस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति प्रथम ग्रैवेयक की जघन्य स्थिति है, इसी तरह नीचे नीचे के ग्रैवेयक की उत्कृष्ट स्थिति को ऊपर ऊपर के ग्रैवेयक की जघन्य स्थिति समझना। इस क्रम से नववें ग्रैवेयक की जघन्य स्थिति तीस सागरोपम की होती है। चार अनुत्तरविमान की जघन्य स्थिति इकतीस सागरोपम की है। सर्वार्थसिद्ध मे उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति में अन्तर नहीं है अर्थात् तेतीस सागरोपम की ही स्थिति है। ३९–४२।

नारकों की जघन्य स्थिति–

नारकाणां च द्वितीयादिषु । ४३ ।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् । ४४ ।

दूसरी आदि भूमिओं में नारकों की पूर्व पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति ही अनन्तर अनन्तर की जघन्य स्थिति है।

पहली भूमि में जघन्य स्थिति दस हज़ार वर्ष की है।

जैसा वयालीसवें सूत्र में देवो की जघन्य स्थिति का क्रम है, वैसा ही क्रम दूसरी से लेकर सातवीं भूमि तक के नारको की जघन्य स्थिति का है। इस नियम के अनुसार पहली भूमि की एक सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति दूसरी में जघन्य स्थिति है। दूसरी की तीन सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति तीसरी मे जघन्य। तीसरी की सात सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति चौथी में जघन्य। चौथी की दस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति पाँचवीं मे जघन्य। पाँचवीं की सत्रह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति छठी मे जघन्य। छठी की वाईस

सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति सातवीं मे जघन्य है। पहली भूमि मे जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष प्रमाण है। ४३, ४४।

भवनपतिओं की जघन्य स्थिति–

भवनेषु च। ४५।

भवनों में भी दस हजार वर्प प्रमाण ही जघन्य स्थिति है।

व्यन्तरों की स्थिति–

व्यन्तराणां च। ४६।

परा पल्योपमम्। ४७।

व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति दस हज़ार वर्प की है।

और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम प्रमाण है। ४६,४७।

ज्योतिष्कों की स्थिति–

ज्योतिष्काणामधिकम्। ४८।

ग्रहाणामेकम्। ४९।

नक्षत्राणामर्धम्। ५०।

तारकाणां चतुर्भागः। ५१।

जघन्या त्वष्टभागः। ५२।

चतुर्भागः शेपाणाम्। ५३।

ज्योतिष्क अर्थात् सूर्य, चन्द्र की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक पल्योपम की है।

ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की है।

नक्षत्रों की उत्कृष्ट स्थिति अर्ध पल्योपम की है।

तारों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चौथा भाग है।

और जघन्य स्थिति तो पल्योपम का आठवाँ भाग है।

शेष अर्थात् तारों को छोड कर बाकी के ज्योतिष्कों अर्थात् ग्रहों, तथा नक्षत्रों की जघन्य स्थिति पल्योपम का चौथा भाग है। ४८–५३।

पाँचवाँ अध्याय ।

दूसरे से चौथे अध्याय तक जीवतत्त्व का निरूपण हो चुका है। इस अध्याय मे अजीवतत्त्व का निरूपण है।

अजीव के भेद–

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः । १ ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये चार अजीवकाय हैं।

निरूपणपद्धति के नियमानुसार पहले लक्षण और पीछे भेदों का कथन करना चाहिए, तो भी यहाँ सूत्रकार ने अजीवतत्त्व का लक्षण न बतलाकर उसके भेदों का जो कथन किया है, उसका अभिप्राय यह है कि– अजीव का लक्षण जीव के लक्षण से ही ज्ञात हो जाता है, उसको अलग कहने की खास आवश्यकता नहीं। क्योंकि अ + जीव, जो जीव नहीं है वह अजीव। उपयोग यह जीव का लक्षण है, जिसमें उपयोग न हो वह तत्त्व अजीव, अर्थात् उपयोग का अभाव ही अजीव का लक्षण फलित होता है।

अजीव यह जीव का विरोधी भावात्मक तत्त्व है, वह केवल अभावात्मक नहीं है।

धर्म आदि चार अजीव तत्त्वों को अस्तिकाय कहने का अभिप्राय यह है कि– वे तत्त्व सिर्फ एक प्रदेशरूप या एक अवयवरूप नहीं हैं, किन्तु प्रचय अर्थात् समूहरूप हैं। धर्म, अधर्म और आकाश

ये तीन तो प्रदेशप्रचय रूप हैं, और पुद्गल अवयवरूप तथा अवयवप्रचय रूप है।

अजीवतत्त्व के भेदो मे काल की गणना नहीं की है, इसका कारण यह है कि काल के तत्त्वरूप होने मे मतभेद है। जो आचार्य उसे तत्त्व मानते हैं वे भी सिर्फ प्रदेशात्मक मानते हैं, प्रदेशप्रचयरूप नही मानते, इसलिए उनके मत से अस्तिकायो के साथ उसका परिगणन युक्त नहीं है, और जो आचार्य काल को स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानते, उनके मत से तो तत्त्व के भेदो मे काल का परिगणन प्राप्त ही नहीं है।

प्र०– क्या उक्त चार अजीवतत्त्व दर्शनान्तर मे भी मान्य हैं?

उ०– नहीं, आकाश और पुद्गल ये दो तत्त्व तो वैशेषिक, न्याय, सांख्य आदि दर्शनों मे भी माने गए हैं, परन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ये दो तत्त्व जैनदर्शन के सिवाय अन्य किसी भी दर्शन में नहीं माने गए हैं। जिस तत्त्व को जैनदर्शन में आकाशास्तिकाय कहते हैं उसको जैनेतर दर्शनो में आकाश कहते हैं। पुद्गलास्तिकाय यह संज्ञा भी सिर्फ जैनशास्त्र मे प्रसिद्ध है। जैनेतरशास्त्रो मे पुद्गलस्थानीय तत्त्व का प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से व्यवहार किया गया है। १।

• मूलद्रव्यों का कथन–

द्रव्याणि[1], जीवाश्च । २ ।

[1] श्वेताम्बरीय परम्परा मे यह एक ही सूत्र माना जाता है, और दिगम्बरीय परम्परा मे "द्रव्याणि" "जीवाश्च" ऐसे दो सूत्र अलग अलग पाये जाते हैं।

धर्मास्तिकाय आदि उक्त चार अजीवतत्त्व और जीव ये पाँच द्रव्य हैं।

जैनदृष्टि के अनुसार यह जगत् सिर्फ पर्याय अर्थात् परिवर्त्तन रूप नहीं है, किन्तु परिवर्त्तनशील होने पर भी वह अनादि-निधन है। इस जगत् मे जैनमत के अनुसार अस्तिकाय रूप मूलद्रव्य पाँच है, वे ही इस सूत्र में वतलाये गए हैं।

इस सूत्र से लेकर अगले कुछ सूत्रों मे द्रव्यों के सामान्य तथा विशेष धर्म का वर्णन करके उनका पारस्परिक साधर्म्य-वैधर्म्य वतलाया है। साधर्म्य का अर्थ है समानधर्म– समानता और वैधर्म्य का अर्थ है विरुद्धधर्म– असमानता। इस सूत्र मे जो द्रव्यत्व का विधान है वह धर्मास्तिकाय आदि पाँचो पदार्थों का द्रव्यरूप साधर्म्य है। अगर वह वैधर्म्य हो सकता है तो गुण या पर्याय का, क्योंकि गुण और पर्याय स्वयं द्रव्य नहीं हैं। २।

मूलद्रव्यों का साधर्म्य और वैधर्म्य–

नित्यावस्थितान्यरूपाणि । ३ ।

रूपिणः पुद्गलाः । ४ ।

आऽऽकाशादेकद्रव्याणि[1] । ५ ।

निष्क्रियाणि च । ६ ।

उक्त द्रव्य नित्य हैं, स्थिर हैं और अरूपी हैं।

पुद्गल रूपी अर्थात् मूर्त हैं।

---

१ भाष्य मे 'आ आकाशात्' ऐसा सन्धिरहित पाठ है, दिगम्बरीय परंपरा में तो सूत्र मे ही वैसा सन्धिरहित पाठ है।

उक्त पाँच में से आकाश तक के द्रव्य एक एक हैं।
और निष्क्रिय हैं।

धर्मास्तिकाय आदि पाँचो द्रव्य नित्य है अर्थात् वे अपने अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से कदापि च्युत नहीं होते। वे पाँचो स्थिर भी हैं, क्योंकि उनकी संख्या मे कभी न्यूनाधिकता नहीं होती, परंतु अरूपी तो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये चार ही द्रव्य है। पुद्गलद्रव्य अरूपी नहीं है। सारांश यह है कि– नित्यत्व तथा अवस्थितत्व ये दोनो पाँचों द्रव्यो के साधर्म्य हैं, परतु अरूपित्व पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्यो का साधर्म्य है।

प्र०– नित्यत्व और अवस्थितत्व के अर्थ मे क्या अन्तर है?

उ०– अपने अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से च्युत न होना यह नित्यत्व है, और अपने अपने स्वरूप मे क़ायम रहते हुए भी दूसरे तत्त्व के स्वरूप को प्राप्त न करना यह अवस्थितत्व है; जैसे जीवतत्त्व अपने द्रव्यात्मक सामान्य रूप और चेतनात्मक विशेष रूप को कभी नहीं छोड़ता, यह उसका नित्यत्व है, और उक्त स्वरूप को न छोडता हुआ भी वह अजीव तत्त्व के स्वरूप को प्राप्त नहीं करता यह उसका अवस्थितत्व है। सारांश यह है कि– स्व-स्वरूप को न त्यागना और परस्वरूप को प्राप्त न करना ये दो अश– धर्म सभी द्रव्यो मे समान है। उनमे से पहला अंश नित्यत्व और दूसरा अंश अवस्थितत्व कहलाता है। द्रव्यो के नित्यत्वकथन से जगत की शाश्वतता सूचित की जाती है और अवस्थितत्वकथन से उनका पारस्परिक असांकर्य सूचित किया जाता है, अर्थात् वे सभी

द्रव्य परिवर्त्तनशील होने पर भी अपने स्वरूप में सदा स्थित हैं और एक साथ रहते हुए भी एक दूसरे के स्वभाव–लक्षण से अस्पृष्ट हैं। अतएव यह जगत् अनादि-निधन भी है और इसके मूल तत्त्वों की संख्या भी एक सी रहती है।

प्र०– धर्मास्तिकाय आदि अजीव भी जब द्रव्य है और तत्त्व भी हैं तब उनका कोई न कोई स्वरूप अवश्य मानना पड़ेगा. फिर उन्हे अरूपी कैसे कहा ?

उ०– यहाँ अरूपित्व का मतलब स्वरूपनिषेध से नहीं है, स्वरूप तो धर्मास्तिकाय आदि तत्त्वों का भी अवश्य होता है, अगर उनका कोई स्वरूप ही न हो तब तो वे अश्वशृङ्ग की तरह वस्तु ही सिद्ध न हो। यहाँ अरूपित्व के कथन से रूप– मूर्ति का निषेध करना है। रूप का अर्थ यहाँ मूर्ति है। रूप आदि संस्थान परिणाम को अथवा रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के समुदाय को मूर्ति कहते हैं। ऐसी मूर्ति का धर्मास्तिकाय आदि चार तत्त्वों में अभाव होता है। यही बात 'अरूपी' पद से कही गई है। ३।

रूप, मूर्तत्व, मूर्ति ये सभी शब्द समानार्थक है। रूप, रस आदि जो गुण इन्द्रियो से ग्रहण किये जा सकते हैं, वे इन्द्रियग्राह्य गुण ही मूर्ति कहे जाते है। पुद्गलो के गुण इन्द्रियग्राह्य हैं, इसलिए पुद्गल ही मूर्त– रूपी है। पुद्गल के सिवाय अन्य कोई द्रव्य मूर्त नहीं हैं, क्योकि वे इन्द्रियों से गृहीत नहीं होते। अतएव रूपित्व यह पुद्गलभिन्न धर्मास्तिकाय आदि चार तत्त्वो का वैधर्म्य है।

यद्यपि अतीन्द्रिय होने से परमाणु आदि अनेक सूक्ष्म द्रव्य और उनके गुण इन्द्रियग्राह्य नहीं है, तथापि विशिष्ट परिणामरूप अवस्था विशेष मे वे ही इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण होने की योग्यता

रखते है, इसी कारण वे अतीन्द्रिय होते हुए भी रूपी-मूर्त ही है। अरूपी कहे जाने वाले धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य तो इन्द्रिय के विषय बनने की योग्यता ही नहीं रखते। यही अतीन्द्रिय पुद्गल और अतीन्द्रिय धर्मास्तिकायादि द्रव्यो मे अन्तर है।४।

उक्त पॉच द्रव्यों मे से आकाश पर्यंत के तीन द्रव्य अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय एक एक व्यक्ति रूप है। इनकी दो या दो से अधिक व्यक्तियाॅ नहीं हैं।

इसी तरह वे तीनो ही निष्क्रिय-क्रियारहित हैं। एक व्यक्तित्व और निष्क्रियत्व ये दोनों उक्त तीनो द्रव्यो का साधर्म्य और जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय का वैधर्म्य है। जीव और पुद्गल द्रव्य की अनेक व्यक्तियाँ हैं और वे क्रियाशील भी है। जैनदर्शन वेदान्त की तरह आत्मद्रव्य को एक व्यक्तिरूप नहीं मानता और सांख्य, वैशेषिक आदि सभी वैदिक दर्शनो की तरह उसे निष्क्रिय भी नहीं मानता।

प्र०-जैनमत के अनुसार सभी द्रव्यो मे पर्यायपरिणमन-उत्पाद, व्यय माना जाता है। यह परिणमन क्रियाशील द्रव्यो मे हो सकता है। धर्मास्तिकाय आदि तीन द्रव्यो को अगर निष्क्रिय माना जाय तो उनमे पर्यायपरिणमन कैसे घट सकेगा?

उ०-यहाॅ निष्क्रियत्व से गतिक्रिया का निषेध किया गया है, क्रियामात्र का नहीं। जैनमत के अनुसार निष्क्रिय द्रव्य का मतलब 'गतिशून्य द्रव्य' इतना ही है। गतिशून्य धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो में भी सदृशपरिणमन रूप क्रिया जैनदर्शन मानता ही है।५, ६।

प्रदेशो की सख्या का विचार–

असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः । ७ ।
जीवस्य च । ८ ।
आकाशस्यानन्ताः । ९ ।
सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाश्च पुद्गलानाम् । १० ।
नाणोः । ११ ।

धर्म और अधर्म के प्रदेश असख्यात हैं ।

एक जीव के प्रदेश असंख्यात हैं ।

आकाश के प्रदेश अनन्त हैं ।

पुद्गलद्रव्य के प्रदेश संख्यात, असख्यात और अनन्त होते हैं ।

अणु–परमाणु के प्रदेश नहीं होते ।

धर्म, अधर्म आदि चार अजीव और जीव इन पॉच द्रव्यों को काय कहकर पहले यह सूचित किया है कि पॉच द्रव्य अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशप्रचय रूप हैं, परन्तु उनके प्रदेशो की विशेष संख्या पहले नहीं बतलाई है, वही संख्या यहाँ बतलाई जाती है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय– प्रत्येक द्रव्य के प्रदेश असंख्यात है। प्रदेश का मतलब एक ऐसे सूक्ष्म अंशसे है, जिसके दूसरे अंश की कल्पना बुद्धि से भी नहीं की जा सकती। ऐसे अविभाज्य सूक्ष्म अंश को निरंश अश भी कहते है। धर्म, अधर्म ये दो द्रव्य एक एक व्यक्ति रूप हैं और उनके प्रदेश– अविभाज्य अंश असंख्यात-असंख्यात हैं। इस कथन से फलित यह हुआ

कि उक्त दोनों द्रव्य एक ऐसे अखंड स्कन्धरूप हैं, जिनके असंख्यात अविभाज्य सूक्ष्म अंश सिर्फ बुद्धि से कल्पित किये जा सकते हैं, वे वस्तुभूत स्कन्ध से अलग नहीं किये जा सकते हैं।

जीवद्रव्य व्यक्ति रूप से अनन्त हैं। प्रत्येक जीवव्यक्ति एक अखड वस्तु है जो धर्मास्तिकाय की तरह असख्यात प्रदेश-परिमाण है।

आकाशद्रव्य अन्य सब द्रव्यों से बड़ा स्कन्ध है, क्योंकि वह अनन्त प्रदेशपरिमाण है।

पुद्गलद्रव्य के स्कन्ध धर्म, अधर्म आदि इतर चार द्रव्योंकी तरह नियत रूप नहीं हैं, क्योंकि कोई पुद्गल स्कन्ध संख्यात प्रदेशों का होता है, कोई असंख्यात प्रदेशों का, कोई अनंत प्रदेशो का, और कोई अनन्तानन्त प्रदेशो का भी होता है।

पुद्गल और इतर द्रव्यो के बीच इतना अन्तर है कि— पुद्गल के प्रदेश अपने स्कन्ध से अलग-अलग हो सकते हैं, पर अन्य चार द्रव्यो के प्रदेश अपने-अपने स्कन्ध से अलग नहीं हो सकते, क्योकि पुद्गल से भिन्न चारो द्रव्य अमूर्त हैं, और अमूर्त का स्वभाव खडित न होने का है। पुद्गलद्रव्य मूर्त है, मूर्त के खंड हो भी सकते हैं, क्योंकि संश्लेष और विश्लेष के द्वारा मिलने की तथा अलग होने की शक्ति मूर्तद्रव्य में देखी जाती है। इसी अन्तर के कारण पुद्गलस्कन्ध के छोटे बड़े सभी अशो को अवयव कहते है। अवयव का अर्थ है अलग होने वाला अश।

यद्यपि परमाणु भी पुद्गल होनेके कारण मूर्त है, तथापि उसका विभाग नहीं हो सकता, क्योकि वह आकाश के प्रदेश की तरह

पुद्गल का छोटे से छोटा अश है । परमाणु का ही परिमाण सबसे छोटा परिमाण है, इसी से वह भी अविभाज्य अंश है ।

यहाँ जो परमाणु के खंड– अंश न होना कहा जाता है, वह द्रव्यव्यक्ति रूप से है, पर्याय रूप से नहीं । पर्याय रूप से तो उसके भी अंशो की कल्पना की गई है, क्योंकि एक ही परमाणु-व्यक्ति में वर्ण, गन्ध, रस आदि अनेक पर्याय है, वे सभी उस द्रव्य के भावरूप अंश ही है । इसलिए एक परमाणु व्यक्ति के भी भाव परमाणु अनेक माने जाते है ।

प्र०– धर्म आदि के प्रदेश और पुद्गल के परमाणु के बीच क्या अन्तर है ?

उ०– परिमाण की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं । जितने क्षेत्र मे परमाणु रह सकता है, उतने भाग को प्रदेश कहते है । परमाणु अविभाज्य अंश होने से उनके समाने लायक क्षेत्र भी अविभाज्य ही होगा । अतएव परमाणु और तत्परिमित प्रदेशसज्ञक क्षेत्र दोनो ही परिमाण की दृष्टि से समान है, तो भी उनके बीच यह अन्तर है कि परमाणु अपने अंशीभूत स्कन्ध से अलग हो सकता है, पर धर्म आदि द्रव्यो के प्रदेश अपने स्कन्ध से अलग नहीं हो सकते ।

प्र०– नववें सूत्र मे 'अनन्त' पद है, इससे पुद्गलद्रव्य के अनेक अनन्त प्रदेश होने का अर्थ तो निकल सकता है, पर अनन्तानन्त प्रदेश होने का जो अर्थ ऊपर निकाला है सो किस पद से ?

उ०– अनन्तपद सामान्य है, वह सब प्रकार की अनन्त संख्याओ का बोध करा सकता है । इसलिए उसी पद से अनन्तानन्त अर्थ का लाभ हो जाता है । ७–११ ।

द्रव्यों के स्थितिक्षेत्र का विचार–

लोकाकाशेऽवगाहः । १२ ।
धर्माधर्मयोः कृत्स्ने । १३ ।
एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् । १४ ।
असङ्ख्येयभागादिषु जीवानाम् । १५ ।
प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् । १६ ।

आधेय– ठहरनेवाले द्रव्यों की स्थिति लोकाकाश में ही है।

धर्म और अधर्म द्रव्यों की स्थिति समग्र लोकाकाश में है।

पुद्गलद्रव्यों की स्थिति लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विकल्प से अर्थात् अनिश्चितरूप से है।

जीवों की स्थिति लोक के असख्यातवे भाग आदि में होती है।

क्योंकि प्रदीप की तरह उनके प्रदेशों का संकोच और विस्तार होता है।

जगत पाँच अस्तिकाय रूप है। इसलिए प्रश्न होता है कि उन पॉच अस्तिकायो का आधार– स्थितिक्षेत्र क्या है? क्या उनका आधार उनके अतिरिक्त और कोई द्रव्य है, अथवा उन पॉच मे से ही कोई एक द्रव्य बाक़ी के सब द्रव्यो का आधार है? इस प्रश्न का उत्तर इस जगह यह दिया गया है कि आकाश ही आधार है और बाकी के सब द्रव्य आधेय हैं। यह उत्तर व्यवहारदृष्टि से समझना चाहिए, निश्चयदृष्टि से तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठ अर्थात् अपने अपने स्वरूप मे स्थित है। कोई एक द्रव्य दूसरे

द्रव्य मे तात्त्विक दृष्टि से नहीं रह सकता। यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे धर्म आदि चार द्रव्यो का आधार व्यवहारदृष्टि से आकाश माना जाता है, वैसे आकाश का आधार क्या है ? इसका उत्तर यही है कि आकाश का कोई दूसरा आधार नहीं है, क्योंकि उससे बड़े परिमाण वाला या उसके बराबर परिमाण वाला और कोई तत्त्व ही नहीं है। इसलिए व्यवहार या निश्चय दोनो दृष्टिओं मे आकाश स्वप्रतिष्ठ ही है। आकाश को इतर द्रव्यो का आधार कहने का कारण यह है कि आकाश उन द्रव्यो से महान् है।

आधेयभूत धर्म आदि चार द्रव्य भी समग्र आकाश मे नहीं रहते। वे आकाश के अमुक परिमित भाग में ही स्थित हैं। जितने भाग मे वे स्थित हैं, उतना आकाशभाग 'लोक' कहलाता है। लोक का अर्थ है पाँच अस्तिकाय। इस भाग के बाहर इर्द गिर्द चारो ओर अनन्त आकाश विद्यमान है। उसमे इतर द्रव्यों की स्थिति न होने के कारण वह भाग अलोकाकाश कहलाता है। यहाँ अस्तिकायो के आधाराधेय संबन्ध का जो विचार है, वह लोकाकाश को ही लेकर समझना चाहिए।

धर्म और अधर्म ये दो अस्तिकाय ऐसे अखंड स्कन्धरूप हैं कि वे संपूर्ण लोकाकाश मे ही स्थित हैं। इस बात को यों भी कह सकते हैं कि वस्तुत' अखंड आकाश के भी जो लोक और अलोक ऐसे दो भागो की कल्पना बुद्धि से की जाती है, वह धर्म, अधर्म द्रव्य के सबन्ध से ही है। जहाँ उन द्रव्यो का सबन्ध न हो वह अलोक और जहाँ तक सबन्ध हो वह लोक जानना चाहिए।

पुद्गलद्रव्य का आधार सामान्यरूप से लोकाकाश ही नियत है, तथापि विशेष रूप से भिन्न भिन्न पुद्गलद्रव्य के आधार-

क्षेत्र के परिमाण में अन्तर होता है। पुद्गलद्रव्य धर्म, अधर्म द्रव्य की तरह कोई एक व्यक्तिमात्र तो है ही नहीं, जिससे उसके एकरूप आधारक्षेत्र होने की संभावना की जा सके। भिन्न भिन्न व्यक्ति होते हुए भी पुद्गलों के परिमाण में विविधता है, एक रूपता नहीं है। इसीसे यहाँ उसके आधार का परिमाण अनेक रूप से — भजना या विकल्प से बतलाया गया है। कोई पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश मे, तो कोई दो प्रदेश में रहता है। इसी तरह कोई पुद्गल असंख्यात प्रदेश परिमित लोकाकाश मे भी रहता है। सारांश यह है कि– आधारभूत क्षेत्र के प्रदेशों की संख्या आधेय-भूत पुद्गल द्रव्य के परमाणुओं की संख्या से न्यून या उसके बरा-बर हो सकती है, अधिक नहीं। अतएव एक परमाणु एक ही आकाश प्रदेश मे स्थित रहता है, पर द्व्यणुक[1] एक प्रदेश मे भी ठहर सकता है और दो में भी। इसी तरह उत्तरोत्तर सख्या बढ़ते बढ़ते त्र्यणुक, चतुरणुक यावत् संख्याताणुक स्कन्ध एक प्रदेश, दो प्रदेश, तीन प्रदेश, यावत् सख्यात प्रदेश क्षेत्र मे ठहर सकते हैं। संख्याताणुक द्रव्य की स्थिति के लिए असंख्यात प्रदेश वाले क्षेत्र की आवश्यकता नहीं पड़ती। असंख्याताणुक स्कन्ध एक प्रदेश से लेकर अधिक से अधिक अपने बराबर की असख्यात संख्या वाले प्रदेशो के क्षेत्र मे ठहर सकता है। अनन्ताणुक और

१ दो परमाणुओं से बना हुआ स्कन्ध– अवयवी द्व्यणुक कहलाता है। तीन परमाणुओं का स्कन्ध त्र्यणुक। इसी तरह चार परमाणुओं का चतु-रणुक, सख्यात परमाणुओं का सख्याताणुक, असख्यात का असख्याताणुक, अनन्त का अनन्ताणुक और अनन्तानन्त परमाणु जन्य स्कन्ध अनन्तान-न्ताणुक कहलाता है।

अनन्तानन्ताणुक स्कन्ध भी एक प्रदेश, दो प्रदेश इत्यादि क्रम से बढ़ते बढ़ते संख्यात प्रदेश और असंख्यात प्रदेश वाले क्षेत्र मे ठहर सकते है, उनकी स्थिति के लिए अनन्त प्रदेशात्मक क्षेत्र जरूरी नहीं है। पुद्गलद्रव्य का सबसे बड़ा स्कंध जिसे अचित्त महास्कंध कहते है और जो अनन्तानन्त अणुओं का बना हुआ होता है वह भी असंख्यात प्रदेश लोकाकाश मे ही समा जाता है।

जैन दर्शन मे आत्मा का परिमाण आकाश की तरह न तो व्यापक है और न परमाणु की तरह अणु है, किन्तु मध्यम परिमाण माना जाता है। यद्यपि सब आत्माओं का मध्यम परिमाण प्रदेश संख्या की दृष्टि से समान है; तथापि लम्बाई, चौड़ाई आदि सबकी एकसी नहीं है। इसलिए प्रश्न होता है कि– जीवद्रव्य का आधार-क्षेत्र कमसे कम और अधिक से अधिक कितना माना जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि एक जीव का आधार-क्षेत्र लोकाकाश के असंख्यातवे भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश तक हो सकता है। यद्यपि लोकाकाश असंख्यात प्रदेश परिमाण है, तथापि असंख्यात संख्या के भी असंख्यात प्रकार होने से लोकाकाश के ऐसे असंख्यात भागो की कल्पना की जा सकती है, जो अंगुलासंख्येय भाग परिमाण हो, इतना छोटा एक भाग भी असंख्यात प्रदेशात्मक ही होता है। उस एक भाग मे कोई एक जीव रह सकता है, उतने उतने दो भाग में भी रह सकता है। इसी तरह एक एक भाग बढ़ते बढ़ते आखिरकार सर्वलोक में भी एक जीव रह सकता है, अर्थात् जीवद्रव्य का छोटे से छोटा आधारक्षेत्र अंगुलासंख्येय भाग परिमाण लोकाकाश का खंड होता है, जो समग्र लोकाकाश का एक असंख्यातवाँ हिस्सा होता है। उसी जीव

का कालान्तर मे अथवा उसी समय जीवान्तर का कुछ वड़ा आधार-क्षेत्र उक्त भाग से दूना भी पाया जाता है। इसी तरह उसी जीव का या जीवान्तर का आधारक्षेत्र उक्त भाग मे तिगुना, चौगुना, पाचगुना आदि क्रम से बढते बढ़ते कभी असख्यात गुण अर्थात् सर्व लोकाकाश मे हो सकता है। एक जीव का आधारक्षेत्र सर्व लोकाकाश तभी हो सकता है, जब वह जीव केवलिसमुद्घात की दशा मे हो। जीव के परिमाण की न्यूनाधिकता के अनुसार उसके आधारक्षेत्र के परिमाण की जो न्यूनाधिकता ऊपर कही गई है, वह एक जीव की अपेक्षा से समझनी चाहिए। सर्व जीवराशि की अपेक्षा से तो जीवतत्त्व का आधारक्षेत्र सम्पूर्ण लोकाकाश ही है।

अब प्रश्न यह होता है कि एक जीवद्रव्य के परिमाण मे जो कालभेद से न्यूनाधिकता पाई जाती है, या तुल्य प्रदेश वाले भिन्न-भिन्न जीवों के परिमाण मे एक ही समय मे जो न्यूनाधिकता देखी जाती है, उसका कारण क्या है? इसका उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि कार्मण शरीर जो अनादि काल से जीव के साथ लगा हुआ है और जो अनन्तानन्त अणुप्रचय रूप होता है, उसके संवन्ध से एक ही जीव के परिमाण में या नाना जीवो के परिमाण मे विविधता आती है। कार्मण शरीर सदा एक सा नहीं रहता। उसके संवन्ध से औदारिक आदि जो अन्य शरीर प्राप्त होते हैं, वे भी कार्मण के अनुसार छोटे वडे होते हैं। जीवद्रव्य वस्तुत है तो अमूर्त्त, पर वह शरीरसवन्ध के कारण मूर्तवत् वन जाता है। इसलिए जब जब जितना जितना वडा शरीर उसे प्राप्त हो, तब तब उसका परिमाण उतना ही हो जाता है।

धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य की तरह जीवद्रव्य भी अमूर्त है,

फिर एक का परिमाण नहीं घटता वढ़ता और दूसरे का क्यों घटता वढ़ता है ? इस प्रश्न का उत्तर स्वभाव भेद के सिवाय और कुछ नहीं है। जीवतत्त्व का स्वभाव ही ऐसा है कि वह निमित्त मिलने पर प्रदीप की तरह संकोच और विकास को प्राप्त करता है, जैसे खुले आकाश मे रखे हुए प्रदीप का प्रकाश अमुक परिमाण होता है, पर उसे जब एक कोठरी मे रखा जाय, तब उसका प्रकाश कोठरी भर ही वन जाता है, फिर उसी को एक कुंडे के नीचे रखा जाता है, तब वह कुडे के नीचे के भाग को ही प्रकाशित करता है, लोटे के नीचे रखे जाने पर उसका प्रकाश उतना ही हो जाता है, इसी प्रदीप की तरह जीवद्रव्य भी संकोच-विकासशील है। इसलिए वह जब जब जितने छोटे या वड़े शरीर को धारण करता है तब तब शरीर के परिमाणानुसार उसके परिमाण मे संकोच-विकास होता है।

यहाँ पर यह प्रश्न है कि यदि जीव संकोचस्वभाव के कारण छोटा होता है, तब वह लोकाकाश के प्रदेश रूप असंख्यातवें भाग से छोटे भाग मे अर्थात् आकाश के एक प्रदेश पर या दो, चार, पाँच आदि प्रदेश पर क्यों समा नहीं सकता ? इसीतरह यदि उसका स्वभाव विकसित होने का है, तो वह विकास के द्वारा सम्पूर्ण लोकाकाश की तरह अलोकाकाश को भी व्याप्त क्यों नहीं करता ? इसका उत्तर यह है कि संकोच की मर्यादा कार्मण शरीर पर निर्भर है, कार्मण शरीर तो कोई भी अंगुलासंख्यात भाग मे छोटा हो ही नहीं सकता, इसलिए जीवका संकोच कार्य भी वहां तक ही परिमित रहता है, विकास की मर्यादा लोकाकाश तक ही मानी गई है। इसके दो कारण वतलाए जा सकते हैं, पहला तो यह

कि जीव के प्रदेश उतने ही है जितने लोकाकाश के। अधिक से अधिक विकास दशा मे जीव का एक प्रदेश आकाश के एक ही प्रदेश को व्याप्त कर सकता है, दो या अधिक को नहीं, इसलिए सर्वोत्कृष्ट विकास दशा मे भी वह लोकाकाश के बाहरी भाग को व्याप्त नहीं कर सकता। दूसरा कारण यह है कि विकास यह गतिका कार्य है, और गति धर्मास्तिकाय के सिवाय हो नहीं सकती, इस कारण लोकाकाश के बाहर जीव के फैलने का प्रसंग ही नही आता।

प्र०– असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश मे शरीरधारी अनन्त जीव कैसे समा सकते हैं ?

उ०– सूक्ष्मभाव परिणत निगोदशरीर से व्याप्त एक ही आकाशक्षेत्र मे साधारणशरीरी अनन्त जीव एक साथ रहते हैं, और मनुष्य आदि के एक औदारिक शरीर के ऊपर तथा अंदर अनेक संमूर्छिम जीवो की स्थिति देखी जाती है, इसलिए लोका-काश मे अनन्तानन्त जीवो का समावेश विरुद्ध नहीं है।

यद्यपि पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त और मूर्त हैं, तथापि लोकाकाश मे उनके समा जाने का कारण यह है कि पुद्गलों मे सूक्ष्मत्व रूप से परिणत होने की शक्ति है। जब ऐसा परिणमन होता है तब एक ही क्षेत्र में एक दूसरे को व्याघात पहुँचाए बिना अनन्तानन्त परमाणु और अनन्तानन्त स्कन्ध स्थान पा सकते है, जैसे एक ही स्थान मे हजारो दीपको का प्रकाश व्याघात के बिना ही समा जाता है। पुद्गलद्रव्य मूर्त होने पर भी व्याघातशील तभी होता है, जब स्थूल भाव में परिणत हो। सूक्ष्मत्वपरिणाम दशा मे वह न किसी को व्याघात पहुँचाता है और न स्वयं ही किसी से व्याघात पाता है। १२-१६।

कार्य द्वारा धर्म, अधर्म और आकाश के लक्षणों का कथन-

गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः । १७ ।

आकाशस्यावगाहः । १८ ।

गति और स्थिति में निमित्त बनना यह अनुक्रम से धर्म और अधर्म द्रव्यों का कार्य है।

अवकाश में निमित्त होना यह आकाश का कार्य है।

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों अमूर्त होने से इन्द्रियगम्य नहीं हैं, इससे इनकी सिद्धि लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकती। यद्यपि आगम प्रमाण से इनका अस्तित्व माना जाता है, तथापि आगमपोषक ऐसी युक्ति भी है जो उक्त द्रव्यों के अस्तित्व को सिद्ध करती है। वह युक्ति यह है कि- जगत में गतिशील और गतिपूर्वक स्थितिशील पदार्थ जीव और पुद्गल दो हैं। यद्यपि गति और स्थिति दोनों ही उक्त दो द्रव्यों के परिणाम व कार्य होने से उन्हीं से पैदा होते हैं, अर्थात् गति और स्थिति का उपादान कारण जीव और पुद्गल ही हैं, तथापि निमित्त कारण जो कार्य की उत्पत्ति में अवश्य अपेक्षित है, वह उपादान कारण से भिन्न होना ही चाहिए। इसीलिए जीव-पुद्गल की गति में निमित्त रूप में धर्मास्तिकाय की और स्थिति में निमित्त रूप में अधर्मास्तिकाय की सिद्धि हो जाती है। इसी अभिप्राय से शास्त्र में धर्मास्तिकाय का

---

१ यद्यपि "गतिस्थित्युपग्रहौ" ऐसा भी पाठ कहीं कहीं देखा जाता है, तथापि भाष्य को देखने से "गतिस्थित्युपग्रहो" यह पाठ अधिक संगत जान पड़ता है। दिगम्बरीय परम्परा में तो "गतिस्थित्युपग्रहौ" ऐसा ही पाठ निर्विवाद सिद्ध है।

लक्षण ही 'गतिशील पदार्थों की गति मे निमित्त होना' इतना बतलाया है और अधर्मास्तिकाय का लक्षण 'स्थिति मे निमित्त होना' बतलाया है।

धर्म, अधर्म, जीव और पुद्गल ये चारो द्रव्य कहीं न कहीं स्थित हैं, अर्थात् आधेय बनना या अवकाश लाभ करना उनका कार्य है। पर अपने में अवकाश– स्थान देना यह आकाश का कार्य है। इसीसे अवगाहप्रदान यह आकाश का लक्षण माना गया है।

प्र०– सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनो मे आकाशद्रव्य तो माना गया है, पर धर्म, अधर्म द्रव्यों को और किसी ने नहीं माना है, फिर जैनदर्शन उनका स्वीकार क्यों करता है ?

उ०– जड़ और चेतन द्रव्य जो दृश्यादृश्य विश्व के खास अग हैं, उनकी गतिशीलता तो अनुभव सिद्ध है। अगर कोई नियामक तत्त्व न हो तो वे द्रव्य अपनी सहज गतिशीलता के कारण अनन्त आकाश में कहीं भी चले जा सकते हैं। यदि वे सचमुच अनन्त आकाश मे चले ही जायँ तो इस दृश्यादृश्य विश्व का नियत संस्थान जो सदा सामान्य रूप से एकसा नजर आता है वह किसी भी तरह घट नहीं सकेगा, क्योकि अनन्त पुद्गल और अनन्त जीव व्यक्तियाँ भी अनन्त परिमाण विस्तृत आकाश क्षेत्र मे बेरोकटोक संचार होने से ऐसे पृथक् हो जायँगी, जिनका पुन मिलना और नियतसृष्टि रूप से नजर आना असम्भव नहीं तो दु सम्भव अवश्य हो जायगा। यही कारण है गतिशील उक्त द्रव्यो की गतिमर्यादा को नियन्त्रित करने वाले तत्त्व का स्वीकार जैन दर्शन करता है। यही तत्त्व धर्मास्तिकाय कहलाता है। गतिमर्यादा के नियामक रूप मे

उक्त तत्त्व का स्वीकार कर लेने पर तुल्य युक्ति से स्थितिमर्यादा के नियामक रूप से अधर्मास्तिकाय तत्त्व का स्वीकार भी जैन दर्शन कर ही लेता है।

पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार जो दिग्द्रव्य का कार्य माना जाता है, उसकी उपपत्ति आकाश के द्वारा हो सकने के कारण दिग्द्रव्य को आकाश से अलग मानने की जरूरत नहीं। पर धर्म, अधर्म द्रव्यों का कार्य आकाश से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योकि आकाश को गति और स्थिति का नियामक मानने से वह अनन्त और अखंड होने के कारण जड़ तथा चेतन द्रव्यो को अपने में सर्वत्र गति व स्थिति करने से रोक नहीं सकता और ऐसा होने से नियत दृश्यादृश्य विश्व के संस्थान की अनुपपत्ति बनी ही रहेगी। इसलिए धर्म, अधर्म द्रव्यों को आकाश से अलग स्वतन्त्र मानना न्यायप्राप्त है। जब जड़ और चेतन गतिशील हैं, तब मर्यादित आकाशक्षेत्र मे उनकी गति नियामक के बिना ही अपने स्वभाव से नहीं मानी जा सकती; इसलिए धर्म, अधर्म द्रव्यों का अस्तित्व युक्तिसिद्ध है। १७, १८।

कार्य द्वारा पुद्गल का लक्षण–

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् । १९ ।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च । २० ।

शरीर, वाणी, मन, नि.श्वास और उच्छ्वास ये पुद्गलों के उपकार–कार्य हैं।

तथा सुख, दु.ख, जीवन और मरण ये भी पुद्गलों के उपकार हैं।

अनेक पौद्गलिक कार्यों में से कुछ कार्य यहाँ बतलाए है, जो जीवों पर अनुग्रह या निग्रह करते हैं। औदारिक आदि सब शरीर पौद्गलिक ही हैं अर्थात् पुद्गल से ही बने हैं। यद्यपि कार्मण शरीर अतीन्द्रिय है, तथापि वह दूसरे औदारिक आदि मूर्त द्रव्य के संबन्ध से सुखदुःखादि विपाक देता है, जैसे जलादि के संबन्ध से धान। इसलिए उसे भी पौद्गलिक ही समझना चाहिए।

दो प्रकार की भाषा मे से भावभाषा तो वीर्यान्तराय, मति-ज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से तथा अंगोपाग नाम-कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली एक विशिष्ट शक्ति है, जो पुद्गल सापेक्ष होने से पौद्गलिक है, और ऐसे शक्तिवाले आत्मा के द्वारा प्रेरित हो कर वचनरूप मे परिणत होने वाले भाषावर्गणा के स्कन्ध ही द्रव्यभाषा है।

लब्धि तथा उपयोग रूप भावमन पुद्गलावलंबी होने से पौद्ग-लिक है। ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से और अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणा के जो स्कन्ध गुणदोष-विवेचन, स्मरण आदि कार्यों मे अभिमुख आत्मा के अनुग्राहक अर्थात् उसके सामर्थ्य के उत्तेजक होते हैं वे द्रव्यमन है। इसी प्रकार आत्मा के द्वारा उदर से बाहर निकाला जाने वाला निःश्वास-वायु— प्राण और उदर के भीतर पहुँचाया जाने वाला उच्छ्वास-वायु— अपान ये दोनो पौद्गलिक हैं, और जीवनप्रद होने से आत्मा के अनुग्रहकारी हैं।

भाषा, मन, प्राण और अपान इन सबका व्याघात और अभि-भव देखा जाता है। इसलिए वे शरीर की तरह पौद्गलिक ही है।

जीव का प्रीतिरूप परिणाम सुख है, जो सातवेदनीय कर्म रूप

अन्तरंग कारण और द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य कारण से उत्पन्न होता है। परिताप ही दुःख है, जो असातवेदनीय कर्म रूप अन्तरंग कारण और द्रव्य आदि बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है।

आयुष्कर्म के उदय से देहधारी जीव के प्राण और अपान का चालू रहना यह जीवित है, और प्राणापान का उच्छेद होना मरण है। ये सब सुख, दुःख आदि पर्याय जीवों मे उत्पन्न होते हैं, पर पुद्गलो के द्वारा। इसलिए वे जीवों के प्रति पौद्गलिक उपकार माने गए हैं। १९, २०।

कार्य द्वारा जीव का लक्षण–

परस्परोपग्रहो जीवानाम् । २१ ।

परस्पर के कार्य में निमित्त होना– यह जीवों का उपकार है।

इस सूत्र मे जीवों के पारस्परिक उपकार का वर्णन है। एक जीव हित या अहित के उपदेश के द्वारा दूसरे जीव का उपकार करता है। मालिक पैसा देकर नौकर पर उपकार करता है, और नौकर हित या अहित की बात कह कर मालिक पर उपकार करता है। आचार्य सत्कर्म का उपदेश करके उसके अनुष्ठान द्वारा शिष्य का उपकार करता है, और शिष्य अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा आचार्य का उपकार करता है। २१।

कार्य द्वारा काल का लक्षण–

वर्त्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ।२२।

वर्त्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व ये काल के उपकार हैं।

काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानकर यहाँ उसके उपकार बतलाए गए हैं। अपने अपने पर्याय की उत्पत्ति मे स्वयमेव प्रवर्त्तमान धर्म आदि द्रव्यो को निमित्तरूप से प्रेरणा करना यह वर्त्तना कहलाती है। स्वजाति का त्याग किये बिना होने वाला द्रव्य का अपरिस्पन्द रूप पर्याय, जो पूर्वावस्था की निवृत्ति और उत्तरावस्था की उत्पत्तिरूप है, उसे परिणाम समझना। ऐसा परिणाम जीव मे ज्ञानादि तथा क्रोधादि, पुद्गल में नील, पीत वर्णादि और धर्मास्तिकाय आदि शेष द्रव्यों मे अगुरुलघु गुण की हानि-वृद्धि रूप है। गति– परिस्पन्द ही क्रिया है। ज्येष्ठत्व यह परत्व और कनिष्ठत्व यह अपरत्व है। यद्यपि वर्त्तना आदि कार्य यथासम्भव धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो के ही है, तथापि काल सब का निमित्त कारण होने से यहाँ वे काल के उपकार रूप से वर्णन किये गए है। २२।

पुद्गल के असाधारण पर्याय–

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । २३ ।

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्द्योतवन्तश्च । २४ ।

पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले होते हैं।

तथा वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, सस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्द्योत वाले भी हैं।

बौद्ध लोग पुद्गल शब्द का व्यवहार जीव के अर्थ मे करते है, तथा वैशेषिक आदि दर्शनो मे पृथिवी आदि मूर्त द्रव्यो को समान रूप से स्पर्श, रस आदि चतुर्गुण युक्त नहीं माना है, किन्तु पृथिवी को

चतुर्गुण, जल को गन्ध रहित त्रिगुण, तेज को गन्ध-रस रहित द्विगुण और वायु को मात्र स्पर्शगुण वाला माना है। इसी तरह उन्होंने मनमे स्पर्श आदि चारो गुण नहीं माने हैं। इसलिए उन बौद्ध आदि से मतभेद दिखलाना यह प्रस्तुत सूत्र का उद्देश्य है। इस सूत्र से यह सूचित किया जाता है कि जैन दर्शन में जीव और पुद्गल तत्त्व भिन्न हैं। अतः पुद्गल शब्द का व्यवहार जीव तत्त्व के लिए नहीं होता। इसी तरह पृथिवी, जल, तेज और वायु ये सभी पुद्गल रूप से समान हैं, अर्थात् वे सभी स्पर्श आदि चतुर्गुण युक्त हैं। तथा जैन दर्शन मे मन भी पौद्गलिक होने के कारण स्पर्श आदि गुणवाला ही है। स्पर्श आठ प्रकार का माना जाता है, जैसे– कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध– चिकना और रूक्ष– रूखा। रस के पाँच प्रकार ये हैं– तिक्त– कडुवा, कटुक– चरपरा, कषाय– कसैला, खट्टा और मीठा। सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो गन्ध हैं। वर्ण पाँच हैं, जैसे– काला, नीला– हरा, लाल, पीला और सफेद। उक्त प्रकार से स्पर्श आदि के कुल बीस भेद होते हैं, पर इनमे से प्रत्येक के सख्यात, असख्यात और अनन्त भेद तरतम भाव से पाये जाते हैं। जो जो वस्तु मृदु होती है, उस सब के मृदुत्व मे कुछ न कुछ तारतम्य पाया जाता है। इस कारण सामान्य रूप से मृदुत्व स्पर्श एक होने पर भी उसके तारतम्य के अनुसार संख्यात, असंख्यात और अनन्त तक भेद पाये जाते हैं। यही बात कठिन आदि अन्य स्पर्श तथा रस आदि अन्य पर्यायो के विषय मे भी समझनी चाहिए।

शब्द यह कोई गुण नहीं है; जैसा कि वैशेषिक, नैयायिक आदि मानते हैं। किन्तु वह भाषावर्गणा के पुद्गलो का एक प्रकार

का विशिष्ट परिणाम है। निमित्त भेद से उसके अनेक भेद किये जाते हैं। जो शब्द आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह प्रयोगज, और जो किसी के प्रयत्न के बिना ही उत्पन्न होता है वह वैस्रसिक है। बादलो की गर्जना वैस्रसिक है। प्रयोगज शब्द के छ' प्रकार बतलाए गए है। वे ये हैं– १ भाषा– मनुष्य आदि की व्यक्त और पशु, पक्षी आदि की अव्यक्त ऐसी अनेकविध भाषाएँ। २ तत– चमड़ा लपेटे हुए वाद्यो का अर्थात् मृदंग, पटह आदि का शब्द। ३ वितत– तार वाले वीणा, सारंगी आदि वाद्यो का शब्द। ४ घन– झालर, घंट आदिका शब्द। ५ शुषिर–फूँक कर बजाये जाने वाले शंख, बसी आदि का शब्द। ६ सघर्ष– लकड़ी आदि के संघर्षण से होनेवाला शब्द।

परस्पर आश्लेष रूप बन्ध के भी प्रायोगिक, वैस्रसिक ऐसे दो भेद हैं। जीव और शरीर का सबन्ध तथा लाख और लकड़ी का संबन्ध प्रयत्न सापेक्ष होने से प्रायोगिक बन्ध है। बिजली, मेघ, इन्द्रधनुष आदि का प्रयत्न निरपेक्ष पौद्गलिक संश्लेष वैस्रसिक-बन्ध है।

सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के अन्त्य तथा आपेक्षिक ऐसे दो दो भेद हैं। जो सूक्ष्मत्व तथा स्थूलत्व दोनो एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से घट न सकें वे अन्त्य और जो घट सकें वे आपेक्षिक। परमाणुओं का सूक्ष्मत्व और जगद्-व्यापी महास्कन्ध का स्थूलत्व अन्त्य है, क्योंकि अन्य पुद्गल की अपेक्षा परमाणुओ मे स्थूलत्व और महास्कन्ध मे सूक्ष्मत्व घट नहीं सकता। द्व्यणुक आदि मध्य-वर्त्ती स्कन्धो का सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व दोनो आपेक्षिक है, जैसे– ऑवले का सूक्ष्मत्व और बिल्व का स्थूलत्व। ऑवला बिल्व की

अपेक्षा छोटा होने के कारण उससे सूक्ष्म है और बिल्व ऑवले से स्थूल है। परन्तु वही ऑवला बेर की अपेक्षा स्थूल भी है और वही बिल्व कूष्माण्ड की अपेक्षा सूक्ष्म भी है। इस तरह जैसे आपेक्षिक होने से एक ही वस्तु मे सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व दोनो विरुद्ध पर्याय पाये जा सकते है, वैसे अन्त्य सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व एक वस्तु मे पाये नहीं जा सकते।

संस्थान इत्थंत्वरूप, अनित्थत्वरूप से दो प्रकार का है। जिस आकार की किसी के साथ तुलना की जा सके– वह इत्थंत्वरूप, और जिसकी तुलना न की जा सके वह अनित्थंत्वरूप है। मेघ आदि का संस्थान– रचना विशेष अनित्थंत्वरूप हैं, क्योंकि अनियत रूप होने से किसी एक प्रकार से उसका निरूपण किया नहीं जा सकता, और अन्य पदार्थों का संस्थान इत्थंत्वरूप है; जैसे गेंद, सिघाड़ा आदि का। गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, दीर्घ, परिमंडल– वलयाकार आदि रूप से इत्थंत्वरूप संस्थान के अनेक भेद हैं।

एकत्व अर्थात् स्कन्ध रूप मे परिणत पुद्गलपिण्ड का विश्लेप– विभाग होना भेद है। इसके पॉच प्रकार है– १ औत्करिक– चीरे या खोदे जाने पर होने वाला लकड़ी, पत्थर आदि का भेदन। २ चौर्णिक– कण कण रूप से चूर्ण हो जाना, जैसे– जौ आदि का सत्तू, आटा इत्यादि। ३ खण्ड– टुकड़े टुकड़े हो कर टूट जाना, जैसे– घड़े का कपालादि। ४ प्रतर– पड, तहे निकलना, जैसे– अभ्रक, भोजपत्र आदि मे। ५ अनुतट– छाल निकलना, जैसे– बॉस, ऊख आदि की।

तम अन्धकार को कहते हैं, जो देखने मे रुकावट डालने वाला, प्रकाश का विरोधी एक परिणाम विशेष है।

छाया प्रकाश के ऊपर आवरण आ जाने से होती है। इसके दो प्रकार हैं– आयने आदि स्वच्छ पदार्थों मे जो मुख का बिम्ब पड़ता है, जिसमे मुख का वर्ण, आकार आदि ज्यो का त्यो देखा जाता है, वह वर्णादिविकार परिणामरूप छाया है और अन्य अस्वच्छ द्रव्यो पर जो मात्र प्रतिबिम्ब (परछाईं) पड़ता है वह प्रतिबिम्बरूप छाया है।

सूर्य आदि का उष्ण प्रकाश आतप और चन्द्र, मणि, खद्योत आदि का अनुष्ण प्रकाश उद्द्योत है।

स्पर्श आदि तथा शब्द आदि उपर्युक्त सभी पर्याय पुद्गल के ही कार्य होने से पौद्गलिक पर्याय माने जाते हैं।

तेईसवें और चौबीसवें सूत्र को अलग करके यह सूचित किया है कि स्पर्श आदि पर्याय परमाणु और स्कन्ध दोनो मे पाये जाते हैं, परन्तु शब्द, बन्ध आदि पर्याय सिर्फ स्कन्ध मे पाये जाते हैं। यद्यपि सूक्ष्मत्व परमाणु और स्कन्ध दोनों का पर्याय है, तथापि उसका परिगणन स्पर्श आदि के साथ न करके शब्द आदि के साथ किया है, वह भी प्रतिपक्षी स्थूलत्व पर्याय के साथ उसके कथन का औचित्य समझ करके। २३, २४।

पुद्गल के मुख्य प्रकार–

अणवः स्कन्धाश्च। २५।

पुद्गल परमाणुरूप और स्कन्धरूप हैं।

व्यक्तिरूप से पुद्गलद्रव्य अनन्त हैं, और उनकी विविधता भी अपरिमित है, तथापि अगले दो सूत्रो मे पौद्गलिक परिणाम की उत्पत्ति के भिन्न-भिन्न कारण दिखाने के लिए यहाँ तदुपयोगी पर-

माणु और स्कन्ध—ये दो प्रकार संक्षेप से बतलाए गए हैं। सम्पूर्ण पुद्गलराशि इन दो प्रकारों में समा जाती है।

जो पुद्गलद्रव्य कारणरूप है, कार्यरूप नहीं है, वह अन्त्य द्रव्य कहलाता है। ऐसा द्रव्य परमाणु है, जो नित्य है, सूक्ष्म है और किसी एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श से युक्त है। ऐसे परमाणुद्रव्य का ज्ञान इन्द्रियों से तो हो नहीं सकता। उसका ज्ञान आगम या अनुमान से साध्य है। परमाणु का अनुमान कार्य-हेतु से माना गया है। जो जो पौद्गलिक कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब सकारण हैं। इसी तरह जो अदृश्य अंतिम कार्य होगा, उसका भी कारण होना चाहिए; वही कारण परमाणुद्रव्य है। उसका कारण और कोई द्रव्य न होने से उसे अंतिम कारण कहा है। परमाणुद्रव्य का कोई विभाग नहीं है और न हो सकता है। इसलिए उसकी आदि, उसका मध्य और उसका अन्त वह आप ही है। परमाणुद्रव्य अबद्ध— असमुदाय रूप होते हैं।

पुद्गलद्रव्य का दूसरा प्रकार स्कन्ध है। स्कन्ध सभी बद्ध—समुदायरूप होते हैं, और वे अपने कारणद्रव्य की अपेक्षा से कार्य-द्रव्य रूप तथा अपने कार्यद्रव्य की अपेक्षा से कारणद्रव्य रूप हैं। जैसे द्विप्रदेश आदि स्कन्ध, ये परमाणु आदि के कार्य है और त्रिप्रदेश आदि के कारण भी हैं। २५।

अनुक्रम से स्कन्ध और अणु की उत्पत्ति के कारण—

सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते। २६।

भेदादणुः। २७।

सघात से भेद से और संघात-भेद दोनों से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

अणु भेद से ही उत्पन्न होता है।

स्कन्ध– अवयवी द्रव्य की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है। कोई स्कन्ध सघात– एकत्वपरिणति से उत्पन्न होता है, कोई भेद से बनता है, और कोई एक साथ भेद-संघात दोनो निमित्तो से होता है। जब अलग अलग स्थित दो परमाणुओ के मिलने पर द्विप्रदेशिक स्कन्ध होता है तब वह संघातजन्य कहलाता है। इसी तरह तीन, चार, संख्यात, असंख्यात, अनन्त यावत् अनन्तानन्त परमाणुओ के मिलने मात्र से त्रिप्रदेश, चतुष्प्रदेश, सख्यातप्रदेश, असख्यातप्रदेश, अनन्तप्रदेश यावत् अनन्तानन्तप्रदेश तक स्कन्ध बनते हैं, वे सभी संघातजन्य हैं। किसी बड़े स्कन्ध के टूटने मात्र से जो छोटे छोटे स्कन्ध होते हैं, वे भेदजन्य हैं। ये भी द्विप्रदेश से लेकर यावत् अनन्तानन्त प्रदेश तक हो सकते हैं। जब किसी एक स्कन्ध के टूटने पर उसके अवयव के साथ उसी समय दूसरा कोई द्रव्य मिल जाने से नया स्कन्ध बनता है, तब वह स्कन्ध भेद-सघातजन्य है। ऐसे स्कन्ध भी द्विप्रदेश से लेकर अनन्तानन्त प्रदेश तक हो सकते हैं। दो से अधिक प्रदेश वाले स्कन्धो के लिए यह बात समझनी चाहिए कि तीन, चार आदि अलग अलग परमाणुओं के मिलने से भी त्रिप्रदेश, चतुष्प्रदेश आदि स्कन्ध होते हैं, और द्विप्रदेश स्कन्ध के साथ एक परमाणु मिलने से त्रिप्रदेश तथा द्विप्रदेश या त्रिप्रदेश स्कन्ध के साथ अनुक्रम से दो या एक परमाणु मिलने से भी चतुष्प्रदेश स्कन्ध बन सकता है।

अणुद्रव्य किसी द्रव्य का कार्य नहीं है, इसलिए उसकी उत्पत्ति मे दो द्रव्यों के संघात का सम्भव ही नही है। यों तो परमाणु नित्य माना गया है, तथापि यहाँ उसकी उत्पत्ति जो वतलाई गई है वह पर्यायदृष्टि से, अर्थात् परमाणु द्रव्यरूप से तो नित्य ही है, पर पर्यायदृष्टि से वह जन्य भी है। कभी स्कन्ध के अवयव रूप वन कर सामुदायिक अवस्था में परमाणु का रहना और कभी स्कन्ध से अलग हो कर विशकलित अवस्था में रहना ये सभी परमाणु के पर्याय– अवस्थाविशेष ही हैं। विशकलित अवस्था स्कन्ध के भेद से ही उत्पन्न होती है। इसलिए यहाँ भेद से अणु की उत्पत्ति के कथन का अभिप्राय इतना ही है कि– विशकलित अवस्था विशिष्ट परमाणु भेद का कार्य है, शुद्ध परमाणु नहीं। २६,२७।

अचाक्षुष स्कन्ध के चाक्षुष वनने में हेतु–

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषाः । २८ ।

भेद और संघात से ही चाक्षुष स्कन्ध वनते हैं।

अचाक्षुष स्कन्ध भी निमित्त पाकर चाक्षुप वन सकता है, यह दिखाना इस सूत्र का उद्देश्य है।

पुद्गल के परिणाम विविध हैं, अत कोई पुद्गल स्कन्ध अचाक्षुष– चक्षु से अग्राह्य होता है, तो कोई चाक्षुप– चक्षु से ग्राह्य होता है। जो स्कन्ध पहले सूक्ष्म होने के कारण अचाक्षुप हो वह निमित्तवश सूक्ष्मत्व परिणाम छोड़कर वादर– स्थूल परिणामविशिष्ट वनने से चाक्षुष हो सकता है। उस स्कन्ध के ऐसा होने मे भेद तथा संघात दो ही हेतु अपेक्षित हैं। जव किसी स्कन्ध में सूक्ष्मत्व परिणाम की निवृत्ति हो कर स्थूलत्व परिणाम

उत्पन्न होता है, तब कुछ नये अणु उस स्कन्ध में अवश्य मिल जाते हैं, सिर्फ मिलते ही नहीं, किन्तु कुछ अणु उस स्कन्ध में से अलग भी हो जाते हैं। सूक्ष्मत्व परिणाम की निवृत्ति पूर्वक स्थूलत्व परिणाम की उत्पत्ति न केवल सघात– अणुओ के मिलने मात्र से होती हैं और न केवल भेद– अणुओं के अलग होने मात्र से होती है। स्थूलत्व– बादरत्व रूप परिणाम के सिवाय कोई स्कन्ध चाक्षुष तो हो ही नहीं सकता। इसीलिए यहाँ नियम पूर्वक कहा गया है कि चाक्षुपस्कन्ध भेद और सघात दोनों ही से बनता है।

भेद शब्द के दो अर्थ है– १ स्कन्ध का टूटना अर्थात् उसमे से अणुओं का अलग होना। २ पूर्व परिणाम निवृत्त होकर दूसरे परिणाम का उत्पन्न होना। इन दो अर्थों मे से पहला अर्थ लेकर ऊपर सूत्रार्थ लिखा गया है। दूसरे अर्थ के अनुसार सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है– जब कोई सूक्ष्म स्कन्ध नेत्र से ग्रहण करने योग्य बादर परिणाम को प्राप्त करता है, अर्थात् अचाक्षुष मिट कर चाक्षुप बनता है, तब उसके ऐसा होने मे स्थूल परिणाम अपेक्षित है, जो विशिष्ट अनन्ताणु सख्या (सघात) सापेक्ष है। केवल सूक्ष्मत्वरूप पूर्व परिणाम की निवृत्तिपूर्वक नवीन स्थूलत्व परिणाम चाक्षुष बनने का कारण नहीं और केवल विशिष्ट अनन्त संख्या भी चाक्षुप बनने मे कारण नहीं, किन्तु परिणाम (भेद) और उक्त सख्यारूप सघात दोनों ही स्कन्ध के चाक्षुष बनने मे कारण हैं।

यद्यपि सूत्रगत चाक्षुप पदसे तो चक्षुर्ग्राह्य स्कन्ध का ही बोध होता है, तथापि यहाँ चक्षु पद से समस्त इन्द्रियो का लाक्षणिक बोध विवक्षित है। तदनुसार सूत्र का अर्थ यह होता है कि– सभी अतीन्द्रिय स्कन्धो के ऐन्द्रियक (इन्द्रियग्राह्य) बनने मे भेद और

संघात दो ही हेतु अपेक्षित हैं। पौद्गलिक परिणाम की असर्यादित विचित्रता के कारण जैसे पहले के अतीन्द्रिय स्कन्ध भी पीछे से भेद तथा संघात रूप निमित्त से ऐन्द्रियक बन सकते हैं, वैसे ही स्थूल स्कन्ध सूक्ष्म भी बन जाते है, इतना ही नहीं बल्कि परिणाम की विचित्रता के कारण अधिक इन्द्रियों से ग्रहण किये जाने वाला स्कन्ध अल्प इन्द्रियग्राह्य बन जाता है। जैसे लवण, हिंगु आदि पदार्थ नेत्र, स्पर्शन, रसन और घ्राण इन चार इन्द्रियों से ग्रहण किये जा सकते हैं; पर वे ही जल मे मिलकर गल जाने से सिर्फ रसन और घ्राण दो ही इन्द्रियों से ग्रहण हो सकते हैं।

प्र०– स्कन्ध के चाक्षुष बनने मे दो कारण दिखाए, पर अचाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति के कारण क्यों नहीं दिखाए ?

उ०– छब्बीसवें सूत्र मे सामान्य रूप से स्कन्ध मात्र की उत्पत्ति के तीन हेतुओ का कथन किया गया है। वहाँ तो सिर्फ विशेष स्कन्ध की उत्पत्ति के अर्थात् अचाक्षुप से चाक्षुप बनने के हेतुओ का विशेष कथन है; इसलिए उस सामान्य विधान के अनुसार अचाक्षुप स्कन्ध की उत्पत्ति के हेतु तीन ही प्राप्त होते हैं। सारांश यह है कि– छब्बीसवें सूत्र के कथनानुसार भेद, संघात और भेद-संघात इन तीनों हेतुओ से अचाक्षुप स्कन्ध बनते हैं। २८।

'सत्' की व्याख्या–

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । २९ ।

---

१ दिगम्बरीय परम्परा में यह सूत्र तीसवें नंबर पर है, उसमें उनतीसवें नंबर पर "सद् द्रव्यलक्षणम्" ऐसा सूत्र है, जो श्वेताम्बरीय परम्परा मे नहीं है। भाष्य में सिर्फ उसका भाव आ जाता है।

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनो से युक्त अर्थात् तदात्मक है वही सत् कहलाता है।

सत् के स्वरूप के विषय मे भिन्न भिन्न दर्शनो का मतभेद है। [1]कोई दर्शन सम्पूर्ण सत् पदार्थ को (ब्रह्म को) केवल ध्रुव (नित्य ही) मानता है। [2]कोई दर्शन सत् पदार्थ को निरन्वय क्षणिक (मात्र उत्पाद-विनाशशील) मानता है। [3]कोई दर्शन चेतन-तत्त्व रूप सत् को तो केवल ध्रुव (कूटस्थनित्य) और प्रकृति तत्त्व रूप सत् को परिणामिनित्य (नित्यानित्य) मानता है। [4]कोई दर्शन अनेक सत् पदार्थों मे से परमाणु, काल, आत्मा आदि कुछ सत् तत्त्वो को कूटस्थनित्य और घट, पट आदि कुछ सत् को मात्र उत्पाद-व्ययशील (अनित्य) मानता है। परतु जैनदर्शन का सत् के स्वरूप से संवन्ध रखने वाला मन्तव्य उक्त सव मतो से भिन्न है और वही इस सूत्र मे वतलाया गया है।

जैनदर्शन का मानना है कि जो सत् – वस्तु है, वह पूर्ण रूप से सिर्फ कूटस्थनित्य या सिर्फ निरन्वयविनाशी या उसका अमुक भाग कूटस्थनित्य और अमुक भाग परिणामिनित्य अथवा उसका कोई भाग तो मात्र नित्य और कोई भाग मात्र अनित्य नहीं हो सकता। इसके मतानुसार चाहे चेतन हो या जड, अमूर्त हो या मूर्त, सूक्ष्म हो या स्थूल, सभी सत् कहलाने वाली वस्तुएँ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रिरूप हैं।

हरएक वस्तु मे दो अंश हैं– एक अंश ऐसा है कि जो

---

१ वेदान्त– औपनिषद शाङ्करमत। २ वौद्ध। ३ साख्य। ४ न्याय, वैशेपिक।

तीनों कालों मे शाश्वत है और दूसरा अंश सदा अशाश्वत है। शाश्वत अंश के कारण हरएक वस्तु ध्रौव्यात्मक (स्थिर) और अशाश्वत अंश के कारण उत्पाद-व्ययात्मक (अस्थिर) कहलाती है। इन दो अंशो मे से किसी एक की ओर दृष्टि जाने और दूसरे की ओर न जाने से वस्तु सिर्फ स्थिररूप या सिर्फ अस्थिररूप मालूम होती है। परन्तु दोनों अंशो की ओर दृष्टि देने से ही वस्तु का पूर्ण और यथार्थ स्वरूप मालूम किया जा सकता है, इसलिए दोनो दृष्टियों के अनुसार ही इस सूत्र मे सत्– वस्तु का स्वरूप प्रतिपादित किया है। २९।

विरोध का परिहार और परिणामिनित्यत्व का स्वरूप–

तद्भावाव्ययं नित्यम् । ३० ।

जो उसके भाव से (अपनी जाति से) च्युत न हो वही नित्य है।

पिछले सूत्र मे कहा गया है कि एक ही वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है अर्थात् स्थिरास्थिर– उभय रूप है, परन्तु इस पर प्रश्न होता है कि– यह कैसे घट सकता है ? जो स्थिर है वही अस्थिर कैसे ? और जो अस्थिर है वही स्थिर कैसे ? एक ही वस्तु मे स्थिरत्व, अस्थिरत्व दोनो अंश शीत-उष्ण की तरह परस्पर विरुद्ध होने से एक ही समय मे घट नहीं सकते। इसलिए सत् की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ऐसी व्याख्या क्या विरुद्ध नहीं है ? इस विरोध के परिहार के लिए जैनदर्शन सम्मत नित्यत्व का स्वरूप बतलाना यही इस सूत्र का उद्देश्य है।

यदि कुछ अन्य दर्शनो की तरह जैनदर्शन भी वस्तु का स्वरूप

ऐसा मानता कि 'किसी भी प्रकार से परिवर्त्तन को प्राप्त किये बिना ही वस्तु सदा एक रूप मे अवस्थित रहती है' तो इस कूटस्थनित्य मे अनित्यत्व का सम्भव न होने के कारण एक ही वस्तु मे स्थिरत्व, अस्थिरत्व का विरोध आता। इसी तरह अगर जैनदर्शन वस्तु को क्षणिक मात्र मानता, अर्थात् प्रत्येक वस्तु को क्षण क्षण मे उत्पन्न तथा नष्ट होने वाली मान कर उसका कोई स्थायी आधार न मानता, तो भी उत्पादव्ययशील अनित्यपरिणाम मे नित्यत्व का सम्भव न होने के कारण उक्त विरोध आता। परन्तु जैनदर्शन किसी वस्तु को केवल कूटस्थनित्य या केवल परिणामिमात्र न मान कर परिणामिनित्य मानता है। इसलिए सभी तत्त्व अपनी अपनी जाति मे स्थिर रहते हुए भी निमित्त के अनुसार परिवर्त्तन (उत्पाद-व्यय) प्राप्त करते रहते है। अतएव हरएक वस्तु मे मूल जाति (द्रव्य) की अपेक्षा से ध्रौव्य और परिणाम की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय– इनके घटित होने मे कोई विरोध नहीं आता। जैन का परिणामिनित्यत्ववाद सांख्य की तरह सिर्फ जड़ (प्रकृति) तक ही नहीं है, किन्तु चेतनतत्त्व में भी वह लागू पड़ता है।

सब तत्त्वों मे व्यापक रूप से परिणामिनित्यत्व वाद का स्वीकार करने के लिए साधकप्रमाण मुख्यतया अनुभव है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कोई ऐसा तत्त्व अनुभव मे नहीं आता कि जो सिर्फ अपरिणामी हो या मात्र परिणामरूप हो। बाह्य, आभ्यन्तर सभी वस्तुएँ परिणामिनित्य ही मालूम होती हैं। अगर सभी वस्तुएँ क्षणिक मात्र हों, तो प्रत्येक क्षण मे नयी नयी वस्तु उत्पन्न तथा नष्ट होने के कारण, एवं उसका कोई स्थायी आधार न होने के कारण, उस क्षणिक परिणाम परम्परा मे सजातीयता का कभी अनु-

भव न हो, अर्थात् पहले कभी देखी हुई वस्तु को फिर से देखने पर जो 'यह वही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञानन होता है वह किसी तरह न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के लिए जैसे उसकी विषयभूत वस्तु का स्थिरत्व आवश्यक है, वैसे ही द्रष्टा आत्मा का भी स्थिरत्व आवश्यक है। इसी तरह अगर जड़ या चेतन तत्त्व मात्र निर्विकार हो तो इन दोनो तत्त्वो के मिश्रणरूप जगत मे क्षण क्षण मे दिखाई देनेवाली विविधता कभी उत्पन्न न हो; अतएव परिणामिनित्यत्व वाद को जैनदर्शन युक्तिसंगत मानता है।

व्याख्यान्तर से पूर्वोक्त सत् के नित्यत्व का वर्णन—

"तद्भावाव्ययं नित्यम्"

सत् उसके भाव से च्युत न होने के कारण नित्य है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होना यही वस्तुमात्र का स्वरूप है। यही स्वरूप सत् कहलाता है। सत् स्वरूप नित्य है, अर्थात् वह तीनो कालो मे एकसा अवस्थित रहता है। ऐसा नहीं है कि किसी वस्तु मे या वस्तुमात्र मे उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य कभी हो और कभी न हो। प्रत्येक समय मे उत्पादादि तीनो अश अवश्य होते हैं, यही सत् का नित्यत्व है।

अपनी अपनी जाति को न छोड़ना यह सभी द्रव्यो का ध्रौव्य है और प्रत्येक समय मे भिन्न भिन्न परिणामरूप से उत्पन्न और नष्ट होना यह उनका उत्पाद-व्यय है। ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्यय का चक्र द्रव्यमात्र में सदा पाया जाता है।

उस चक्र मे से कभी कोई अश लुप्त नहीं होता, यही इस सूत्र

के द्वारा बतलाया गया है। पूर्व सूत्र मे ध्रौव्य का जो कथन है वह द्रव्य के अन्वयी–स्थायी अंश मात्र को लेकर और इस सूत्र मे जो नित्यत्व का कथन है, वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीनो अशो के अविच्छिन्नत्व को लेकर। यही पूर्व सूत्र मे कथित ध्रौव्य और इस सूत्र मे कथित नित्यत्व के बीच अन्तर है। ३०।

अनेकान्त के स्वरूप का समर्थन–

अर्पितानर्पितसिद्धेः। ३१।

प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है, क्योंकि अर्पित– अर्पणा अर्थात् अपेक्षा से और अनर्पित– अनर्पणा अर्थात् अपेक्षान्तर से विरोधी स्वरूप सिद्ध होता है।

परस्पर विरुद्ध किन्तु प्रमाण सिद्ध धर्मों का समन्वय एक वस्तु मे कैसे हो सकता है, यह दिखाना, तथा विद्यमान अनेक धर्मों मे से कभी एक का और कभी दूसरे का प्रतिपादन क्यों होता है, यह दिखाना इस सूत्र का उद्देश्य है।

'आत्मा सत् है' इस प्रतीति या उक्ति मे जो सत्त्व का भान होता है, वह सब प्रकार से घटित नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो आत्मा, चेतना आदि स्व-रूप की तरह घटादि पर-रूप से भी सत् सिद्ध हो, अर्थात् उसमे चेतना की तरह घटत्व भी भासमान हो, जिससे उसका विशिष्ट स्व-रूप सिद्ध ही न हो। विशिष्ट स्व-रूप का अर्थ ही यह है कि वह स्व-रूप से सत् और पर-रूप से सत् नहीं अर्थात् असत् है। इस तरह अपेक्षाविशेष से सत्त्व और अपेक्षान्तर से असत्त्व ये दोनों धर्म आत्मा मे सिद्ध होते हैं। जैसे

सत्त्व, असत्त्व वैसे ही नित्यत्व, अनित्यत्व धर्म भी उसमें सिद्ध हैं। द्रव्य (सामान्य) दृष्टि से नित्यत्व और पर्याय (विशेष) दृष्टि से अनित्यत्व सिद्ध होता है। इसी तरह परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले, परन्तु अपेक्षा भेद से सिद्ध ऐसे और भी एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मों का समन्वय आत्मा आदि सब वस्तुओं में अबाधित है, इसलिए सभी पदार्थ अनेक धर्मात्मक माने जाते हैं।

व्याख्यान्तर–

"अर्पितानर्पितसिद्धेः"

प्रत्येक वस्तु अनेक प्रकार से व्यवहार्य है, क्योंकि अर्पणा और अनर्पणा से अर्थात् विवक्षा के अनुसार प्रधान किंवा अप्रधान भाव से व्यवहार की सिद्धि– उपपत्ति होती है।

अपेक्षाभेद से सिद्ध ऐसे अनेक धर्मों में से भी कभी किसी एक धर्म के द्वारा और कभी उसके विरुद्ध दूसरे धर्म के द्वारा वस्तु का व्यवहार होता है, वह अप्रामाणिक या बाधित नहीं है, क्योंकि विद्यमान भी सब धर्म एक साथ विवक्षित नहीं होते। प्रयोजनानुसार कभी एक की तो कभी दूसरे की विवक्षा होती है। जब जिसकी विवक्षा हो, तब वह प्रधान और दूसरा अप्रधान होता है। जो कर्म का कर्ता है वही उसके फल का भोक्ता हो सकता है। इस कर्म और तज्जन्य फल के सामानाधिकरण्य को दिखाने के लिए आत्मा मे द्रव्यदृष्टि से सिद्ध नित्यत्व की विवक्षा की जाती है। उस समय उसका पर्यायदृष्टि से सिद्ध अनित्यत्व विवक्षित न होने के कारण गौण है, परन्तु कर्तृत्वकाल की अपेक्षा भोक्तृत्वकाल में आत्मा

की अवस्था बदल जाती है। ऐसा कर्मकालीन और फलकालीन अवस्थाभेद दिखाने के लिए जब पर्यायदृष्टि सिद्ध अनित्यत्व का प्रतिपादन किया जाता है, तब द्रव्यदृष्टि से सिद्ध नित्यत्व प्रधान नहीं रहता। इस तरह विवक्षा और अविवक्षा के कारण कभी आत्मा को नित्य और कभी अनित्य कहा जाता है। जब दोनो धर्मों की विवक्षा एक साथ की जाती है, तब दोनो धर्मों का युगपत् प्रतिपादन कर सके ऐसा वाचक शब्द न होने के कारण आत्मा को अवक्तव्य कहा जाता है। विवक्षा, अविवक्षा और सहविवक्षा आश्रित उक्त तीन वाक्य रचनाओं के पारस्परिक विविध मिश्रण से और भी चार वाक्य रचनाएँ बनती हैं। जैसे— नित्यानित्य, नित्य-अवक्तव्य, अनित्य-अवक्तव्य और नित्य-अनित्य-अवक्तव्य। इन सात वाक्यरचनाओं को सप्तभंगी कहते हैं। इनमे पहले तीन वाक्य और तीन मे भी दो वाक्य मूल हैं। जैसे भिन्न भिन्न दृष्टि से सिद्ध नित्यत्व और अनित्यत्व को लेकर विवक्षावश किसी एक वस्तु मे सप्तभगी घटाई जा सकती है, वैसे और भी भिन्न भिन्न दृष्टिसिद्ध किन्तु परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले सत्त्व-असत्त्व, एकत्व-अनेकत्व, वाच्यत्व-अवाच्यत्व आदि धर्मयुग्मो को लेकर सप्तभंगी घटानी चाहिए। अतएव एक ही वस्तु अनेक धर्मात्मक और अनेक प्रकार के व्यवहार की विषय मानी गई है। ३१।

पौद्गलिक बन्ध के हेतु का कथन-

स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः। ३२।

स्निग्धत्व और रूक्षत्व से बन्ध होता है।

पौद्गलिक स्कन्ध की उत्पत्ति उसके अवयवभूत परमाणु आदि के

पारस्परिक संयोग मात्र से नहीं होती। इसके लिए संयोग के अलावा और भी कुछ अपेक्षित है। यह दिखाना इस सूत्रका उद्देश्य है। अवयवोंके पारस्परिक संयोगके उपरान्त उनमे स्निग्धत्व- चिकनापन, रूक्षत्व- रूखापन गुण का होना भी जरूरी है। जब स्निग्ध और रूक्ष अवयव आपसमे मिलते हैं, तब उनका बन्ध- एकत्वपरिणाम होता है, इसी बन्ध से द्व्यणुक आदि स्कन्ध बनते हैं।

स्निग्ध, रूक्ष अवयवो का श्लेष दो प्रकार का हो सकता है- सदृश और विसदृश। स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ श्लेष होना सदृश श्लेष है। स्निग्ध का रूक्ष के साथ संयोग होना विसदृश श्लेष है। ३२।

बन्ध के सामान्य विधान के अपवाद-

न जघन्यगुणानाम्। ३३।
गुणसाम्ये सदृशानाम्। ३४।
द्व्यधिकादिगुणानां तु। ३५।

जघन्य गुण--अंश वाले स्निग्ध और रूक्ष अवयवों का बन्ध नहीं होता।

समान अंश होने पर सदृश अर्थात् स्निग्ध स्निग्ध अवयवों का तथा रूक्ष रूक्ष अवयवों का बन्ध नहीं होता।

दो अंश अधिकवाले आदि अवयवों का तो बन्ध होता है।

प्रस्तुत सूत्रों मे पहला सूत्र बन्ध का निषेध करता है। इसके अनुसार जिन परमाणुओं मे स्निग्धत्व या रूक्षत्व का अंश जघन्य

हो उन जघन्य गुण परमाणुओ का पारस्परिक बन्ध नहीं हो सकता। इस निषेध से फलित होता है कि मध्यम और उत्कृष्ट संख्यक अंश वाले स्निग्ध, रूक्ष सभी अवयवो का पारस्परिक बन्ध हो सकता है, परन्तु इसमे भी अपवाद है, जो अगले सूत्र मे बतलाया गया है। उसके अनुसार सदृश अवयव जो समान अंश वाले हो उनका पारस्परिक बन्ध नहीं हो सकता। इससे समान अंश वाले स्निग्ध स्निग्ध परमाणुओ का तथा रूक्ष रूक्ष परमाणुओ का स्कन्ध नहीं बनता। इस निषेध का भी फलित अर्थ यह निकलता है कि असमान गुणवाले सदृश अवयवो का तो बन्ध हो सकता है। इस फलित अर्थ का संकोच करके तीसरे सूत्र मे सदृश अवयवों के असमान अंश की बन्धोपयोगी मर्यादा नियत कर दी गई है। तदनु-सार असमान अश वाले भी सदृश अवयवो में जब एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व से दूसरे अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो अश, तीन अंश, चार अंश आदि अधिक हो तभी उन दो सदृश अवयवों का बन्ध हो सकता है। अतएव अगर एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व की अपेक्षा दूसरे अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व सिर्फ एक अश अधिक हो तो उन दो सदृश अवयवो का बन्ध नहीं हो सकता।

श्वेताम्बर और दिगम्बर– दोनों परम्पराओं मे प्रस्तुत तीनो सूत्रो का पाठ भेद नहीं है, परन्तु अर्थभेद है। अर्थभेद मे ये तीन बातें ध्यान देने योग्य है– १ जघन्यगुण परमाणु एक संख्यावाला हो, तब बन्ध का होना या न होना। २ पैंतीसवें सूत्रमे आदिपद से तीन आदि संख्या लेना या नहीं। ३ पैंतीसवें सूत्र का बन्धविधान सिर्फ सदृश सदृश अवयवों के लिए मानना या नहीं।

१ भाष्य और वृत्ति के अनुसार दोनों परमाणु जब जघन्य गुण वाले हों, तभी उनका बन्ध निषिद्ध है, अर्थात् एक परमाणु जघन्य गुण हो और दूसरा जघन्य गुण न हो तो भाष्य तथा वृत्ति के अनुसार उनका बन्ध होता है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि आदि सभी दिगम्बरीय व्याख्याओ के अनुसार जघन्य गुण युक्त दो परमाणुओ के पारस्परिक बन्ध की तरह एक जघन्य गुण परमाणु का दूसरे अजघन्य गुण परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता।

२ भाष्य और वृत्ति के अनुसार पैंतीसवे सूत्र में आदिपद का तीन आदि संख्या अर्थ लिया जाता है। अतएव उसमे किसी एक अवयव से दूसरे अवयव मे स्निग्धत्व या रूक्षत्व के अंश दो, तीन, चार यावत् संख्यात असंख्यात, अनन्त अधिक होने पर भी बन्ध माना जाता है, सिर्फ एक अश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता। परन्तु दिगम्बरीय सभी व्याख्याओ के अनुसार सिर्फ दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है, अर्थात् एक अंश की तरह तीन, चार यावत् संख्यात असंख्यात अनन्त अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता है।

३ पैंतीसवें सूत्र मे भाष्य और वृत्ति के अनुसार दो, तीन आदि अंशों के अधिक होने पर जो बन्ध का विधान है वह सदृश अवयवो मे ही लागू पड़ता है, परन्तु दिगम्बरीय व्याख्याओ मे वह विधान सदृश सदृश की तरह असदृश परमाणुओ के बन्ध मे भी लागू पड़ता है।

इस अर्थ भेद के कारण दोनो परम्पराओ मे जो बन्ध विषयक विधि-निषेध फलित होता है, वह आगे के कोष्ठको मे दिखाया जाता है–

भाष्य-वृत्त्यनुसारी कोष्ठक

गुण–अंश	सदृश	विसदृश
१ जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२ जघन्य + एकाधिक	नहीं	है
३ जघन्य + द्व्यधिक	है	है
४ जघन्य + त्र्यादि अधिक	है	है
५ जघन्येतर + सम जघन्येतर	नहीं	है
६ जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
७ जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८ जघन्येतर + त्र्यादिअधिक जघन्येतर	है	है

सर्वार्थसिद्धि आदि के अनुसार कोष्ठक

गुण–अंश	सदृश	विसदृश
१ जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२ जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं
३ जघन्य + द्व्यधिक	नहीं	नहीं
४ जघन्य + त्र्यादि अधिक	नहीं	नहीं
५ जघन्येतर + सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
६ जघन्येतर + एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७ जघन्येतर + द्व्यधिक जघन्येतर	है	है
८ जघन्येतर + त्र्यादिअधिक जघन्येतर	नही	नहीं

स्निग्धत्व, रूक्षत्व दोनो स्पर्श विशेष है। ये अपनी अपनी जाति की अपेक्षा एक एक रूप होने पर भी परिणमन की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। तरतमता यहाँ तक होती है कि-निकृष्ट स्निग्धत्व और निकृष्ट रूक्षत्व तथा उत्कृष्ट स्निग्धत्व और उत्कृष्ट रूक्षत्व के वीच अनन्तानन्त अंशो का अन्तर पाया जाता है। उदाहरणार्थ, वकरी और ऊँटनी के दूध के स्निग्धत्व का अन्तर। दोनो मे स्निग्धत्व होता ही है, परन्तु एक मे वहुत कम और दूसरे मे वहुत अधिक। तरतमता वाले स्निग्धत्व और रूक्षत्व परिणामो में जो परिणाम सवसे निकृष्ट अर्थात् अविभाज्य हो वह जघन्य अंश कहलाता है। जघन्य को छोड़कर वाकी के सभी जघन्येतर कहलाते हैं। जघन्येतर मे मध्यम और उत्कृष्ट संख्या आ जाती है। जो स्निग्धत्व परिणाम सवसे अधिक हो वह उत्कृष्ट, और जघन्य तथा उत्कृष्ट के वीच के सभी परिणाम मध्यम हैं। जघन्य स्निग्धत्व की अपेक्षा उत्कृष्ट स्निग्धत्व अनन्तानन्त गुण अधिक होने से यदि जघन्य स्निग्धत्व को एक अंश कहा जाय, तो उत्कृष्ट स्निग्धत्व को अनन्तानन्त अंशपरिमित समझना चाहिए। दो, तीन यावत् संख्यात, असंख्यात, अनन्त और एक कम उत्कृष्ट तक के सभी अंश मध्यम समझने चाहिएँ।

यहाँ सदृश का अर्थ है स्निग्ध का स्निग्ध के साथ या रूक्ष का रूक्ष के साथ वंध होना, और विसदृश का अर्थ है स्निग्ध का रूक्ष के साथ वंध होना। एक अंश जघन्य और उससे एक अधिक अर्थात् दो अंश एकाधिक हैं। दो अंश अधिक हो तव द्व्यधिक और तीन अंश अधिक हो तव त्र्यधिक। इसी तरह चार अंश अधिक होने पर चतुरधिक यावत् अनन्तानन्त अधिक कहलाता है।

सम का मतलब सम संख्या से है। दोनो तरफ़ के अशो की सख्या वरावर हो तव वह सम है। दो अंश जघन्येतर का सम जघन्येतर दो अंश हैं, दो अश जघन्येतर का एकाधिक जघन्येतर तीन अश है, दो अंश जघन्येतर का द्व्यधिक जघन्येतर चार अश हैं, दो अंश जघन्येतर का त्र्यधिक जघन्येतर पॉच अश हैं और चतुरधिक जघन्येतर छ अंश हैं। इसी तरह तीन आदि से अनन्तांश जघन्येतर तक के सम, एकाधिक, द्व्यधिक और त्र्यादि अधिक जघन्येतर को समझ लेना। ३३-३५।

परिणाम का स्वरूप—

[1]वन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ। ३६।

वन्ध के समय सम और अधिक गुण, सम तथा हीन गुणके परिणमन करानेवाले होते हैं।

वन्ध का विधि और निषेध वतला देने पर प्रश्न होता है कि—जिन सदृश परमाणुओ का या विसदृश परमाणुओ का वन्ध होता है उनमे कौन किसको परिणत करता है ? इसका उत्तर यहाँ दिया गया है।

समांश स्थल मे सदृश वध तो होता ही नहीं, विसदृश होता है, जैसे—दो अश स्निग्ध का दो अश रूक्ष के साथ या तीन अंश स्निग्ध का तीन अंश रूक्ष के साथ। ऐसे स्थल मे कोई एक सम

---

१ दिगम्बरीय परम्परा मे "वन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च" ऐसा सूत्र पाठ है, तदनुसार उसमें एक सम का दूसरे सम को अपने स्वरूप में मिलाना इष्ट नहीं है। सिर्फ अधिक का हीन को अपने स्वरूप में मिला लेना इतना ही इष्ट है।

दूसरे सम को अपने रूप मे परिणत कर लेता है, अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार कभी स्निग्धत्व ही रूक्षत्व को स्निग्धत्व रूप मे बदल देता है और कभी रूक्षत्व स्निग्धत्व को रूक्षत्व रूप मे बदल देता है। परंतु अधिकांश स्थल मे अधिकांश ही हीनाश को अपने स्वरूप मे बदल सकता है, जैसे– पंचांश स्निग्धत्व तीन अश स्निग्धत्व को अपने स्वरूप मे परिणत करता है, अर्थात् तीन अश स्निग्धत्व भी पॉच अंश स्निग्धत्व के संबन्ध से पाँच अंश परिमाण हो जाता है। इसी तरह पॉच अंश स्निग्धत्व तीन अंश रूक्षत्व को भी स्व-स्वरूप मे मिला लेता है; अर्थात् रूक्षत्व स्निग्धत्व रूप में बदल जाता है। जब रूक्षत्व अधिक हो तब वह भी अपने से कम स्निग्धत्व को अपने स्वरूप अर्थात् रूक्षत्व स्वरूप बना लेता है। ३६।

द्रव्य का लक्षण–

(गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। ३७।

द्रव्य गुण-पर्याय वाला है।)

द्रव्य का उल्लेख तो पहले कई बार आ चुका है, इसलिए उसका लक्षण यहाँ बतलाया जाता है।

जिसमे गुण और पर्याय हों वह द्रव्य कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामी स्वभाव के कारण समय समय मे निमित्तानुसार भिन्न भिन्न रूप मे परिणत होता रहता है, अर्थात् विविध परिणामों को प्राप्त करता रहता है। द्रव्य में परिणाम जनन की जो शक्ति है वही उसका गुण कहलाता है और गुणजन्य परिणाम पर्याय कहलाता है। (गुण कारण है और पर्याय कार्य है।) एक द्रव्य में शक्तिरूप अनन्त गुण हैं; जो वस्तुत. आश्रयभूत द्रव्य से

या परस्पर मे अविभाज्य हैं। प्रत्येक गुण—शक्ति के भिन्न भिन्न समयो मे होनेवाले त्रैकालिक पर्याय अनन्त हैं। द्रव्य और उसकी अंश भूत शक्तियाँ उत्पन्न तथा विनष्ट न होने के कारण नित्य अर्थात् अनादि अनन्त है, परन्तु सभी पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न तथा नष्ट होते रहने के कारण व्यक्तिश. अनित्य अर्थात् सादि सान्त हैं और प्रवाह की अपेक्षा से पर्याय भी अनादि अनन्त हैं। कारणभूत एक शक्ति के द्वारा द्रव्य में होनेवाला त्रैकालिक पर्याय प्रवाह सजातीय है। द्रव्य मे अनन्त शक्तियो से तज्जन्य पर्याय प्रवाह भी अनन्त ही एक साथ चलते रहते हैं। भिन्न भिन्न शक्तिजन्य विजातीय पर्याय एक समय में एक द्रव्य में पाये जा सकते हैं, परन्तु एक शक्तिजन्य भिन्न भिन्न समयभावी सजातीय पर्याय एक द्रव्य मे एक समय में नहीं पाये जा सकते।

आत्मा और पुद्गल द्रव्य हैं, क्योंकि उनमे अनुक्रम से चेतना आदि तथा रूप आदि अनन्त गुण हैं और ज्ञान, दर्शन रूप विविध उपयोग आदि तथा नील, पीत आदि विविध अनन्त पर्याय हैं। आत्मा चेतनाशक्ति के द्वारा भिन्न भिन्न उपयोग रूप में और पुद्गल रूपशक्ति के द्वारा भिन्न भिन्न नील, पीत आदि रूप मे परिणत होता रहता है। चेतनाशक्ति आत्मद्रव्यसे और आत्मगत अन्य शक्तियो से अलग नहीं की जा सकती। इसी तरह रूपशक्ति पुद्गलद्रव्य से और पुद्गलगत अन्य शक्तियो से पृथक् नहीं हो सकती। ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न भिन्न समयवर्ती विविध उपयोगों के त्रैकालिक प्रवाह की कारणभूत एक चेतनाशक्ति है, और उस शक्ति का कार्यभूत पर्याय प्रवाह उपयोगात्मक है। पुद्गल में भी कारणभूत रूपशक्ति और नील, पीत आदि विविध वर्णपर्याय-

प्रवाह उस एक शक्ति का कार्य है। आत्मा में उपयोगात्मक पर्याय प्रवाह की तरह सुख-दुःख वेदनात्मक पर्याय प्रवाह, प्रवृत्त्यात्मक पर्याय प्रवाह आदि अनन्त पर्याय प्रवाह एक साथ चलते रहते हैं। इसलिए उसमे चेतना की तरह उस उस सजातीय पर्याय प्रवाह की कारणभूत आनन्द, वीर्य आदि एक एक शक्ति के मानने से अनन्त शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। इसी तरह पुद्गल मे भी रूपपर्याय प्रवाह की तरह गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्त पर्याय प्रवाह सदा चलते रहते हैं। इसलिए प्रत्येक प्रवाह की कारणभूत एक एक शक्ति के मानने से उसमे रूपशक्ति की तरह गन्ध, रस, स्पर्श आदि अनन्त शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। आत्मा में चेतना, आनन्द और वीर्य आदि शक्तियो के भिन्न भिन्न विविध पर्याय एक समय मे पाये जा सकते हैं, परंतु एक चेतना शक्ति के या एक आनन्द शक्ति के विविध उपयोग पर्याय या विविध वेदना पर्याय एक समय मे नहीं पाये जा सकते, क्योंकि प्रत्येक शक्ति का एक समय मे एक ही पर्याय व्यक्त होता है। इसी तरह पुद्गल में भी रूप, गन्ध आदि भिन्न भिन्न शक्तियो के भिन्न भिन्न पर्याय एक समय मे होते है, परंतु एक रूपशक्ति के नील, पीत आदि विविध पर्याय एक समय मे नहीं होते। जैसे आत्मा और पुद्गल द्रव्य नित्य है वैसे उनकी चेतना आदि तथा रूप आदि शक्तियाँ भी नित्य है। परंतु चेतना-जन्य उपयोग पर्याय या रूपशक्तिजन्य नील, पीत पर्याय नित्य नहीं है, किन्तु सदैव उत्पाद-विनाशशाली होने से व्यक्तिश. अनित्य है और उपयोग पर्याय प्रवाह तथा रूप पर्याय प्रवाह त्रैकालिक होने से नित्य है।

अनन्त गुणों का अखंड समुदाय ही द्रव्य है, तथापि आत्मा के

चेतना, आनन्द, चारित्र, वीर्य आदि परिमित गुण ही साधारण बुद्धि वाले छद्मस्थ की कल्पना मे आते हैं, सब गुण नहीं आते। इसी तरह पुद्गल के भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि कुछ ही गुण कल्पना मे आते है, सब नहीं। इसका कारण यह है कि– आत्मा या पुद्गल द्रव्य के सब प्रकार के पर्यायप्रवाह विशिष्टज्ञान के बिना जाने नहीं जा सकते। जो जो पर्यायप्रवाह साधारण बुद्धि से जाने जा सकते हैं, उनके कारणभूत गुणो का व्यवहार किया जाता है, इसलिए वे गुण विकल्प्य हैं। आत्मा के चेतना, आनन्द, चारित्र, वीर्य आदि गुण विकल्प्य अर्थात् विचार व वाणी के गोचर हैं और पुद्गल के रूप आदि गुण विकल्प्य है। बाकी के सब अविकल्प्य हैं जो सिर्फ केवलिगम्य है।

त्रैकालिक अनन्त पर्यायों के एक एक प्रवाह की कारणभूत एक एक शक्ति (गुण) और ऐसी अनन्त शक्तियों का समुदाय द्रव्य है, यह कथन भी भेद सापेक्ष है। अभेददृष्टि से पर्याय अपने अपने कारणभूत गुणस्वरूप और गुण द्रव्यस्वरूप होने से गुण-पर्यायात्मक ही द्रव्य कहा जाता है।

द्रव्य मे सब गुण एक से नहीं हैं। कुछ साधारण अर्थात् सब द्रव्यो मे पाये जाने वाले होते हैं, जैसे अस्तित्व, प्रदेशवत्त्व, ज्ञेयत्व आदि, और कुछ असाधारण अर्थात् एक एक द्रव्य मे पाये जाने वाले होते हैं, जैसे चेतना, रूप आदि। असाधारण गुण और तज्जन्य पर्याय के कारण ही प्रत्येक द्रव्य एक दूसरे से जुदा है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय द्रव्यो के गुण तथा पर्यायों का विचार भी इसी तरह कर लेना चाहिए। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि पुद्गलद्रव्य मूर्त होने से उसके गुण गुरुलघु तथा पर्याय भी गुरुलघु कहे जाते हैं। परन्तु शेष

सब द्रव्य अमूर्त होने से उनके गुण और पर्याय अगुरुलघु कहे जाते हैं । ३७ ।

काल का विचार-

कालश्चेत्येके । ३८ ।

सोऽनन्तसमयः । ३९ ।

कोई आचार्य कहते हैं कि— काल भी द्रव्य है ।

वह अनन्त समय (पर्याय) वाला है ।

पहले काल के वर्त्तना आदि अनेक पर्याय बतलाये गए हैं, परन्तु धर्मास्तिकाय आदि की तरह उसमें द्रव्यत्व का विधान नहीं किया है । इस लिए प्रश्न होता है कि क्या प्रथम विधान न करने के कारण काल द्रव्य नहीं है ? या वर्त्तना आदि पर्यायों का वर्णन करने के कारण काल द्रव्य है ? इन प्रश्नों का उत्तर यहाँ दिया है ।

सूत्रकार का कहना है कि कोई आचार्य काल को द्रव्यरूप से मानते हैं । इस कथन से सूत्रकार का तात्पर्य यह जान पड़ता है कि वस्तुत काल स्वतन्त्र द्रव्यरूप से सर्व सम्मत नहीं है ।

---

१ दिगम्बरीय परम्परा मे "कालश्च" ऐसा सूत्र पाठ है । तदनुसार वे लोग काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं । प्रस्तुत सूत्र को एकदेशीय मत परक न मान कर वे सिद्धान्त रूप से ही काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाला सूत्रकार का तात्पर्य बतलाते हैं । जो काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते हैं और जो मानते हैं वे सब अपने अपने मन्तव्य की पुष्टि किस प्रकार करते हैं, काल का स्वरूप कैसा बतलाते हैं, इसमें और भी कितने मतभेद हैं इत्यादि वातों को सविशेष जानने के लिए देखो, हिंदी चौथे कर्म ग्रथ मे काल विषयक परिशिष्ट पृ० १५७ ।

२ देखो अ० ५ सू० २२ ।

काल को अलग द्रव्य मानने वाले आचार्य[1] के मत का निराकरण सूत्रकार ने नहीं किया है, सिर्फ उसका वर्णन मात्र कर दिया है। इस वर्णन मे सूत्रकार कहते हैं कि काल अनन्त पर्याय वाला है। वर्त्तना आदि पर्याय तो पहले कहे जा चुके हैं। समयरूप पर्याय भी काल के ही हैं। वर्तमान कालीन समयपर्याय तो सिर्फ एक ही होता है, परन्तु अतीत, अनागत समय के पर्याय अनन्त होते हैं। इसीसे काल को अनन्त समय वाला कहा है। ३८, ३९।

गुण का स्वरूप–

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः । ४० ।

जो द्रव्य में सदा रहने वाले और गुण रहित हैं—वे गुण हैं।

द्रव्य के लक्षण मे गुण का कथन किया गया है, इसलिए उसका स्वरूप यहाँ बतलाया है।

यद्यपि पर्याय भी द्रव्य के ही आश्रित और निर्गुण हैं, तथापि वे उत्पाद-विनाश वाले होने से द्रव्य में सदा नहीं रहते, पर गुण तो नित्य होने के कारण सदा ही द्रव्याश्रित हैं। यही गुण और पर्याय का अन्तर है।

द्रव्य में सदा वर्त्तमान शक्तियाँ जो पर्याय की जनक रूप से मानी जाती हैं वे ही गुण हैं। उन गुणों मे फिर गुणान्तर या शक्त्यन्तर मानने से अनवस्था आती है, इसलिए द्रव्यनिष्ठ शक्तिरूप गुण निर्गुण ही माने गए हैं। आत्मा के गुण चेतना, सम्यक्त्व, चारित्र, आनन्द, वीर्य आदि और पुद्गल के गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि हैं।

---

१ देखो अ० ५ सू० ३७।

परिणाम का स्वरूप–

तद्भावः परिणामः । ४१ ।

उसका होना अर्थात् स्वरूप में स्थित रह कर उत्पन्न तथा नष्ट होना यह परिणाम है ।

पहले कई जगह परिणाम का भी कथन हुआ है । इससे यहाँ उसका स्वरूप बतलाया है ।

बौद्ध लोग वस्तु मात्र को क्षणस्थायी और निरन्वयविनाशी मानते हैं । इसलिए उनके मतानुसार परिणाम का अर्थ उत्पन्न हो कर सर्वथा नष्ट हो जाना अर्थात् नाश के बाद किसी तत्त्व का कायम न रहना ऐसा फलित होता है। नैयायिक आदि भेदवादी दर्शन जो गुण और द्रव्य का एकान्त भेद मानते हैं, उनके मतानुसार सर्वथा अविकृत द्रव्य मे गुणों का उत्पन्न तथा नष्ट होना ऐसा परिणाम का अर्थ फलित होता है । इन दोनों पक्षों के सामने परिणाम के स्वरूप के संबन्ध मे जैनदर्शन का मन्तव्यभेद दिखाना यही इस सूत्र का उद्देश्य है ।

कोई द्रव्य या कोई गुण ऐसा नहीं है जो सर्वथा अविकृत रह सके । विकृत अर्थात् अवस्थान्तरों को प्राप्त होते रहने पर भी कोई द्रव्य या कोई गुण अपनी मूल जाति–स्वभाव का त्याग नहीं करता । सारांश यह है कि द्रव्य हो या गुण, सभी अपनी अपनी जाति का त्याग किये बिना ही प्रतिसमय निमित्तानुसार भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहते हैं । यही द्रव्यो का तथा गुणों का परिणाम है ।

१ देखो अ० ५, सू० २९, ३६ ।

आत्मा चाहे मनुष्यरूप हो या पशुपक्षिरूप, पर उन भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहने पर भी उसमें आत्मत्व क़ायम रहता है। इसी तरह चाहे ज्ञानरूप साकार उपयोग हो या दर्शनरूप निराकार उपयोग हो, घट विषयक ज्ञान हो या पट विषयक, पर उन सब उपयोग पर्यायों मे चेतनात्व कायम रहता है। चाहे द्व्यणुक अवस्था हो या त्र्यणुक आदि, पर पुद्गल उन अनेक अवस्थाओं मे भी अपना पुद्गलत्व नहीं छोड़ता। इसी तरह शुक्लरूप बदल कर कृष्ण हो, या कृष्ण बदल कर पीत हो, तथापि उन विविध वर्णपर्यायो मे रूपत्व स्वभाव कायम रहता है। इसी तरह हरएक द्रव्य और उसके हरएक गुण के विषय मे घटा लेना चाहिए। ४१।

परिणाम के भेद तथा आश्रयविभाग–

अनादिरादिमांश्च। ४२।

रूपिष्वादिमान्। ४३।

योगोपयोगौ जीवेषु। ४४।

वह अनादि और आदिमान् दो प्रकारका है।

रूपी अर्थात् पुद्गल द्रव्यों में आदिमान् है।

जीवों में योग और उपयोग आदिमान् हैं।

जिसके काल की पूर्व कोटी जानी न जा सके वह अनादि और जिसके काल की पूर्व कोटी ज्ञात हो सके वह आदिमान् कहा जाता है। अनादि और आदिमान् शब्द का उक्त अर्थ जो सामान्य रूप से सर्वत्र प्रसिद्ध है, उसको मान लेने पर द्विविध परिणाम के आश्रय का विचार करते समय यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि द्रव्य चाहे रूपी हो या अरूपी, सब द्रव्यों मे अनादि और आदि-

मान् दोनों प्रकार का परिणाम पाया जाता है। प्रवाह की अपेक्षा से अनादि और व्यक्ति की अपेक्षा से आदिमान् परिणाम सब में समान रूप से घटाया जा सकता है। ऐसा होने पर भी प्रस्तुत सूत्रों में तथा उनके भाष्य तक में उक्त अर्थ संपूर्णतया तथा स्पष्टतया क्यों नहीं कहा ? यह प्रश्न भाष्य की वृत्ति में वृत्तिकार ने उठाया है और अन्त मे स्वीकार किया है कि वस्तुत सब द्रव्यों में अनादि तथा आदिमान् दोनो परिणाम होते हैं।

सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बरीय व्याख्या ग्रन्थो में तो सब द्रव्यों में दोनो प्रकार के परिणाम होने का स्पष्ट कथन है; और उसका समर्थन भी किया है कि द्रव्य– सामान्य की अपेक्षा से अनादि और पर्याय– विशेष की अपेक्षा से आदिमान् परिणाम समझना चाहिए।

दिगम्बर व्याख्याकारों ने बयालीस से चवालीस तक के तीन सूत्र सूत्रपाठ में न रख कर "तद्भाव परिणाम." इस सूत्र की व्याख्या में ही परिणाम के भेद और उनके आश्रय का कथन जो सम्पूर्णतया तथा स्पष्टतया किया है; उससे जान पड़ता है कि उनको भी परिणाम के आश्रयविभाग परक प्रस्तुत सूत्रों तथा उनके भाष्य में अर्थत्रुटि किंवा अस्पष्टता अवश्य मालूम हुई होगी। जिससे उन्होंने अपूर्णार्थक सूत्रों को पूर्ण करने की अपेक्षा अपने वक्तव्य को स्वतंत्र रूप से ही कहना उचित माना।

अस्तु, कुछ भी हो, परन्तु यहाँ पर एक प्रश्न होता है कि क्या इतने सूक्ष्मदर्शी और संग्राहक सूत्रकार के ध्यान में यह बात नहीं आई जो कि वृत्तिकार के ध्यान में आई अथवा सर्वार्थसिद्धि आदि व्याख्याओं में जो परिणाम का आश्रयविभाग संपूर्णतया दृष्टिगोचर होता है क्या वह सूत्रकार को नहीं सूझा ? भगवान् उमास्वाति के

लिए ऐसी मामूली बात के विषय मे त्रुटि की कल्पना किसी तरह नहीं की जा सकती। भगवान् उमास्वाति जैसे सूत्रकार की इस मामूली विषय मे अर्थत्रुटि मानने की अपेक्षा उनके कथन के तात्पर्य का अपना अज्ञान ही स्वीकार करना विशेष योग्य होगा। ऐसा हो सकता है कि अनादि और आदिमान् शब्द का जो अर्थ आज सर्वत्र प्रसिद्ध है और जो अर्थ व्यख्याकारों ने लिया है वह सूत्रकार को इष्ट न हो। शब्द के अनेक अर्थों मे से कोई एक अर्थ कभी इतना प्रसिद्ध हो जाता है और दूसरा अर्थ इतना अप्रसिद्ध हो जाता है कि जिससे कालान्तर में उस अप्रसिद्ध अर्थ को सुन कर पहले पहल यह ध्यान मे ही नहीं आता कि अमुक शब्द का यह भी अर्थ हो सकता है। जान पड़ता है अनादि और आदिमान् शब्द के कुछ और भी अर्थ सूत्रकार के समय मे प्रसिद्ध रहे होंगे और वे ही अर्थ उनके विवक्षित भी होंगे। अगर यह कल्पना ठीक है तो कहना चाहिए कि सूत्रकार को अनादि शब्दका आगमप्रमाण-ग्राह्य और आदिमान् शब्द का प्रत्यक्षग्राह्य ऐसा अर्थ इष्ट होगा। अगर यह कल्पना वास्तविक हो तो परिणाम के आश्रयविभाग के संबन्ध मे जो कुछ त्रुटि मालूम होती है वह नहीं रहती। उक्त अर्थ के अनुसार सीधा और सरल विभाग हो जाता है कि धर्मा-स्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन अरूपी द्रव्यों का परिणाम अनादि अर्थात् आगमप्रमाणग्राह्य है और पुद्गल का परिणाम आदिमान् अर्थात् प्रत्यक्षग्राह्य है, तथा अरूपी होने पर भी जीव के योग-उपयोग रूप परिणाम आदिमान्—प्रत्यक्षग्राह्य हैं, अर्थात् इसके शेष परिणाम आगमग्राह्य हैं।

छठा अध्याय ।

जीव और अजीव का निरूपण हो चुका, अब आस्रव का निरूपण क्रम प्राप्त है।

योग के वर्णन द्वारा आस्रवका स्वरूप—

कायवाङ्मनःकर्म योगः । १ ।

स आस्रवः । २ ।

काय, वचन और मन की क्रिया—योग है।

वही आस्रव अर्थात् कर्म का सम्बन्ध कराने वाला होने से आस्रवसञ्ज्ञक है।

वीर्यान्तराय के क्षयोपशम या क्षय से तथा पुद्गलों के आलम्बन से होनेवाला आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द—कम्पनव्यापार योग कहलाता है। इसके आलम्बनभेद से तीन भेद हैं—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। औदारिकादि शरीर वर्गणाके पुद्गलों के आलम्बनसे जो योग प्रवर्तमान होता है—वह काययोग। मतिज्ञानावरण, अक्षर-श्रुतावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न ऐसी आन्तरिक वाग्लब्धि होने पर वचन वर्गणा के आलम्बन से जो भाषा परिणाम के अभिमुख आत्मा का प्रदेश परिस्पन्द होता है—वह वाग्योग है। नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम रूप आन्तरिक मनोलब्धि होने पर मनोवर्गणा के अवलम्बन से जो मन परिणाम के अभिमुख आत्मा का प्रदेशकम्पन होता है—वह मनोयोग है।

उक्त तीनो प्रकार का योग ही आस्रव कहलाता है। योग को आस्रव कहने का कारण यह है कि योग के द्वारा ही आत्मा मे कर्म वर्गणा का आस्रवण– कर्मरूप से संवन्ध होता है। जैसे जलाशय मे जल को प्रवेश कराने वाले नाले आदि का मुख या द्वार आस्रव–वहन का निमित्त होने से आस्रव कहा जाता है, वैसे ही कर्मास्रव का निमित्त होने के कारण योग को आस्रव कहा जाता है। १,२।

योग के भेद और उनका कार्यभेद–

शुभः[1] पुण्यस्य । ३ ।

अशुभः पापस्य । ४ ।

शुभयोग पुण्य का आस्रव– बन्धहेतु है।

और अशुभयोग पापका आस्रव है।

काययोग आदि उक्त तीनो योग शुभ भी हैं और अशुभ भी। योग के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है। शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ और अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त

---

१ तीसरे और चौथे नबरवाले दो सूत्रों के स्थान मे 'शुभ पुण्यस्याशुभ पापस्य" ऐसा एक ही सूत्र तीसरे नबर पर दिगम्बरीय ग्रन्थों मे छपा है, परतु राजवार्त्तिकमें "तत सूत्रद्वयमनर्थकम्" ऐसा उल्लेख प्रस्तुत सूत्रों की चर्चा में मिलता है, देखो पृष्ठ २४८ वार्त्तिक ७ की टीका। इस उल्लेख से जान पड़ता है कि व्याख्याकारों ने दोनों सूत्र साथ लिखकर उन पर एक साथ ही व्याख्या की होगी और लिखने या छपानेवालों ने एक साथ सूत्र पाठ और साथ ही व्याख्या देखकर दोनों सूत्रों को अलग अलग न मानकर एक ही सूत्र समझा होगा और उनके ऊपर एक ही नबर लिख दिया होगा।

योग अशुभ है। कार्य– कर्मबन्ध की शुभाशुभता पर योग की शुभाशुभता अवलम्बित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से सभी योग अशुभ ही कहे जायँगे, कोई शुभ कहा न जा सकेगा, क्योंकि शुभ योग भी आठवें आदि गुणस्थानों में अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्ध का कारण होता है।

हिंसा, चोरी, अब्रह्म आदि कायिक व्यापार अशुभ काययोग और दया, दान, ब्रह्मचर्य पालन आदि शुभ काययोग है। सत्य किन्तु सावद्य भाषण, मिथ्या भाषण, कठोर भाषण आदि अशुभ वाग्योग और निरवद्य सत्य भाषण, मृदु तथा सभ्य आदि भाषण शुभ वाग्योग है। दूसरों की बुराई का तथा उनके वध का चिन्तन आदि करना अशुभ मनोयोग और दूसरों की भलाई का चिन्तन तथा उनका उत्कर्ष देखकर प्रसन्न होना आदि शुभ मनोयोग है।

शुभ योग का कार्य पुण्यप्रकृति का बन्ध और अशुभ योग का कार्य पाप प्रकृति का बन्ध है, ऐसा प्रस्तुत सूत्रों का विधान आपेक्षिक है; क्योंकि संक्लेश– कषाय की मन्दता के समय होनेवाला योग शुभ और संक्लेश की तीव्रता के समय होनेवाला योग अशुभ कहलाता है। जैसे अशुभ योग के समय प्रथम आदि गुणस्थानों में ज्ञानावरणीय आदि सभी पुण्य, पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध होता है, वैसे ही छठे आदि गुणस्थानों में शुभयोग के समय भी सभी पुण्य, पाप प्रकृतियों का यथासम्भव बन्ध होता ही है। फिर शुभयोग का पुण्य के बन्धकारण रूप से और अशुभ योग का

---

१ इसके लिए देखो हिंदी चौथा कर्मग्रंथ- गुणस्थानों में बन्धविचार; तथा हिंदी दूसरा कर्मग्रथ।

पाप के बन्धकारण रूप से अलग-अलग विधान कैसे संगत हो सकता है ? इसलिए प्रस्तुत विधान को मुख्यतया अनुभागबन्ध की अपेक्षा से समझना चाहिए। शुभ योग की तीव्रता के समय पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग– रस की मात्रा अधिक और पाप प्रकृतियों के अनुभाग की मात्रा हीन निष्पन्न होती है। इससे उलटा अशुभ योग की तीव्रता के समय पाप प्रकृतियों का अनुभागबन्ध अधिक और पुण्य प्रकृतियों का अनुभागबन्ध अल्प होता है। इसमें जो शुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की अधिक मात्रा और अशुभयोगजन्य पापानुभाग की अधिक मात्रा है, उसका प्राधान्य मान कर सूत्रों में अनुक्रम से शुभ योग को पुण्य का और अशुभ योग को पाप का बन्धकारण कहा है। शुभयोगजन्य पापानुभाग की हीन मात्रा और अशुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की हीन मात्रा विवक्षित नहीं है; क्योंकि लोगों की तरह शास्त्र में भी प्रधानता से व्यवहार करने का नियम प्रसिद्ध है।[1] ३, ४।

स्वामिभेद से योग का फलभेद–

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः । ५ ।

कषायसहित और कषायरहित आत्मा का योग अनुक्रमसे साम्परायिक कर्म और ईर्यापथ कर्म का बन्धहेतु– आस्रव होता है।

जिनमें क्रोध, लोभ आदि कषायों का उदय हो वह कषाय-

१ "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" यह न्याय जैसे– जहा ब्राह्मणों की प्रधानता हो या सख्या अधिक हो, अन्य वर्ण के लोग होने पर भी वह गॉव ब्राह्मणों का कहलाता है।

सहित और जिनमे न हो वह कषायरहित हैं। पहले से दसवें गुणस्थान तक के सभी जीव न्यूनाधिक प्रमाण मे सकषाय हैं और ग्यारहवे आदि आगे के गुणस्थान वाले अकषाय हैं।

आत्मा का सम्पराय– पराभव करनेवाला कर्म साम्परायिक कहलाता है। जैसे गीले चमड़े के ऊपर हवा द्वारा पड़ी हुई रज उसके साथ चिपक जाती है, वैसे योग द्वारा आकृष्ट होनेवाला जो कर्म कषायोदय के कारण आत्मा के साथ संबद्ध हो कर स्थिति पा लेता है, वह कर्म साम्परायिक है। सूखी भीत के ऊपर लगे हुए लकड़ी के गोले की तरह योग से आकृष्ट जो कर्म कषायोदय न होने के कारण आत्मा के साथ लग कर तुरंत ही छूट जाता है वह ईर्यापथ कर्म कहलाता है। ईर्यापथ कर्म की स्थिति सिर्फ एक समय की मानी गई है।

कषायोदय वाले आत्मा काययोग आदि तीन प्रकार के शुभ, अशुभ योग से जो कर्म बाँधते हैं वह साम्परायिक; अर्थात् कषाय की तीव्रता, मंदता के अनुसार अधिक या कम स्थिति वाला होता है; और यथासम्भव शुभाशुभ विपाक का कारण भी होता है। परंतु कषायमुक्त आत्मा तीनो प्रकार के योग से जो कर्म बाँधते हैं वह कषाय के अभाव के कारण न तो विपाकजनक होता है और न एक समय से अधिक स्थिति ही प्राप्त करता है। ऐसे एक समय की स्थिति वाले कर्म को ईर्यापथिक नाम देने का कारण यह है कि– वह कर्म कषाय के अभाव मे सिर्फ ईर्या– गमनागमनादि क्रिया के पथ द्वारा ही बाँधा जाता है। सारांश यह है कि तीनो प्रकार का योग समान होने पर भी अगर कषाय न हो तो उपार्जित कर्म में स्थिति या रस का बंध नहीं होता। स्थिति और रस दोनों का

बंधकारण कषाय ही है। अत एव कषाय ही संसार की असली जड़ है। ५।

साम्परायिक कर्मास्रव के भेद–

अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः । ६ ।

पूर्व के अर्थात् दो में से पहले साम्परायिक कर्मास्रव के अव्रत, कषाय, इन्द्रिय और क्रिया रूप भेद हैं जो अनुक्रम से संख्या में पाँच, चार, पाँच और पच्चीस हैं।

जिन हेतुओं से साम्परायिक कर्म का बन्ध होता है वे साम्परायिक कर्म के आस्रव कहलाते हैं। ऐसे आस्रव सकषाय जीवों मे ही पाये जा सकते हैं। प्रस्तुत सूत्र मे जिन आस्रवभेदों का कथन है वे साम्परायिक कर्मास्रव ही हैं, क्योंकि वे कषायमूलक हैं।

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पाँच अव्रत हैं, जिनका वर्णन अध्याय ७ के सूत्र ८ से १२ तक है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं, जिनका विशेषस्वरूप अध्याय ८, सूत्र १० में हैं। स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियों का वर्णन अध्याय २, सूत्र २० में आ चुका है। यहाँ इन्द्रिय का अर्थ उसकी राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति से है, क्योंकि सिर्फ स्वरूपमात्र से कोई इन्द्रिय कर्मबन्ध का कारण नहीं हो सकती और न इन्द्रियों की राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति ही कर्मबन्ध का कारण हो सकती है।

पच्चीस क्रियाओं के नाम और उनके लक्षण इस प्रकार हैं– १ सम्यक्त्वक्रिया वह है जो देव गुरु और शास्त्र की पूजाप्रतिपत्ति

रूप होने से सम्यक्त्व की पोषक है। २ मिथ्यात्व क्रिया वह है जो मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के बल से होनेवाली सराग देव की स्तुति, उपासना आदि रूप है। ३ शरीर आदि द्वारा जाने, आने आदि सकषाय प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है। ४ त्यागी होकर भोगवृत्ति की ओर झुकना समादान क्रिया है। ५ ईर्यापथकर्म—एक-सामयिक कर्म के बंधन या वेदन की कारणभूत क्रिया ईर्यापथक्रिया।

१ दुष्टभाव युक्त होकर प्रयत्न करना अर्थात् किसी काम के लिए तत्पर होना कायिकी क्रिया। २ हिंसाकारी साधनों को ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया। ३ क्रोध के आवेश से होनेवाली क्रिया प्रादोषिकी। ४ प्राणियों को सतानेवाली क्रिया पारितापनिकी। ५ प्राणियों को प्राणों[1] से वियुक्त करने की क्रिया प्राणातिपातिकी।

१ रागवश होकर रमणीय रूप को देखने की वृत्ति दर्शनक्रिया है। २ प्रमादवश होकर स्पर्श करने लायक वस्तुओं के स्पर्शानुभव की वृत्ति स्पर्शनक्रिया। ३ नये शस्त्रों को बनाना प्रात्ययिकी क्रिया है। ४ स्त्री, पुरुष और पशुओं के जाने आने की जगह पर मल, मूत्र आदि त्यागना समन्तानुपातनक्रिया। ५ अवलोकन और प्रमार्जन नहीं की हुई जगह पर शरीर आदि रखना अनाभोग-क्रिया है।

१ जो क्रिया दूसरे के करने की हो उसे स्वयं कर लेना स्वहस्तक्रिया। २ पापकारी प्रवृत्ति के लिए अनुमति देना निसर्ग-क्रिया। ३ दूसरे ने जो पापकार्य किया हो उसे प्रकाशित कर देना विदारणक्रिया। ४ पालन करने की शक्ति न होने से शास्त्रोक्त

---

१ पाच इन्द्रियां, मन-वचन-कायबल, उच्छ्वास-निःश्वास, और आयु-ये दश प्राण हैं।

आज्ञा के विपरीत प्ररूपणा करना आज्ञाव्यापादिकी अथवा आन-यनी क्रिया। ५ धूर्त्तता और आलस्य से शास्त्रोक्त विधि करने का अनादर अनवकांक्ष क्रिया है।

१ काटने पीटने और घात करने मे स्वय रत रहना और दूसरों की वैसी प्रवृत्ति देखकर खुश होना आरम्भक्रिया। २ जो क्रिया परिग्रह का नाश न होने के लिए की जाय वह पारिग्रहिकी। ३ ज्ञान, दर्शन आदि के विषय मे दूसरो को ठगना मायाक्रिया। ४ मिथ्यादृष्टि के अनुकूल प्रवृत्ति करने, कराने मे निरत मनुष्य को 'तू ठीक करता है' इत्यादि कहकर प्रशंसा आदि द्वारा और भी मिथ्यात्व में दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया। ५ संयमघातिकर्म के प्रभाव के कारण पापव्यापार से निवृत्त न होना अप्रत्याख्यान क्रिया है।

पॉच पॉच क्रियाओ का एक, ऐसे उक्त पॉच पंचकों में से सिर्फ ईर्यापथिकी क्रिया साम्परायिक कर्म का आस्रव नहीं है, और सब क्रियाएँ कषायप्रेरित होने के कारण साम्परायिक कर्म की बन्ध-कारण हैं। यहाँ जो उक्त सब क्रियाओ को साम्परायिक कर्मास्रव कहा है सो बाहुल्य की दृष्टि से समझना। यद्यपि अव्रत, इन्द्रिय-प्रवृत्ति और उक्त क्रियाओं की बन्धकारणता रागद्वेष पर ही अव-लम्बित है, इसलिए वस्तुत रागद्वेष– कषाय ही साम्परायिक कर्म का बन्धकारण है, तथापि कषाय से अलग अव्रत आदि का बन्ध-कारण रूप से सूत्र में जो कथन किया है वह कषायजन्य कौन कौन सी प्रवृत्ति व्यवहार मे मुख्यतया नजर आती है, और संवर के अभिलाषी को किस किस प्रवृत्ति को रोकने की ओर ध्यान देना चाहिए यह समझाने के लिए है। ६।

वंधकारण समान होने पर भी परिणामभेद से कर्मवध मे विशेषता-

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभाववीर्याऽधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ।७।

तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य और अधिकरण के भेद से उसकी अर्थात् कर्मवन्ध की विशेषता होती है।

प्राणातिपात, इन्द्रियव्यापार और सम्यक्त्वक्रिया आदि उक्त आस्रव- वंधकारण समान होने पर भी तज्जन्य कर्मवन्ध मे किस किस कारण से विशेषता होती है यही इस सूत्र में दिखाया है।

बाह्य वंधकारण समान होने पर भी परिणाम की तीव्रता और मंदता के कारण कर्मवन्ध भिन्न भिन्न होता है। जैसे एक ही दृश्य को देखनेवाले दो व्यक्तियो मे से मंद आसक्ति पूर्वक देखनेवाले की अपेक्षा तीव्र आसक्ति पूर्वक देखने वाला कर्म को तीव्र ही वाँधता है। इरादा पूर्वक प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है और इरादे के सिवाय कृत्य का हो जाना अज्ञातभाव है। ज्ञात और अज्ञात भाव में बाह्य व्यापार समान होने पर भी कर्मवंध मे फ़र्क पड़ता है। जैसे एक व्यक्ति हरिण को हरिण समझ कर वाण से वींध डालता है और दूसरा वाण चलाता है तो किसी निर्जीव निशान पर, किन्तु भूल से वीच मे वह हरिण को वींध डालता है। भूल से मारनेवाले की अपेक्षा समझ पूर्वक मारनेवाले का कर्मवध उत्कट होता है। वीर्य- शक्तिविशेष भी कर्मवंध की विचित्रता का कारण होता है। जैसे- दान, सेवा आदि कोई शुभ काम हो या हिंसा, चोरी आदि अशुभ काम हो, सभी शुभाशुभ कामो को वलवान् मनुष्य जिस आसानी और उत्साह से कर सकता है, निर्वल

मनुष्य उन्हीं कामो को वड़ी कठिनता से कर पाता है; इसलिए वलवान् की अपेक्षा निर्वल का शुभाशुभ कर्मवन्ध मन्द ही होता है।

जीवाजीव रूप अधिकरण के अनेक भेद कहे जानेवाले हैं। उनकी विशेषता से भी कर्मवंध में विशेषता आती है। जैसे—हत्या, चोरी आदि अशुभ और पर-रक्षण आदि शुभ काम करने वाले दो मनुष्यो मे से एक के पास अधिकरण—शस्त्र उग्र हो और दूसरे के पास मामूली हो, तो मामूली शस्त्र वाले की अपेक्षा उग्र शस्त्रधारी का कर्म वंध तीव्र होने का सम्भव है, क्योंकि उग्र शस्त्र के सन्निधान से उसमे एक प्रकार का आवेश अधिक रहता है।

यद्यपि वाह्य आस्रव की समानता होने पर भी जो कर्मवन्ध मे असमानता होती है, उसके कारण रूप से वीर्य, अधिकरण आदि की विशेषता का कथन सूत्र में किया है, तथापि कर्मबन्ध की विशेषता का खास निमित्त काषायिक परिणाम का तीव्र-मन्द भाव ही है। परंतु सज्ञानप्रवृत्ति, अज्ञानप्रवृत्ति और शक्ति की विशेषता कर्मबन्ध की विशेषता का कारण होती हैं, वे भी काषायिक परिणाम की विशेषता के द्वारा ही। इसी तरह कर्मबन्ध की विशेषता मे शस्त्र की विशेषता के निमित्तभाव का कथन भी काषायिक परिणाम की तीव्र-मदता के द्वारा ही समझना चाहिए। ७।

अधिकरण के दो भेद—

अधिकरणं जीवाजीवाः । ८ ।
आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषाय-विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः । ९ ।

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् । १० ।

अधिकरण, जीव और अजीव रूप है ।

आद्य– पहला जीवरूप अधिकरण क्रमशः संरम्भ, समारम्भ, आरम्भभेद से तीन प्रकार का, योगभेद से तीन प्रकारका; कृत, कारित, अनुमतभेद से तीन प्रकारका और कषायभेद से चार प्रकार का है ।

पर अर्थात् अजीवाधिकरण अनुक्रम से दो भेद, चार भेद, दो भेद और तीन भेद वाले निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग रूप है ।

शुभ, अशुभ सभी कार्य जीव और अजीव के द्वारा ही सिद्ध होते हैं, अकेला जीव या अकेला अजीव कुछ नहीं कर सकता; इसलिए जीव, अजीव दोनों अधिकरण अर्थात् कर्मबन्ध के साधन, उपकरण या शस्त्र कहलाते हैं । उक्त दोनो अधिकरण द्रव्यभाव रूप से दो दो प्रकार के हैं । जीव व्यक्ति या अजीव वस्तु द्रव्याधिकरण है; और जीवगत कषाय आदि परिणाम तथा छुरी आदि निर्जीव वस्तु की तीक्ष्णता रूप शक्ति आदि भावाधिकरण हैं । ८ ।

संसारी जीव शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करते समय एक सौ आठ अवस्थाओं मे से किसी न किसी अवस्था में वर्त्तमान अवश्य होता है । इसलिए वे अवस्थाएँ भावाधिकरण हैं; जैसे– क्रोधकृत कायसंरम्भ, मानकृत कायसंरम्भ, मायाकृत कायसंरम्भ, लोभकृतकायसंरम्भ ये चार; इसी तरह कृत पद के स्थान मे कारित तथा अनुमतपद

लगाने से क्रोधकारित कायसंरम्भ आदि चार, तथा क्रोध-अनुमत काय-संरम्भ आदि चार इस प्रकार कुल बारह भेद होते हैं। इसी तरह काय के स्थान में वचन और मन पद लगाने से बारह बारह भेद होते हैं, जैसे क्रोधकृत वचनसंरम्भ आदि तथा क्रोधकृत मनःसंरम्भ आदि। इन छत्तीस भेदों में संरम्भ पद के स्थान में समारम्भ और आरम्भ पद लगानेसे छत्तीस छत्तीस और भी भेद होते हैं। इन सबको मिलाने से कुल १०८ भेद हुए।

प्रमादी जीव का हिंसा आदि कार्यों के लिए प्रयत्न का आवेश संरम्भ कहलाता है, उसी कार्य के लिए साधनों को जुटाना समारम्भ और अन्त में कार्य को करना आरम्भ कहलाता है। अर्थात् कार्य की संकल्पात्मक सूक्ष्म अवस्था से लेकर उसको प्रकट रूप में पूरा कर देने तक तीन अवस्थाएँ होती हैं, जो अनुक्रम से संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ कहलाती हैं। योग के तीन प्रकार पहले कहे जा चुके हैं। कृत का मतलब स्वयं करना, कारित का मतलब दूसरे के द्वारा कराना और अनुमत का मतलब किसी के कार्य में सम्मत होना है। क्रोध, मान आदि चारों कषाय प्रसिद्ध हैं।

जब कोई संसारी जीव दान आदि शुभ या हिंसा आदि अशुभ कार्य से संबन्ध रखता है, तब या तो वह क्रोध से या मान आदि किसी अन्य कषाय से प्रेरित होता है। कषायप्रेरित होकर भी कभी वह उस काम को स्वयं करता है, या दूसरे से करवाता है, अथवा दूसरे के किये काम में सम्मत होता है। इसी तरह वह कभी उस काम के लिए कायिक, वाचिक और मानसिक संरम्भ, समारम्भ या आरम्भ से युक्त अवश्य होता है। ९।

परमाणु आदि मूर्त वस्तु, द्रव्य अजीवाधिकरण है। जीव की

शुभाशुभ प्रवृत्ति में उपयोगी होनेवाला मूर्त द्रव्य जिस जिस अवस्था मे वर्तमान पाया जा सकता है वह सब भाव अजीवाधिकरण है। यहाँ इस भावाधिकरण के मुख्य चार भेद बतलाए हैं। जैसे निर्वर्तना– रचना, निक्षेप– रखना, सयोग– मिलाना और निसर्ग– प्रवर्तन। निर्वर्त्तना के मूलगुणनिर्वर्तना और उत्तरगुणनिर्वर्तना ऐसे दो भेद है। पुद्गल द्रव्य की जो औदारिक आदि शरीररूप रचना अन्तरङ्ग साधन रूप से जीव को शुभाशुभ प्रवृत्ति मे उपयोगी होती है वह मूलगुणनिर्वर्तना और पुद्गल द्रव्य की जो लकड़ी, पत्थर आदि रूप परिणति बहिरङ्ग साधन रूप से जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति मे उपयोगी होती है वह उत्तरगुणनिर्वर्तना है।

निक्षेप के अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप, दुष्प्रमार्जितनिक्षेप, सहसानिक्षेप और अनाभोगनिक्षेप ऐसे चार भेद हैं। प्रत्यवेक्षण किये बिना ही अर्थात् अच्छी तरह देखे बिना ही किसी वस्तु को कहीं भी रख देना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेप है। प्रत्यवेक्षण करने पर भी ठीक तरह से प्रमार्जन किये बिना ही वस्तु को जैसे तैसे रख देना दुष्प्रमार्जित-निक्षेप है। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किये बिना ही सहसा अर्थात् जल्दी से वस्तु को रखना सहसानिक्षेप है। उपयोग के बिना ही किसी वस्तु को कहीं रख देना अनाभोगनिक्षेप है।

संयोग के दो भेद हैं, अन्न, जल आदि का संयोजन करना तथा वस्त्र, पात्र आदि उपकरणो का सयोजन करना– अनुक्रम से भक्तपान-संयोगाधिकरण और उपकरण-सयोगाधिकरण है।

शरीर का, वचन का और मन का प्रवर्तन अनुक्रम से काय-निसर्ग, वचननिसर्ग और मनोनिसर्ग रूप से तीन निसर्ग है। १०।

आठ प्रकारों में से प्रत्येक सांपरायिक कर्म के भिन्न भिन्न बन्धहेतुओं का कथन–

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः । ११ ।

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य । १२ ।

भूतव्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य । १३ ।

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य । १४ ।

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य । १५ ।

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः । १६ ।

माया तैर्यग्योनस्य । १७ ।

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य । १८ ।

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् । १९ ।

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि देवस्य २०

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः । २१ ।

विपरीतं शुभस्य । २२ ।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी सङ्घसाधुसमाधिवैयावृत्त्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकृत्त्वस्य । २३ ।

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य । २४ ।

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य । २५ ।

विघ्नकरणमन्तरायस्य । २६ ।

तत्प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण कर्म तथा दर्शनावरण कर्म के बन्धहेतु--आस्रव हैं ।

निज आत्मा में, पर आत्मा में या दोनों आत्मा में स्थित--विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असातवेदनीय कर्म के बन्धहेतु हैं ।

भूत-अनुकम्पा, व्रति-अनुकम्पा, दान, सराग सयमादि योग, क्षान्ति और शौच ये सातवेदनीय कर्म के बन्धहेतु हैं ।

केवलज्ञानी, श्रुत, सघ, धर्म और देव का अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्म का बन्धहेतु है ।

कषाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीय कर्म का बन्धहेतु है ।

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह ये नरकायु के बन्धहेतु हैं ।

माया तिर्यंच-आयु का बन्ध हेतु है ।

अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह, स्वभाव की मृदुता और स्वभाव की सरलता ये मनुष्य-आयु के बन्धहेतु हैं ।

---

१ इस सूत्र के स्थान में दिगम्बरीय परम्परा में 'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य' ऐसा सूत्र सत्रहवें नम्बर पर है, और अठारहवें नम्बर पर

शीलरहित और व्रतरहित होना तथा पूर्वोक्त अल्प आरम्भ आदि, सभी आयुओं के बन्धहेतु हैं।

सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप ये देवायु के बन्धहेतु हैं।

योग की वक्रता और विसंवाद ये अशुभ नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

'स्वभावमार्दवं च' यह दूसरा सूत्र है। ये दोनों सूत्र उक्त परंपरा के अनुसार मनुष्य-आयु के आस्रव के प्रतिपादक हैं।

१ दिगम्बरीय परंपरा के अनुसार इस सूत्र का ऐसा अर्थ है कि निःशीलत्व और निर्व्रतत्व ये दोनों नारक आदि तीन आयुओं के आस्रव हैं। और भोगभूमि में उत्पन्न मनुष्यों की अपेक्षा से निःशीलत्व और निर्व्रतत्व ये दोनों देवायु के भी आस्रव हैं। इस अर्थ में देवायु के आस्रव का समावेश होता है, जिसका वर्णन श्वेताम्बरीय भाष्य में नहीं आया, परन्तु इसी भाष्य की वृत्ति में वृत्तिकार ने विचारपूर्वक भाष्य की यह त्रुटि जान करके इस बात की पूर्ति आगमानुसार कर लेने के वास्ते विद्वानों को सूचित किया है।

२ दिगम्बरीय परंपरा में देवायु के प्रस्तुत सूत्र में इन आस्रवों के अलावा दूसरा एक और भी आस्रव गिनाया है, और उसके लिए इस सूत्र के बाद ही एक दूसरा "सम्यक्त्व च" ऐसा अलग ही सूत्र है। इस परंपरा के अनुसार उक्त सूत्र का अर्थ ऐसा है कि सम्यक्त्व सौधर्म आदि कल्पवासी देवों की आयु का आस्रव है। श्वेताम्बरीय परंपरा के अनुसार भाष्य में यह बात नहीं है। फिर भी वृत्तिकार ने भाष्यवृत्ति में दूसरे कई एक आस्रव गिनाते हुए सम्यक्त्व को भी ले लिया है।

विपरीत अर्थात् योग की अवक्रता और अविसंवाद शुभ नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शील और व्रतों में अत्यन्त अप्रमाद, ज्ञानमें सतत उपयोग तथा सतत संवेग, शक्ति के अनुसार त्याग और तप, संघ और साधु की समाधि और वैयावृत्त्य करना, अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत तथा प्रवचन की भक्ति करना, आवश्यक क्रिया को न छोड़ना, मोक्षमार्ग की प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये सब तीर्थंकर नामकर्म के बन्धहेतु हैं।

परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, सद्गुणों का आच्छादन और असद्गुणों का प्रकाशन ये नीच गोत्र के बन्धहेतु हैं।

उनका विपर्यय अर्थात् परप्रशंसा, आत्मनिन्दा आदि तथा नम्रवृत्ति और निरभिमानता ये उच्च गोत्रकर्म के बन्धहेतु हैं।

दानादि में विघ्न डालना अन्तरायकर्म का बन्धहेतु है।

यहाँ से लेकर इस अध्याय के अन्त तक प्रत्येक मूल कर्मप्रकृति के बन्धहेतुओं का क्रमशः वर्णन है। यद्यपि सब कर्मप्रकृतियों के बन्धहेतु सामान्य रूप से योग और कषाय ही हैं, तथापि कषायजन्य अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों में से कौन कौन सी प्रवृत्ति किस किस कर्म के बन्ध का हेतु हो सकती है, इसी बात को विभाग पूर्वक बतलाना प्रस्तुत प्रकरण का उद्देश्य है।

१ ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों पर द्वेष करना व रखना अर्थात् तत्त्वज्ञान के निरूपण के समय कोई अपने मन ही मन में

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों के बन्धहेतुओं का स्वरूप

तत्त्वज्ञान के प्रति, उसके वक्ता के प्रति, किंवा उसके साधनों के प्रति जलते रहते हैं, यही तत्प्रदोष– ज्ञानप्रद्वेष कहलाता है। २ कोई किसी से पूछे या ज्ञान का साधन माँगे, तब ज्ञान तथा ज्ञान के साधन अपने पास होने पर भी कलुपित भाव से यह कहना कि मैं नहीं जानता अथवा मेरे पास वह वस्तु है ही नहीं– वह ज्ञाननिह्नव है। ३ ज्ञान अभ्यस्त और परिपक्व हो, तथा वह देने योग्य भी हो, फिर भी उसके अधिकारी ग्राहक के मिलने पर उसे न देने की जो कलुपित वृत्ति– वह ज्ञानमात्सर्य है। ४ कलुषित भाव से ज्ञानप्राप्ति मे किसी को बाधा पहुँचाना ही ज्ञानान्तराय है। ५ दूसरा कोई ज्ञान दे रहा हो, तब वाणी अथवा शरीर से उसका निषेध करना– वह ज्ञानासादन है। ६ किसी ने उचित ही कहा हो, फिर भी अपनी उलटी मति के कारण अयुक्त भासित होने से उलटा उसके दोप निकालना– उपघात कहलाता है।

जब पूर्वोक्त प्रद्वेप, निह्नव आदि ज्ञान, ज्ञानी या उसके साधन आदि के साथ संबन्ध रखते हों, तब वे ज्ञानप्रद्वेप, ज्ञाननिह्नव आदि कहलाते हैं, और दर्शन– सामान्य बोध, दर्शनी अथवा दर्शन के साधन के साथ संबन्ध रखते हों, तब दर्शनप्रद्वेप, दर्शननिह्नव आदि रूप से समझना चाहिए।

प्र०– आसादन और उपघात मे क्या अन्तर है?

उ०– ज्ञान के विद्यमान होने पर भी उसकी विनय न करना, दूसरे के सामने उसे प्रकाशित न करना, उसके गुणो को न दरसाना– यह आसादन है, और उपघात अर्थात् ज्ञान को ही अज्ञान

मान कर उसे नष्ट करने का इरादा रखना, इन दोनो के बीच यही अन्तर है। ११।

१ बाह्य या आन्तरिक निमित्त से पीड़ा का होना दुःख है।

असातवेदनीय कर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

२ किसी हितैषी के संबन्ध के टूटने से जो चिन्ता व खेद होता है- वह शोक है। ३ अपमान से मन कलुषित होने के कारण जो तीव्र संताप होता है- वह ताप है। ४ गद्गद स्वर से आँसू गिराने के साथ रोना पीटना आक्रन्दन है। ५ किसी के प्राण लेना वध है। ६ वियुक्त व्यक्ति के गुणो का स्मरण होने से जो करुणाजनक रुदन होता है- वह परिदेवन कहलाता है।

उक्त दुःख आदि छः और उन जैसे अन्य भी ताड़न, तर्जन आदि अनेक निमित्त जब अपने मे, दूसरे मे या दोनो मे ही पैदा किये जायँ, तब वे उत्पन्न करने वाले के असातवेदनीय कर्म के बन्धहेतु बनते हैं।

प्र०- अगर दुःख आदि पूर्वोक्त निमित्त अपने में या दूसरे में उत्पन्न करने से असातवेदनीय कर्म के बन्धक होते है, तो फिर लोच, उपवास, व्रत तथा वैसे दूसरे नियम भी दुःखकारी होने से वे भी असातवेदनीय के बन्धक होने चाहिएँ, और यदि ऐसा हो, तब उन व्रत आदि नियमो का अनुष्ठान करने की बजाय उनका त्याग ही करना उचित क्यो नही?

उ०- उक्त दुःख आदि निमित्त जब क्रोध आदि आवेश से उत्पन्न हुए हो, तभी आस्रव के कारण बनते हैं, न कि सिर्फ सामान्य रीति से ही अर्थात् दुःखकारी होने मात्र से ही। सच्चे त्यागी या तपस्वी के चाहे कितने ही कठोर व्रत, नियमों का पालन करने

पर भी असातवेदनीय का बन्ध नहीं होता इसके दो कारण हैं– पहला यह कि सच्चा त्यागी चाहे कितना ही कठोर व्रत पालन करके दु:ख उठावे, पर वह क्रोध या वैसे ही दूसरे किसी दुष्ट भाव से नहीं, किन्तु सद्वृत्ति और सद्बुद्धि से प्रेरित हो कर ही उठाता है। वह कठिन व्रत धारण करता है सही, पर चाहे कितने ही दु खद प्रसंग क्यो न आ जाय, उसमे क्रोध, संताप आदि कषाय न होने से वे प्रसंग भी उसके लिए बन्धक नही बनते। दूसरा कारण यह है कि कई बार तो वैसे त्यागियो को कठोरतम व्रत, नियमो के पालन करने मे भी वास्तविक प्रसन्नता का अनुभव होता है और इसी कारण से वैसे प्रसंगों मे उनको दु ख या शोक आदि का सभव ही नहीं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि एक को जिन प्रसगों में दु:ख होता है, उसी प्रसंग मे दूसरे को दु:ख होता ही है– ऐसा नियम नहीं। इस लिए ऐसे नियम व्रतों के पालन में भी मानसिक रति के होने से उनके लिए वह दु ख रूप न हो कर सुख रूप ही होता है। जैसे, कोई दयालु वैद्य चीरफाड़ से किसी को दु ख देने मे निमित्त होने पर भी वह करुणा वृत्ति से प्रेरित होने के कारण पापभागी नहीं होता, वैसे सांसारिक दु ख दूर करने के लिए उसके ही उपायो को प्रसन्नता पूर्वक आजमाता हुआ त्यागी भी सद्वृत्ति के कारण पाप का बन्धक नहीं होता।

सातवेदनीय कर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

१ प्राणि मात्र पर अनुकम्पा रखना– वह भूतानुकम्पा अर्थात् दूसरे के दु ख को अपना ही दु:ख मानने का जो भाव– वह अनुकम्पा है। २ व्रत्यनुकम्पा अर्थात् अल्पांश रूप से व्रतधारी गृहस्थ और सर्वांश रूप से व्रतधारी त्यागी इन दोनो पर

विशेष प्रकार से अनुकम्पा रखना व्रत्यनुकम्पा है। ३ अपनी वस्तु दूसरों को नम्रभाव से अर्पण करना दान है। ४ सरागसंयमादि योग का अर्थ है सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप इन सबों में यथोचित ध्यान देना। संसार की कारण रूप तृष्णा को दूर करने के लिए तत्पर होकर संयम स्वीकार कर लेने पर भी जब कि मन में राग के संस्कार क्षीण नहीं होते— तब वह संयम सरागसंयम कहलाता है। कुछ संयम को स्वीकार करना संयमासंयम है। अपनी इच्छा से नहीं, किन्तु परतंत्रता से जो भोगों का त्याग किया जाता है, वह अकामनिर्जरा। बाल अर्थात् यथार्थ ज्ञान से शून्य मिथ्यादृष्टि वालों का जो अग्निप्रवेश, जलपतन, गोबर आदि का भक्षण, अनशन आदि तप है— वह बालतप। ५ क्षान्ति अर्थात् धर्मदृष्टि से क्रोधादि दोषों का शमन। ६ लोभवृत्ति और तत्समान दोषों का जो शमन है— वह शौच। १३।

दर्शनमोहनीय कर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

१ केवली का अवर्णवाद अर्थात् दुर्बुद्धि से केवली के असत्य दोषों को प्रकट करना, जैसे सर्वज्ञत्व के संभव का स्वीकार न करना और ऐसा कहना कि सर्वज्ञ होकर भी उसने मोक्ष के सरल उपाय न बतला कर जिनका आचरण शक्य नहीं ऐसे दुर्गम उपाय क्योंकर बतलाए हैं? इत्यादि। २ श्रुत का अवर्णवाद अर्थात् शास्त्र के मिथ्या दोषों को द्वेषबुद्धि से वर्णन करना, जैसे यह कहना कि यह शास्त्र अनपढ़ लोगों की प्राकृत भाषा में किंवा पण्डितों की जटिल संस्कृत आदि भाषा में रचित होने से तुच्छ है, अथवा इसमें विविध व्रत, नियम तथा प्रायश्चित्त आदि का अर्थहीन एवं परेशान करने वाला वर्णन है, इत्यादि। ३ साधु, साध्वी,

श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ के मिथ्या दोष प्रकट करना वह संघ-अवर्णवाद है। जैसे यो कहना कि साधु-लोग व्रत नियम आदि का व्यर्थ क्लेश उठाते हैं, साधुत्व तो सभव ही नहीं तथा उसका कुछ अच्छा परिणाम भी तो नहीं निकलता। श्रावकों के बारे मे ऐसा कहना कि वे स्नान, दान आदि शिष्ट प्रवृत्तियाँ नही करते, और न पवित्रता को ही मानते है, इत्यादि। ४ धर्म का अवर्णवाद अर्थात् अहिंसा आदि महान् धर्मों के मिथ्या दोष वतलाना जैसे यों कहना कि धर्म प्रत्यक्ष कहाँ दीखता है? और जो प्रत्यक्ष नहीं दीखता, उसके अस्तित्व का संभव ही कैसा? तथा ऐसा कहना कि अहिंसा से मनुष्य जाति किंवा राष्ट्र का पतन हुआ है, इत्यादि। ५ देवों का अवर्णवाद अर्थात् उनकी निन्दा करना, जैसे यो कहना कि देव तो हैं ही नही, और हो तो भी व्यर्थ ही हैं, क्यो कि वे शक्तिशाली होकर भी यहाँ आकर हम लोगो की मदद क्यो नही करते; तथा अपने संवन्धियो का दु ख दूर क्यो नहीं करते? इत्यादि। १४।

चारित्रमोहनीय कर्म के वन्धहेतुओं का स्वरूप

१ स्वय कपाय करना और दूसरो मे भी कपाय पैदा करना तथा कपाय के वश होकर अनेक तुच्छ प्रवृत्तियाँ करना— ये सव कपायमोहनीय कर्म के वन्ध के कारण हैं। २ सत्य धर्मका उपहास करना, गरीव या दीन मनुष्य की मश्करी करना, ठट्ठेवाजी की आदत रखना आदि हास्य वृत्तियाँ हास्य मोहनीय कर्म के वन्ध के कारण हैं। ३ विविध क्रीड़ाओं मे सलग्न रहना, व्रत-नियम आदि योग्य अकुश मे अरुचि रखना आदि रतिमोहनीय का आस्रव है। ४ दूसरो को वेचैन वनाना, किसी के आराम मे खलल डालना, हलके आदमियों की सगति करना आदि

अरतिमोहनीय के आस्रव हैं । ५ स्वयं शोकातुर रहना तथा दूसरों की शोक वृत्ति को उत्तेजित करना आदि शोकमोहनीय के आस्रव हैं । ६ स्वंय डरना और दूसरो को डराना भयमोहनीय का आस्रव है । ७ हितकर क्रिया और हितकर आचरणसे घृणा करना आदि जुगुप्सामोहनीय का आस्रव है । ८–१० ठगने की आदत, परदोपदर्शन आदि स्त्री वेद के आस्रव हैं । स्त्री जाति के योग्य, पुरुष जाति के योग्य तथा नपुंसक जाति के योग्य संस्कारो का अभ्यास करना ये तीनो क्रमश स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद के आस्रव हैं । १५ ।

१ प्राणियों को दु.ख पहुँचे, ऐसी कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना वह आरंभ । २ यह वस्तु मेरी है और मैं इसका मालिक हूं ऐसा संकल्प रखना– वह परिग्रह । जब अरंभ और परिग्रह वृत्ति बहुत ही तीव्र हो, तथा हिंसा आदि क्रूर कामों में सतत प्रवृत्ति हो, दूसरे के धन का अपहरण किया जावे, किंवा भोगों मे अत्यन्त आसक्ति बनी रहे, तब वे नरकायु के आस्रव होते हैं । १६ ।

नरकायु के कर्म के बंधहेतुओं का स्वरूप

छलप्रपञ्च करना किंवा कुटिल भाव रखना– वह माया है । उदाहरणार्थ– धर्मतत्त्व के उपदेश मे धर्म के नाम से मिथ्या बातो को मिलाकर उनका स्वार्थ बुद्धि से प्रचार करना तथा जीवन को शील से दूर रखना आदि सब माया कहलाती है, वही तिर्यंच आयु का आस्रव है । १७ ।

तिर्यंचआयु के कर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

मनुष्य-आयु के कर्मबन्धके हेतुओं का स्वरूप

आरंभ वृत्ति तथा परिग्रह वृत्ति को कम रखना, स्वभाव से ही अर्थात् बिना कहे सुने मृदुलता व सरलता का होना—यह मनुष्यआयु का आस्रव है। १८।

नारक, तिर्यंच और मनुष्य इन तीनों आयुओं के जो पहले भिन्न भिन्न वन्ध हेतु बतलाए है, उनके अलावा तीनों आयुओं के सामान्य बन्धहेतु भी हैं। प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं का कथन है। वे वन्धहेतु ये है—निःशीलत्व—शील से रहित होना, और निर्व्रतत्व—व्रतों से रहित होना। १ अहिंसा, सत्य आदि पाँच प्रधान नियमोंको व्रत कहते हैं। २ इन्हीं व्रतों की पुष्टि के लिए ही जो अन्य उपव्रत पालन किये जाते हैं, उन्हे शील कहते हैं, जैसे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। इसी प्रकार उक्त व्रतों के पालनार्थ ही जो क्रोध, लोभ आदि का त्याग है, उसे भी शील कहते हैं।

उक्त तीनों आयुओं के सामान्य वन्ध-हेतुओं का स्वरूप

व्रत का न होना निर्व्रतत्व एवं शील का न होना निःशीलत्व है। १९।

१ हिंसा, असत्य, चोरी आदि महान दोषों से विरति रूप संयम के लेने के वाद भी कषायों का कुछ अंश जब बाक़ी रहता है—तब वह सरागसंयम है। २ हिंसाविरति आदि व्रत जब अल्पांश में धारण किये जाते हैं, तब संयमासंयम हैं। ३ पराधीनता के कारण या अनुसरण के लिए जो अहितकर प्रवृत्ति किंवा आहार आदि का त्याग है—वह अकाम निर्जरा है और ४ बाल-

देवायुकर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

भाव से अर्थात् विवेक के विना ही जो अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, पर्वतप्रपात, विषभक्षण, अनशन आदि देहदमन करना- वह बाल तप है। २०।

१ योगवक्रता अर्थात् मन, वचन और काय की कुटिलता। कुटिलता का अर्थ है सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ। २ विसंवादन अर्थात् अन्यथा प्रवृत्ति कराना किंवा दो स्नेहियों के बीच भेद डालना। ये दोनों अशुभनाम कर्म के आस्रव हैं।

अशुभ और शुभ नामकर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

प्र०- इन दोनो मे अन्तर क्या है ?

उ०-स्व और पर की अपेक्षा से अन्तर समझना चाहिए। अपने ही बारे मे मन, वचन और काय की प्रवृत्ति भिन्न पड़े, तब योगवक्रता और यदि दूसरे के विषय में वैसा हो तब विसंवादन। जैसे कोई शुभ रास्ते जा रहा हो, उसे उलटा समझा कर 'ऐसे नहीं, पर ऐसे' यों कहकर खराब रास्ते डाल देना।

ऊपर जो कहा है, उससे उलटा अर्थात् मन, वचन और काय की सरलता- प्रवृत्ति की एकरूपता, तथा संवादन अर्थात् दो के बीच भेद मिटाकर एकता करा देना किंवा उलटे रास्ते जाते हुए को अच्छे रास्ते लगा देना- ये दोनों शुभनाम कर्म के आस्रव हैं। २१, २२।

१ दर्शन विशुद्धि का अर्थ है वीतराग के कहे हुए तत्त्वो पर निर्मल और दृढ़ रुचि। २ ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधनों के प्रति योग्य रीति से बहुमान रखना विनयसंपन्नता है।

तीर्थंकर नामकर्म के बन्धहेतुओं का स्वरूप

३ अहिंसा, सत्यादि मूलगुण रूप व्रत हैं और इन व्रतों के पालन

मे उपयोगी ऐसे जो अभिग्रह आदि दूसरे नियम हैं– वे शील हैं, इन दोनों के पालन मे कुछ भी प्रमाद न करना– वही शीलव्रतानतिचार है। ४ तत्त्वविषयक ज्ञान मे सदा जागरित रहना– वह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। ५ सांसारिक भोग जो वास्तव मे सुख के वदले दु ख के ही साधन वनते हैं, उनसे डरते रहना अर्थात् कभी भी लालच मे न पड़ना– वह अभीक्ष्ण संवेग है। ६ थोड़ी भी शक्ति को विना छिपाये हुए आहारदान, अभयदान, ज्ञान दान आदि दानो को विवेकपूर्वक देना– वह यथाशक्ति त्याग है। ७ कुछ भी शक्ति छुपाए विना विवेकपूर्वक हर तरह की सहन शीलता का अभ्यास करना– वह यथाशक्ति तप है। ८ चतुर्विध संघ और विशेष कर साधुओं को समाधि पहुँचाना अर्थात् वैसा करना जिससे कि वे स्वस्थ रहे– वह सघसाधुसमाधिकरण है। ९ कोई भी गुणी यदि कठिनाई में आ पड़े, उस समय योग्य रीति से उसकी कठिनाई को दूर करने का जो प्रयत्न है– वह वैयावृत्त्यकरण है। १०,११,१२,१३ अरिहंत, आचार्य, वहुश्रुत और शास्त्र इन चारो मे शुद्ध निष्ठा पूर्वक अनुराग रखना– वह अरिहंत, आचार्य, वहुश्रुत, प्रवचनभक्ति है। १४ सामायिक आदि षड्-आवश्यकों के अनुष्ठान को भाव से न छोड़ना– आवश्यकापरिहाणि है। १५ अभिमान छोड़ कर ज्ञानादि मोक्ष मार्ग को जीवन में उतारना, तथा दूसरो को उसका उपदेश देकर प्रभाव वढ़ाना– मोक्षमार्गप्रभावना है। १६ जैसे बछडे पर गाय स्नेह रखती है, वैसे ही साधर्मिको पर निष्काम स्नेह रखना– प्रवचनवात्सल्य कहलाता है। २३।

१ दूसरे की निन्दा करना वह परनिन्दा है। निन्दा का अर्थ

है सच्चे या झूठे दोषों को दुर्बुद्धि से प्रकट करने की वृत्ति । २ अपनी बड़ाई करना—वह आत्मप्रशंसा है। अर्थात् सच्चे या झूठे गुणो को प्रकट करने की जो वृत्ति—वह प्रशंसा है । ३ दूसरे में यदि गुण हों, तो उन्हे छिपाना और उनके कहने का प्रसंग पड़ने पर भी द्वेष, से उन्हे न कहना— वही दूसरे के सद्गुणों का अच्छादन है, तथा ४ अपने में गुण न होनेपर भी उनका प्रदर्शन करना— वही निज के असद्गुणो का उद्भावन कहलाता है । २४ ।

नीचगोत्र कर्म के आस्रवों का स्वरूप

१ अपने दोषों को देखना आत्मनिन्दा है । २ दूसरे के गुणो को देखना परप्रशंसा है । ३ अपने दुर्गुणो को प्रकट करना असद्गुणोद्भावन है । ४ अपने विद्यमान गुणो को छिपाना स्वगुणाच्छादन है । ५ पूज्य व्यक्तिओ के प्रति नम्र वृत्ति धारण करना नम्रवृत्ति है । ६ ज्ञान, संपत्ति आदि मे दूसरे से अधिकत्व होने पर भी उसके कारण गर्व धारण न करना अनुत्सेक कहलाता है । २५ ।

उच्चगोत्र कर्म के आस्रवों का स्वरूप

किसी को दान देने में या किसी को कुछ लेने मे अथवा किसी के भोग, उपभोग आदि में बाधा डालना किंवा मन में वैसी वृत्ति लाना विघ्नकरण है ।

अन्तराय कर्म के आस्रवों का स्वरूप

ग्यारहवें से छब्बीसवें सूत्र तक सांपरायिक कर्म की प्रत्येक मूल प्रकृति के जो भिन्न भिन्न आस्रव कहे हैं, वे सब उपलक्षण मात्र हैं, अर्थात् प्रत्येक मूल प्रकृति के गिनाए हुए आस्रवो के अलावा दूसरे भी उसी तरह के उन उन प्रकृतिओं के आस्रव न कहने पर भी स्वयं समझ लेने चाहिए । जैसे कि आलस्य, प्रमाद, मिथ्यो-

सांपरायिक कर्मों के आस्रव के विषय में विशेष वक्तव्य

प्रदेश आदि ज्ञानावरणीय किंवा दर्शनावरणीय के आस्रव रूप मे नहीं गिनाए है, तथापि उन्हे उनके आस्रवों में गिन लेना चाहिए। इसी तरह वध, बन्धन, ताडन आदि तथा अशुभ प्रयोग आदि असात वेदनीय के आस्रवो मे नहीं गिनाए है, फिर भी उन्हे उसके आस्रव समझना।

प्र०—प्रत्येक मूल प्रकृति के आस्रव भिन्न भिन्न बतलाए हैं, इसमे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ज्ञानप्रदोष आदि गिनाए हुए आस्रव सिर्फ ज्ञानावरणीय आदि कर्म के ही बन्धक हैं, अथवा ज्ञानावरणीय आदि के अलावा अन्य कर्मों के भी बन्धक हो सकते हैं ? यदि एक कर्म प्रकृति के आस्रव अन्य प्रकृति के भी बन्धक हो सकते हैं, तब प्रकृतिविभाग से आस्रवो का अलग अलग वर्णन करना ही व्यर्थ है, क्यो कि एक प्रकृति के आस्रव दूसरी प्रकृति के भी तो आस्रव हैं ही। और अगर किसी एक प्रकृति के गिनाए हुए आस्रव सिर्फ उसी प्रकृति के आस्रव हैं, दूसरी के नहीं—ऐसा माना जाय तब शास्त्र नियम मे विरोध आता है। शास्त्र नियम ऐसा है कि सामान्य रीति से आयु को छोड़ कर बाकी सातो प्रकृतिओ का बन्ध एक साथ होता है। इस नियम के अनुसार जब ज्ञानावरणीय का बन्ध होता है, तब अन्य वेदनीय आदि छहो प्रकृतिओ का बन्ध भी होता है, ऐसा मानना पड़ता है। आस्रव तो एक समय मे एक एक कर्मप्रकृति का ही होता है, किन्तु बन्ध तो एक समय में एक प्रकृति के अलावा दूसरी अविरोधी प्रकृतियों का भी होता है। अर्थात् अमुक आस्रव अमुक प्रकृति का ही बन्धक है, यह पक्ष शास्त्रीय नियम से बाधित हो जाता है। अत प्रकृतिविभाग से आस्रवो के विभाग करने का प्रयोजन क्या है ?

उ– यहाँ जो आस्रवों का विभाग दरसाया गया है, वह अनुभाग अर्थात् रसबन्ध की अपेक्षा से समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि किसी भी एक कर्मप्रकृति के आस्रवके सेवन के समय उस कर्म के अलावा दूसरी भी कर्म प्रकृतिओ का बन्ध होता है, यह शास्त्रीय नियम सिर्फ प्रदेश बन्ध के बारे मे ही घटाना चाहिए, न कि अनुभाग बन्ध के बारे मे। सारांश यह है कि आस्रवों का जो विभाग है, वह प्रदेशबन्ध की अपेक्षा से नहीं, किन्तु अनुभागबन्ध की अपेक्षा से है। अत' एक साथ अनेक कर्म प्रकृतियो का प्रदेशबन्ध मान लेने के कारण पूर्वोक्त शास्त्रीय नियम मे अड़चन नहीं आती, तथा प्रकृतिविभाग से *गिनाए हुए आस्रव भी* केवल उन उन प्रकृतिओं के अनुभागबन्ध मे ही निमित्त पड़ते हैं। इसलिए यहाँ जो आस्रवों का विभाग किया *गया* है, वह भी बाधित नहीं होता।

इस तरह व्यवस्था करने से पूर्वोक्त शास्त्रीय नियम और प्रस्तुत आस्रवो का विभाग दोनो अबाधित बने रहते है। ऐसा होने पर भी इतना विशेष समझ लेना चाहिए कि *अनुभागबन्ध* को आश्रित करके जो आस्रव के विभाग का समर्थन किया *गया* है, उसे भी मुख्यभाव की अपेक्षा से ही समझना। अर्थात् ज्ञानप्रदोष आदि आस्रवों के सेवन के समय ज्ञानावरणीय के अनुभाग का बन्ध मुख्यरूप से होता है, और उसी समय बँधने वाली इतर कर्म प्रकृतिओं के अनुभाग का गौण रूप से बन्ध होता है– इतना ही समझ लेना चाहिए। ऐसा तो माना ही नहीं जा सकता कि एक समय मे एक प्रकृति के ही अनुभाग का बन्ध होता है और दूसरी कर्मप्रकृतिओं के अनुभाग का बन्ध होता ही नहीं। कारण यह है

कि जिस समय जितनी कर्म प्रकृतिओं का प्रदेशबन्ध योग द्वारा संभव है, उसी समय कषाय द्वारा उतनी ही प्रकृतियों का अनुभाग बन्ध भी संभव है। इसलिए मुख्यरूप से अनुभागबन्ध की अपेक्षा को छोड़ कर आस्रव के विभाग का समर्थन अन्य प्रकार से ध्यान मे नहीं आता । २६ ।

सातवाँ अध्याय ।

सात वेदनीय के आस्रवों मे व्रती पर अनुकम्पा, और दान–ये दोनो गिनाए गये हैं। प्रसङ्गवशात् उन्हीं का विशेष खुलासा करने के लिए जैन परंपरा मे महत्त्व का स्थान रखने वाले व्रत और दान– दोनों का सविशेष निरूपण इस अध्याय मे किया जाता है।

व्रत का स्वरूप–

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् । १ ।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह से (मन, वचन, काय द्वारा) निवृत्त होना– व्रत है।

हिंसा, असत्य आदि दोषों का स्वरूप आगे कहेंगे। दोषो को समझ कर उनका त्याग स्वीकार करने के बाद फिर उनका सेवन न करना– यही व्रत है।

अहिंसा अन्य व्रतों की अपेक्षा प्रधान होने से उसका प्रथम स्थान है। खेत की रक्षा के लिए जैसे बाड़ होती है, वैसे ही अन्य सभी व्रत अहिंसा की रक्षा के लिए हैं, इसीसे अहिंसा को प्रधानता मानी गई है।

निवृत्ति और प्रवृत्ति– व्रत के ये दो पहलू हैं, इन दोनों के होने से ही वह पूर्ण बनता है। सत्कार्य मे प्रवृत्त होने का अर्थ है– उसके विरोधी असत्कार्यों से पहले निवृत्त हो जाना– यह अपने आप प्राप्त होता है। इसी तरह असत्कार्यों से निवृत्त होने

के व्रत का मतलब है उसके विरोधी सत्कार्यों मे मन, वचन, और काय की प्रवृत्ति करना– यह भी स्वत -प्राप्त है। यद्यपि यहाँ पर स्पष्ट रूप से दोषनिवृत्ति को ही व्रत कहा है, फिर भी उसमे सत्प्रवृत्ति का अंश आ ही जाता है। इसलिए यह समझना चाहिए कि–व्रत सिर्फ निष्क्रियता नहीं है।

प्र०– रात्रिभोजनविरमण व्रत के नाम से प्रसिद्ध है, तो फिर उसका सूत्र मे निर्देश क्यो नहीं किया ?

उ०– बहुत समय से रात्रिभोजनविरमण नामक भिन्न व्रत प्रसिद्ध है पर वास्तव मे वह मूल व्रत नहीं है। यह तो मूल व्रत से निष्पन्न होनेवाला एक तरह का आवश्यक व्रत है। ऐसे अन्य भी कई व्रत है, और कल्पना भी कर सकते हैं। किन्तु यहाँ पर तो मूल व्रत का ही निरूपण इष्ट होने से केवल उसी का वर्णन है। मूलव्रत में से निष्पन्न होनेवाले अन्य अवान्तर व्रत तो उसके व्यापक निरूपण मे आ ही जाते हैं। रात्रिभोजनविरमण यह अहिंसा व्रत मे से निष्पन्न होनेवाले अनेक व्रतों मे से एक व्रत है।

प्र०– अन्धकार मे न देख सकने से होनेवाले जन्तु नाश के कारण और दीपक जलाने से भी होनेवाले अनेक प्रकार के आरम्भ को दृष्टि मे रख कर ही रात्रि भोजन विरमण को अहिंसा व्रत का अग मानने मे आता है पर यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि– जहाँ पर अन्धकार भी न हो, और दीपक से होनेवाले आरम्भ का प्रसग भी न आवे– ऐसे शीतप्रधान देश मे, तथा जहाँ विजली का प्रकाश सुलभ हो, वहाँ पर रात्रिभोजन और दिवाभोजन– इन दोनो मे हिंसा की दृष्टि से क्या भेद है ?

उ०– उष्णप्रधान देश तथा पुराने ढंग के दीपक आदि की

व्यवस्था मे साफ़ दीख पड़नेवाली हिंसा की दृष्टि से ही रात्रि-भोजन को दिन के भोजन की अपेक्षा अधिक हिंसावाला कहा है। यह बात स्वीकार कर लेने पर और साथ ही किसी खास परिस्थिति मे दिन की अपेक्षा रात्रि को विशेष हिंसा का प्रसंग न भी आता हो– इस कल्पना को समुचित स्थान देने पर भी साधारण समुदाय की दृष्टि से और ख़ास कर त्यागी जीवन की दृष्टि से रात्रिभोजन से दिन का भोजन ही विशेष प्रशंसनीय है। इस मान्यता के कारण सक्षेप मे निम्न प्रकार से हैं–

१ आरोग्य की दृष्टि से बिजली या चन्द्रमा आदि का प्रकाश भले ही अच्छा हो, लेकिन वह सूर्य के प्रकाश जैसा सार्वत्रिक, अखण्ड तथा आरोग्यप्रद नहीं। इसलिए जहाँ दोनो संभव हो, वहाँ समुदाय के लिए आरोग्य की दृष्टि से सूर्य का प्रकाश ही अधिक उपयोगी है।

२ त्यागधर्म का मूल सन्तोष में है, इस दृष्टि से भी दिन की अन्य सभी प्रवृत्तियों के साथ भोजन की प्रवृत्ति को समाप्त कर लेना, तथा संतोषपूर्वक रात्रि के समय जठर को विश्राम देना– यही योग्य है। इससे भली भांति निद्रा आती है, और ब्रह्मचर्य पालन मे सहायता भी मिलती है और फलस्वरूप आरोग्य की वृद्धि होती है।

३ दिवसभोजन और रात्रिभोजन– इन दोनो मे से संतोष के विचार से यदि एक को ही चुनना हो, तब भी जागृत कुशल बुद्धि दिवसभोजन की तरफ़ ही झुकेगी– इस प्रकार आज तक का महान सतो का जीवनइतिहास कह रहा है।

व्रत के भेद–

देशसर्वतोऽणुमहती । २ ।

अल्प अश में विरति– वह अणुव्रत, और सर्वांश में विरति– वह महाव्रत है।

प्रत्येक त्यागाभिलाषी दोषो से निवृत्त होता है। किन्तु इन सब का त्याग एक जैसा नहीं होता और ऐसा होना विकास क्रम की दृष्टि से स्वाभाविक भी है। इस लिए यहाँ हिंसा आदि दोषों की थोड़ी या बहुत सभी निवृत्तियो को व्रत मान कर उनके सक्षेप मे दो भेद किये गए हैं।

१ हिंसा आदि दोषो से मन, वचन, काय द्वारा हर तरह से छूट जाना– यह हिंसाविरमण ही महाव्रत है। और–

२ चाहे जितना हो, लेकिन किसी भी अंश मे कम छूटना– ऐसा हिंसाविरमण अणुव्रत कहलाता है।

व्रतों की भावनाएँ–

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च[1]। ३।

उन व्रतों को स्थिर करने के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच पाँच भावनाएँ हैं।

अत्यन्त सावधानी के साथ विशेष विशेष प्रकार की अनुकूल प्रवृत्तियो का सेवन न किया जाय, तो स्वीकार करने मात्र से ही व्रत आत्मा मे नहीं उतर सकते। ग्रहण किये हुए व्रत जीवन मे

---

१ इस सूत्र मे जिन भावनाओं का निर्देश है, वे भावनाएं श्वेताम्बरीय परपरा के अनुसार भाष्य में ही मिलती है। इनके लिए अलग सूत्र नहीं। दिगम्बरीय परपरा में इन भावनाओं के वास्ते पॉच सूत्र ४–८ नम्बर तक अधिक हैं, देखो परिशिष्ट।

गहरे उतर सके, इसी लिए प्रत्येक व्रत के अनुकूल पड़ने वाली थोड़ी बहुत प्रवृत्तियाँ स्थूल दृष्टि से विशेष रूप मे गिनाई गई हैं, जो भावना के नाम से प्रसिद्ध हैं। यदि इन भावनाओ के अनुसार बराबर वर्ताव किया जाय, तो लिये हुए व्रत उत्तम औषध के समान प्रयत्नशील के लिए सुंदर परिणामकारक सिद्ध होंगे। वे भावनाएँ क्रमश निम्न प्रकार हैं–

१ ईर्यासमिति, मनोगुप्ति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपण समिति, और आलोकितपानभोजन– ये पाँचो भावनाएँ अहिंसा व्रत की हैं।

२ सत्यव्रत की अनुवीचिभाषण, क्रोधप्रत्याख्यान, लोभ-प्रत्याख्यान, निर्भयता और हास्यप्रत्याख्यान– ऐसी पाँच भावनाएँ है।

३ अचौर्यव्रत की अनुवीचिअवग्रहयाचन, अभीक्ष्णअवग्रह-याचन, अवग्रहावधारण, साधर्मिक के पास से अवग्रहयाचन और अनुज्ञापितपानभोजन– ये पाँच भावनाएँ है।

४ स्त्री, पशु अथवा नपुंसक द्वारा सेवित शयन आदि का वर्जन, रागपूर्वक स्त्रीकथा का वर्जन, स्त्रियो की मनोहर इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन, पूर्व मे किये हुए रतिविलास के स्मरण का वर्जन, और प्रणीतरसभोजन का वर्जन– ब्रह्मचर्य की ये पाँच भावनाएँ हैं।

५ मनोज्ञ या अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप तथा शब्द पर समभाव रखना अपरिग्रह की ये पाँच भावनाएँ हैं।

भावनाओं का खुलासा–

१ स्वपर को क्लेश न हो, इस प्रकार यतनापूर्वक गमन करना ईर्यासमिति है। मन को अशुभ ध्यान से बचाकर शुभ ध्यान मे लगाना–

मनोगुप्ति है। वस्तु का गवेषण, उसका ग्रहण या उपयोग इन तीन प्रकार की एषणा मे दोष न लगे, इस बात का उपयोग रखना– एषणासमिति है। वस्तु को लेते-छोड़ते समय अवलोकन व प्रमार्जन आदि द्वारा यतना रखना– आदाननिक्षेपण समिति है। खाने पीने की वस्तु को भली भाँति देख भाल कर ही लेना और लेने के बाद भी वैसे ही अवलोकन करके खाना या पीना आलोकितपानभोजन है।

२ विचारपूर्वक बोलना अनुवीचिभाषण है। क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य का त्याग करना– ये क्रमश बाकी की चार भावनाएँ हैं।

३ सम्यक् विचार करके ही उपयोग के लिए आवश्यक अवग्रह स्थान की याचना करना– अनुवीचिअवग्रहयाचन है। राजा, कुटुम्बपति, शय्यातर– जिसकी भी जगह माँग कर ली हो, ऐसे साधर्मिक आदि अनेक प्रकार के स्वामी हो सकते है। उनमे से जिस जिस स्वामी के पास से जो जो स्थान मांगने मे विशेष औचित्य प्रतीत हो, उनके पास से वही स्थान मागना तथा एक वार देने के बाद मालिक ने वापिस ले लिया हो, फिर भी रोग आदि के कारण खास ज़रूरत पड़े, तो वह स्थान उसके मालिक के पास से उसको क्लेश न होने पावे, इस विचार से वार वार माग कर लेना- अभीक्ष्णअवग्रहयाचन है। मालिक के पास से मागते समय ही अवग्रह का परिमाण निश्चित कर लेना– अवग्रहावधारण कहलाता है। अपने से पहले दूसरे किसी समान धर्मवाले ने कोई स्थान ले लिया हो, और उसी स्थान को उपयोग मे लाने का प्रसंग आ पड़े, तो उस साधर्मिक के पास से ही स्थान माग लेना– साधर्मिक के

पास से अवग्रहयाचन है। विधिपूर्वक अन्नपानादि लाने के बाद गुरु को दिखला कर उनकी अनुज्ञा ले कर ही उसको उपयोग में लाना– वह अनुज्ञापितपानभोजन है।

४ ब्रह्मचारी पुरुष या स्त्री का– अपने से विजातीय व्यक्ति द्वारा सेवित शयन व आसन का त्याग करना, स्त्रीपशुपण्डकसेवित-शयनासनवर्जन है। ब्रह्मचारी का कामवर्धक बातें न करना– रागसंयुक्त स्त्रीकथा वर्जन है। ब्रह्मचारी का अपने से विजातीय व्यक्ति के कामोद्दीपक अंगो को न देखना– मनोहरेन्द्रियालोकवर्जन है। ब्रह्मचर्य स्वीकार करने से पहले जो भोग भोगे हों, उनका स्मरण न करना– वह प्रथम के रतिविलास के स्मरण का वर्जन है। कामोद्दीपक रसयुक्त खानपान का त्याग करना– प्रणीतरस-भोजन वर्जन है।

५ राग पैदा करनेवाले स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पर न ललचाना और द्वेष पैदा करनेवाले हों, तो रुष्ट न होना– वे क्रमश मनोज्ञामनोज्ञस्पर्शसमभाव एवं मनोज्ञामनोज्ञरससमभाव आदि पाँच भावनाएँ हैं।

जैन धर्म त्यागलक्षी होने से जैन संघ मे महाव्रतधारी साधु का ही प्रथम स्थान है। यही कारण है यहाँ पर महाव्रत को लक्ष्य में रख कर साधु धर्म के अनुसार ही भावनाओ का वर्णन किया गया है। फिर भी ऐसा तो है ही कि– कोई भी व्रतधारी अपनी अपनी भूमिका के अनुसार इनमे संकोचविस्तार कर सके। इस-लिए देश काल की परिस्थिति और आन्तरिक योग्यता को ध्यान मे रखकर– सिर्फ व्रत की स्थिरता के शुद्ध उद्देश से ये भावनाएँ संख्या तथा अर्थ मे घटाई, बढ़ाई तथा पल्लवित की जा सकती हैं।

अन्य कितनीक भावनाएँ–

हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम् । ४ ।
दुःखमेव वा । ५ ।
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाविनेयेषु । ६ ।
जगत्कायस्वभावौ च संवेगवैराग्यार्थम् । ७ ।

हिंसा आदि पाँच दोषों में ऐहिक आपत्ति और पारलौकिक अनिष्ट का दर्शन करना ।

अथवा उक्त हिंसा आदि दोषों में दुःख ही है, ऐसी भावना करना ।

प्राणिमात्र में मैत्री वृत्ति, गुणाधिकों में प्रमोद वृत्ति, दुःख पानेवालों में करुणा वृत्ति, और जड़ जैसे अपात्रों में माध्यस्थ्य वृत्ति रखना ।

संवेग तथा वैराग्य के लिए जगत् के स्वभाव और शरीर के स्वभाव का विचार करना ।

जिसका त्याग किया जावे, उसके दोषों का वास्तविक दर्शन होने से ही त्याग टिक सकता है । यही कारण है अहिंसा आदि व्रतों की स्थिरता के वास्ते हिंसा आदि में उनके दोषों का दर्शन करना आवश्यक माना गया है । यह दोषदर्शन यहाँ पर दो तरह से बताया गया है । अहिंसा, असत्य आदि के सेवन से जो ऐहिक आपत्तियाँ अपने को अथवा दूसरों को अनुभव करनी पड़ती हैं, उनका

भान सदा ताजा रखना– यही ऐहिक दोषदर्शन है। तथा इन्हीं हिंसा आदि से जो पारलौकिक अनिष्ट की संभावना की जा सकती है, उसका ख्याल रखना– वही पारलौकिक दोषदर्शन है। इन दोनों तरह के दोषदर्शनों के संस्कारो को बढ़ाते रहना अहिंसा आदि व्रतों की भावनाएँ हैं।

पहले की तरह ही त्याज्य वृत्तियों में दुःख के दर्शन का अभ्यास किया हो, तभी उनका त्याग भलीभांति टिक सकता है। इसके लिए हिंसा आदि दोषों को दुःख रूप से मानने की वृत्ति के अभ्यास (दुःखभावना) का यहाँ उपदेश दिया गया है। अहिंसादि व्रतों का धारक हिंसा आदि से अपने को होनेवाले दुःख के समान दूसरों को भी उससे होनेवाले दुःख की कल्पना करे– यही दुःख भावना है। और यह भावना इन व्रतों के स्थिरीकरण में उपयोगी भी है।

दूसरे मे अपनेपन की बुद्धि, और इसी लिए अपने समान ही दूसरे को दुःखी न करने की वृत्ति अथवा इच्छा ।

२ कई बार मनुष्य को अपने से बढ़े हुए को देख कर ईर्ष्या होती है । इस वृत्ति का नाश न हो जाय, तब तक अहिंसा, सत्य आदि टिक ही नहीं सकते । इसीलिए ईर्ष्या के विरुद्ध प्रमोद गुण की भावना करने को कहा है । प्रमोद अर्थात् अपने से अधिक गुणवान् के प्रति आदर करना, तथा उसके उत्कर्ष को देखकर खुश होना । इस भावना का विषय सिर्फ अधिक गुणवान् ही है। क्योंकि उसके प्रति ही ईर्ष्या– असूया आदि दुर्वृत्तियो का संभव है ।

३ किसी को पीड़ा पाते हुए देख कर भी यदि अनुकम्पा का भाव पैदा न हो, तो अहिंसा आदि व्रत कथमपि निभ नहीं सकते, इसलिए करुणा की भावना को आवश्यक माना गया है । इस भावना का विषय सिर्फ क्लेश से पीड़ित दु'खी प्राणी है, क्योंकि अनुग्रह तथा मदद की अपेक्षा दु खी, दीन व अनाथ को ही रहती है ।

४ सर्वदा और सर्वत्र सिर्फ प्रवृत्तिरूप भावनाएँ ही साधक नहीं होती, कई बार अहिंसा आदि व्रतो को स्थिर करने के लिए सिर्फ तटस्थ भाव ही धारण करना उपयोगी होता है । इसी कारण से माध्यस्थ्य भावना का उपदेश किया गया है । माध्यस्थ्य का अर्थ है उपेक्षा या तटस्थता । जब बिलकुल संस्कारहीन अथवा किसी तरह की भी सद्वस्तु ग्रहण करने के अयोग्य पात्र मिल जाय, और यदि उसे सुधारने के सभी प्रयत्नों का परिणाम अन्तत शून्य ही दिखाई पड़े, तब ऐसे के प्रति तटस्थ भाव रखना ही अच्छा है । अत. माध्यस्थ्य भावना का विषय अविनेय– अयोग्य पात्र इतना ही है ।

संवेग तथा वैराग्य न हों, तो अहिसा आदि व्रतों का संभव ही नही हो सकता। अतः इस व्रत के अभ्यासी के लिए संवेग और वैराग्य तो पहले आवश्यक हैं। संवेग किंवा वैराग्य का बीजवपन जगतस्वभाव तथा शरीरस्वभाव के चिन्तन से होता है इसीलिए इन दोनों के स्वभाव के चिन्तन का भावनारूप मे यहाँ उपदेश किया है।

प्राणिमात्र थोड़े बहुत दुःख का अनुभव तो करते ही रहते हैं। जीवन सर्वथा विनश्वर है, और दूसरी वस्तुएँ भी कोई नहीं ठहरती। इस तरह के जगत्स्वभाव के चिन्तन मे से ही संसार के प्रति मोह दूर हो कर उससे भय– संवेग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार शरीर के अस्थिर, अशुचि और असारता के स्वभावचिन्तन में से ही बाह्याभ्यन्तर विषयो की अनासक्ति– वैराग्य उदित होता है। ४-७।

हिंसा का स्वरूप–

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। ८।

प्रमत्त योगसे होनेवाला जो प्राण वध– वह हिंसा है।

अहिसा आदि जो पॉच व्रतो का निरूपण पहले किया है, उनको भली भाति समझने और जीवन मे उतारने के लिए विरोधी दोषो का स्वरूप यथार्थ रूप से समझना ज़रूरी है। अत इन पाँच दोषों का निरूपण का प्रकरण शुरू किया जाता है। उनमे से प्रथम दोष– हिंसा की व्याख्या इस सूत्र मे की गई है।

हिंसा की व्याख्या दो अंशो द्वारा पूरी की गई है। पहिला अश है– प्रमत्तयोग अर्थात् रागद्वेषयुक्त किंवा असावधान प्रवृत्ति.

और दूसरा है– प्राणवध । पहला अश कारण रूप में, और दूसरा कार्य रूप मे है । इससे फलित अर्थ ऐसा होता है कि जो प्राणवध प्रमत्तयोग से हो– वह हिंसा है ।

प्र०– किसी के प्राण लेना या किसी को दु ख देना– वह हिसा है । हिसा का यह अर्थ सबों के द्वारा जाने जा सकने योग्य और बहुत प्रसिद्ध भी है । फिर भी इस अर्थ मे प्रमत्तयोग इस अंश के जोड़ने का कारण क्या है ?

उ०– जब तक मनुष्य समाज मे विचार और व्यवहार उच्च संस्कार युक्त प्रविष्ट नहीं हुए होते, तब तक मनुष्य समाज और अन्य प्राणियो के बीच जीवन व्यवहार में खास अन्तर नही पड़ता। जैसे पशु, पक्षी, वैसे ही वैसे समाज के मनुष्य भी मानसिक वृत्तियों से प्रेरित हो कर जाने या अनजाने जीवन की आवश्यकताओ के निमित्त अथवा जीवन की आवश्यकताओं के विना ही दूसरे के प्राण लेते हैं । मानव समाज की हिंसामय इस प्राथमिक दशा मे जब किसी एकाध मनुष्य के विचार में हिंसा के स्वरूप के बारे मे जागृति होती है, तब वह प्रचलित हिंसा को अर्थात् प्राण नाश को दोषरूप बतलाता है । और दूसरे के प्राण न लेने को कहता है । एक तरफ हिसा जैसी प्रथा के पुराने संस्कार और दूसरी तरफ़ अहिंसा की नवीन भावना का उदय—इन दोनो के बीच संघर्ष होते समय हिसकवृत्ति की ओर से हिंसा निषेधक के सामने कितने ही प्रश्न अपने आप खड़े होने लगते हैं, और वे उसके सामने रक्खे जाते हैं । वे प्रश्न संक्षेप मे तीन हैं—

१ अहिसा के पक्षपाती भी जीवन तो धारण करते ही है, और यह जीवन किसी न किसी तरह की हिंसा किये विना निभ सके,

ऐसा न होने से जीवन के वास्ते उनकी तरफ से जो हिंसा होती है, वह हिंसा दोष मे आ सकती है, या नहीं ?

२ भूल और अज्ञान– इनका जब तक मानुषी वृत्ति मे सर्वथा अभाव सिद्ध न हो जाय तब तक अहिंसा के पक्षपातियों के हाथ से अनजानपने या भूल से किसी के प्राणनाश का होना तो संभव ही है, अतः ऐसा प्राणनाश हिंसा दोष मे आयगा या नहीं ?

३ कितनी ही बार अहिंसक वृत्तिवाला किसी को बचाने या उसको सुख-आराम पहुँचाने का प्रयत्न करता है, परन्तु परिणाम उलटा ही निकलता है, अर्थात् बचाये जानेवाले के प्राण चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्राणनाश हिंसा दोष में आयगा या नहीं ?

ऐसे प्रश्नो के उपस्थित होने पर उनके उत्तर देते समय हिंसा और अहिंसा के स्वरूप की विचारणा गम्भीर बन जाती है। फलतः हिंसा और अहिंसा का अर्थ भी विशाल हो जाता है। किसी के प्राण लेना या बहुत हुआ तो उसके निमित्त किसी को दुःख देना– ऐसा जो हिंसा का अर्थ समझा जाता था तथा किसी के प्राण न लेना और उसके निमित्त किसी को दु ख न देना ऐसा जो अहिंसा का अर्थ समझा जाता था– उसके स्थान में अहिंसा के विचारकों ने सूक्ष्मता से विचार करके निश्चय किया कि सिर्फ किसी के प्राण लेना या किसी को दु:ख देना– इसमे हिंसा दोष है ही, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि प्राणवध या दुःख देने के साथ ही उसके पीछे वैसा करने वाले की भावना क्या है, उसका विचार करके ही हिंसा की सदोपता या निर्दोपता का निर्णय किया जा सकता है। वह भावना अर्थात् राग द्वेष की विविध ऊर्मियाँ तथा असावधानता जिसको शास्त्रीय परिभाषा मे प्रमाद कहते हैं। ऐसी अशुभ किंवा क्षुद्र भावना

से ही यदि प्राणनाश हुआ हो, या दुःख दिया हो, वही हिंसा है, और वही हिंसा दोषरूप भी है। ऐसी भावना के बिना यदि प्राण-नाश हुआ हो, या दुःख दिया हो तो वह देखने में भले ही हिंसा कहलाए, लेकिन दोषकोटि मे नहीं आ सकती। इस तरह हिंसक समाज मे अहिंसा के संस्कार के फैलने और उसके कारण विचार-विकास के होने से दोषरूप हिंसा की व्याख्या के लिए सिर्फ 'प्राण नाश' इतना ही अर्थ पर्याप्त नहीं हो सका, इसीलिए उसमे 'प्रमत्त योग' इस महत्त्व के अंश की वृद्धि की गई।

प्र०— हिंसा की इस व्याख्या पर से यह प्रश्न होता है कि यदि प्रमत्तयोग के बिना ही प्राणवध हो जाय, तब उसे हिंसा कहे, या नहीं? इसी तरह यदि प्राणवध तो न हुआ हो, लेकिन प्रमत्तयोग हो, तब उसे भी हिंसा गिनें या नहीं? यदि इन दोनो स्थलों में हिंसा गिनी जाय, तो वह हिंसा प्रमत्तयोगजनित प्राणवध रूप हिंसा की कोटि की ही होगी, या उससे भिन्न प्रकार की?

उ०— सिर्फ प्राणवध स्थूल होने से दृश्य हिंसा तो है ही जब कि सिर्फ प्रमत्तयोग सूक्ष्म होने से अदृश्य है। इन दोनों मे दृश्यत्व, अदृश्यत्व रूप अन्तर के अलावा एक और ध्यान देने योग्य महत्त्व का अन्तर है, और उसके ऊपर ही हिंसा की सदोषता या अदोषता का आधार भी है। देखने में भले ही प्राणनाश हिंसा हो, फिर भी वह दोषरूप ही है, ऐसा एकान्त नहीं, क्योंकि उसकी दोषरूपता स्वाधीन नहीं है। हिंसा की सदोषता हिंसक की भावना पर अवलम्बित है। अतः वह पराधीन है। भावना स्वयं खराब हो, तभी उसमे से होनेवाला प्राणवध दोषरूप होगा, और यदि भावना वैसी न हो, तो वह प्राणवध भी दोषरूप नहीं। इसी-

लिए शास्त्रीय परिभाषा मे ऐसी हिंसा को द्रव्य हिंसा अथवा व्यावहारिक हिंसा कहा गया। द्रव्य हिंसा किंवा व्यावहारिक हिंसा का अर्थ इतना ही है कि उसकी दोषरूपता अबाधित नहीं है। इसके विपरीत प्रमत्तयोग रूप जो सूक्ष्म भावना है, वह स्वयं ही दोष रूप है, जिससे उसकी दोषरूपता स्वाधीन है। अर्थात् उसकी दोष रूपता का आधार स्थूल प्राणनाश, या किसी दूसरी बाह्य वस्तु पर अवलम्बित नहीं है। स्थूल प्राणनाश न भी हुआ हो, किसी को दुःख भी न पहुँचाया हो, बल्कि प्राणनाश करने या दुःख देने का प्रयत्न होने पर उलटा दूसरे का जीवन बढ़ गया हो या उसको सुख ही पहुँच गया हो; फिर भी यदि उसके पीछे भावना अशुभ हो, तो वह सब एकान्त दोष रूप ही गिना जाएगा। यही कारण है, ऐसी भावना को शास्त्रीय परिभाषा मे भावहिंसा अथवा निश्चय हिंसा कहा है। भाव हिंसा किंवा निश्चय हिंसा का अर्थ इतना ही है कि उसकी दोषरूपता स्वाधीन होने से तीनों कालो मे अबाधित रहती है। सिर्फ प्रमत्तयोग या सिर्फ प्राणवध—इन दोनों को स्वतन्त्र (अलग अलग) हिंसा मान लेने और दोनो की दोषरूपता का तारतम्य पूर्वोक्त रीत्या जान लेने के बाद इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों प्रकार की हिंसाएँ प्रमत्तयोग जनित प्राणवध रूप हिंसा की कोटि की ही हैं या भिन्न प्रकार की। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भले ही स्थूल आँख न देख सके, लेकिन तात्त्विक रीत्या तो सिर्फ प्रमत्तयोग ही प्रमत्तयोग जनित प्राणनाश की कोटि की हिंसा है, और सिर्फ प्राणनाश—यह ऐसी हिंसा नहीं है, जो उक्त कोटि मे आ सके।

प्र०—पूर्वोक्त कथन के अनुसार यदि प्रमत्त योग ही हिंसा

की दोपरूपता का मूल बीज हो, तब हिंसा की व्याख्या मे इतना ही कहना काफी होगा कि प्रमत्तयोग– यह हिंसा। यदि यह दलील सत्य हो, तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से होता है कि फिर हिंसा की व्याख्या मे 'प्राणनाश' को स्थान देने का कारण क्या है ?

उ०– तात्त्विक रीत्या तो प्रमत्तयोग ही हिंसा है। लेकिन समुदाय द्वारा एकदम और बहुत अशो मे उसका त्याग करना शक्य नही। इसके विपरीत सिर्फ प्राणवध– यह स्थूल होने पर भी उसका त्याग सामुदायिक जीवनहित के लिए वाञ्छनीय है, और यह बहुत अशो मे शक्य भी है। प्रमत्तयोग न भी छूटा हो, लेकिन स्थूल प्राणवधवृत्ति के कम हो जाने से भी बहुधा सामुदायिक जीवन मे सुख शान्ति रह सकती है। अहिंसा के विकास क्रम के अनुसार भी पहले स्थूल प्राणनाश का त्याग और बाद मे धीरे धीरे प्रमत्तयोग का त्याग समुदाय मे संभवित होता है। इसीसे आध्यात्मिक विकास मे साधकरूप से प्रमत्तयोग रूप हिंसा का ही त्याग इष्ट होने पर भी सामुदायिक जीवन की दृष्टि से हिंसा के स्वरूप के अन्तर्गत स्थूल प्राणनाश को स्थान दिया है। तथा उसके त्याग को भी अहिंसा कोटि मे रक्खा है।

प्र०– यह तो समझ लिया कि शास्त्रकार ने जिसको हिंसा कहा है, उससे निवृत्त होना ही अहिंसा है। पर यह बतलाइये कि ऐसी अहिंसा के व्रत लेने वाले के लिये जीवन बनाने के वास्ते क्या क्या कर्तव्य अनिवार्य है ?

उ०– १ जीवन को सादा बनाते जाना और उसकी आवश्यकताओ को कम करते रहना।

२ मानुषी वृत्ति मे अज्ञान को कितनी ही गुंजाइश क्यों न हो,

लेकिन ज्ञान का भी तो पुरुषार्थ के अनुसार स्थान है ही। इस लिए प्रतिक्षण सावधान रहना, और कहीं भूल न हो जाय, इस वात को ध्यान में रखना, और यदि भूल हो जाय, तो वह ध्यान से ओझल न हो सके ऐसी दृष्टि को वना लेना।

३ आवश्यकताओं को कम कर देने और सावधान रहने का लक्ष्य रखने पर भी चित्त के जो असली दोष हैं, जैसे स्थूल जीवन की तृष्णा, और उसके कारण पैदा होनेवाले जो दूसरे राग द्वेषादि दोष, उन्हे कम करने का सतत प्रयत्न करना।

प्र०— ऊपर जो हिंसा की दोषरूपता वतलाई है, उसका क्या मतलब ?

उ०— जिससे चित्त की कोमलता घटे और कठोरता पैदा हो, तथा स्थूल जीवन की तृष्णा वढ़े— वही हिंसा की दोषरूपता है। और जिससे उक्त कठोरता न वढ़े, एवं सहज प्रेममय वृत्ति व अंतर्मुख जीवन मे जरा सी भी खलल न पहुँचे, तव भले ही देखने मे हिंसा हो, लेकिन उसकी वही अदोषरूपता है।

असत्य का स्वरूप—

असदभिधानमनृतम्। ९।

असत् वोलना वह अनृत— असत्य है।

यद्यपि सूत्र मे असत् कथन को असत्य कहा है, तो भी उसका भाव विशाल होने से उसमे असत्-चिन्तन, असत्-आचरण— इन सभी का समावेश हो जाता है। इसी लिए असत् चिन्तन, असत्-भाषण और असत्-आचरण— ये सभी असत्य दोष मे आ जाते हैं। जैसे अहिंसा की व्याख्या मे 'प्रमत्तयोग' यह विशेषण लगाया है,

वैसे ही असत्य तथा अदत्तादानादि बाकी के दोषो की व्याख्या मे भी इस विशेषण को समझ लेना चाहिए । इसीसे प्रमत्तयोग पूर्वक जो असत् कथन– वह असत्य है, ऐसा असत्य दोष का फलित अर्थ होता है ।

'असत्' शब्द के मुख्य दो अर्थ करने से यहाँ काम चल जाता है–

१ जो वस्तु अस्तित्व रखती हो, उसका बिलकुल निषेध करना, अथवा निषेध न भी करे, लेकिन जिस रूप में वस्तु हो, उसको उस रूप मे न कह कर अन्यथा कथन करना– वह असत् है ।

२ गर्हित– असत् अर्थात् जो सत्य होने पर भी दूसरे को पीड़ा पहुँचावे, ऐसे दुर्भावयुक्त हो, तो वह असत् ।

पहले अर्थ के अनुसार पास में पूँजी होने पर भी जब लेन-दार माँगे, तब कह देना कि कुछ भी नहीं है– यह असत्य है । इसी प्रकार पास मे पूँजी है– यह स्वीकार कर लेने पर भी लेन-दार सफल न हो सके इस तरह का बयान देना– यह भी असत्य है ।

दूसरे अर्थ के अनुसार किसी भी अनपढ़ या नासमझ को उसको नीचा दिखलाने के लिए अथवा ऐसे ढंग से जिससे कि उसे दु ख पहुँचे, सत्य होने पर भी 'अनपढ़' या 'नासमझ' ऐसा वचन कहना भी– असत्य है ।

---

१ अब्रह्म मे 'प्रमत्तयोग' विशेषण नहीं लगाना, क्योंकि यह दोष अप्रमत्त दशा मे सभव ही नहीं । इसी लिए तो ब्रह्मचर्य को निरपवाद कहा है । विशेष खुलासे के लिए देखो गुजराती मे 'जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य' नाम का निबन्ध ।

असत्य के उक्त अर्थ पर से सत्य व्रतधारी के लिए निम्न अर्थ फलित होते हैं।

१ प्रमत्तयोग का त्याग करना।

२ मन, वचन और काय की प्रवृत्ति मे एकरूपता का रखना।

३ सत्य होने पर भी दुर्भाव से अप्रिय न चिन्तना, न बोलना और न करना। ९।

चोरी का स्वरूप–

अदत्तादानं स्तेयम्। १०।

बिना दिये लेना– वह स्तेय अर्थात् चोरी है।

जिस वस्तु पर किसी दूसरे की मालिकी हो, वह वस्तु भले ही तृण समान या बिलकुल मूल्य रहित ही क्यों न हो, पर उसके मालिक की आज्ञा के बिना चौर्य बुद्धि से उस वस्तु को लेना– उसे स्तेय कहते हैं।

इस व्याख्या पर से अचौर्य व्रतधारी के लिए निम्न अर्थ फलित होते हैं।

१ किसी भी वस्तु की तरफ़ ललचा जानेवाली वृत्ति को हटाना।

२ जब तक ललचाने की आदत न छूटे, तब तक अपने लालच की वस्तु न्यायपूर्वक अपने आप ही प्राप्त करना और वैसी दूसरे की वस्तु को आज्ञा के बिना लेने का विचार तक न करना। १०।

अब्रह्म का स्वरूप–

मैथुनमब्रह्म। ११।

मैथुन प्रवृत्ति– अब्रह्म है।

मैथुन का अर्थ है– मिथुन की प्रवृत्ति। 'मिथुन' शब्द सामान्य रूप से 'स्त्री और पुरुष का जोड़ा' इस अर्थ मे प्रसिद्ध है। फिर भी इसका अर्थ जरा विस्तृत करने की जरूरत है। जोड़ा अर्थात् स्त्री पुरुष का, पुरुष-पुरुष का, या स्त्री-स्त्री का हो सकता है, और वह भी सजातीय– मनुष्य आदि एक जाति का, अथवा विजातीय– मनुष्य, पशु आदि भिन्न भिन्न जाति का समझना चाहिए। ऐसे जोड़े की काम राग के आवेश से उत्पन्न मानसिक, वाचिक, किंवा कायिक कोई भी प्रवृत्ति– वह मैथुन अर्थात् अब्रह्म कहलाता है।

प्र०– जहाँ पर जोड़ा न हो, केवल स्त्री या पुरुष कोई एक ही व्यक्ति कामराग के आवेश मे आकर जड़ वस्तु के आलम्बन से अथवा अपने हस्त आदि अवयवो द्वारा मिथ्या आचार का सेवन करे, ऐसी चेष्टा को ऊपर की व्याख्या के अनुसार क्या मैथुन कह सकते हैं ?

उ०– हाँ, अवश्य। क्योंकि मैथुन का असली भावार्थ तो कामरागजनित कोई भी चेष्टा ही है। यह अर्थ तो किसी एक व्यक्ति की वैसी दुश्चेष्टाओ मे भी लागू हो सकता है। अत उसमे भी मैथुन दोष है ही।

प्र०– मैथुन को अब्रह्म कहा है, उसका कारण क्या ?

उ०– जो ब्रह्म न हो– वह अब्रह्म। ब्रह्म का अर्थ है– जिसके पालन और अनुसरण से सद्गुणो की वृद्धि हो। और जिस ओर जाने से सद्गुणो की वृद्धि न हो, बल्कि दोषों का ही पोषण हो– वह अब्रह्म। मैथुन प्रवृत्ति एक ऐसी चीज है कि उसमें पड़ते ही सकल दोषों का पोषण और सद्गुणो का ह्रास शुरू हो जाता है। इसी लिए मैथुन को अब्रह्म कहा गया है। ११।

परिग्रह का स्वरूप-

मूर्च्छा परिग्रहः । १२ ।

मूर्च्छा ही परिग्रह है ।

मूर्च्छा का अर्थ है आसक्ति । वस्तु छोटी, बड़ी, जड़, चेतन, बाह्य या आन्तरिक चाहे जो भी हो और कदाचित् न भी हो, फिर भी उसमे बंध जाना; अर्थात् उसकी लगन मे ही विवेक को खो बैठना- यही परिग्रह है ।

प्र०- हिंसा से परिग्रह तक के पाँच दोषो का स्वरूप ऊपर से देखने से भिन्न मालूम पड़ता है सही, पर सूक्ष्मता से विचार करने पर उसमें कोई खास किस्म का भेद नही दीखता । कारण यह है कि इन पाँच कहे जाने वाले दोषो की दोषरूपता का आधार सिर्फ राग, द्वेष और मोह है । तथा राग, द्वेष और मोह ही हिंसा आदि वृत्तियो का जहर है, और इसी से वे वृत्तियाँ दोष कहलाती हैं । यदि यह कथन सत्य हो, तब राग द्वेष आदि ही दोष हैं, इतना कहना ही काफ़ी होगा । फिर दोष के हिंसा आदि पाँच या न्यूनाधिक भेदो का वर्णन किस लिए किया जाता है ?

उ०- नि सन्देह कोई भी प्रवृत्ति राग, द्वेष आदि के कारण ही होती है । अत मुख्यरूप से राग, द्वेष आदि ही दोष है, और इन दोषो से विरत होना- यही एक मुख्य व्रत है । ऐसा होने पर भी जब राग, द्वेष आदि के त्याग का उपदेश देना हो, तब उनसे होनेवाली प्रवृत्तियो को समझाकर ही उन प्रवृत्तियो तथा उनके प्रेरक राग, द्वेष आदि के त्याग करने को कह सकते हैं । स्थूल दृष्टिवाले लोगों के लिए दूसरा क्रम अर्थात् सीधे राग, द्वेषादि

के त्याग का उपदेश शक्य नहीं है। रागद्वेष से पैदा होनेवाली असख्य प्रवृत्तियों मे से हिसा, असत्य आदि मुख्य है। और वे प्रवृत्तियाँ ही मुख्यरूप से आध्यात्मिक या लौकिक जीवन को कुरेद डालती हैं। इसीलिए हिसा आदि प्रवृत्तियों को पाँच भागों में विभाजित करके पॉच दोषो का वर्णन किया गया है।

दोषों की इस संख्या में समय समय पर और देश भेद से परिवर्तन होता आया है और होता रहेगा, फिर भी सख्या और स्थूल नाम के मोह मे न पड़ कर खास तौर से इतना समझ लेना चाहिए कि इन प्रवृत्तियों के द्वारा राग, द्वेष और मोह रूप दोषो का त्याग करना—यही सूचन किया है। इसी सबब से हिंसा आदि पाँच दोषो मे कौनसा दोष प्रधान है, कौनसा और किसका त्याग पहले करना चाहिए और किसका पीछे—यह सवाल ही नहीं रहता। हिंसादोष की विशाल व्याख्या में असत्य आदि सभी दोष समा जाते हैं। इसी तरह असत्य या चोरी आदि किसी भी दोष की विशाल व्याख्या मे बाकी के सब दोष समा जाते हैं। यही कारण है—अहिसा को मुख्य धर्म मानने वाले हिसादोष में असत्यादि सब दोषों को समा लेते हैं, और सिर्फ हिंसा के त्याग में ही दूसरे सभी दोषो का त्याग भी समझते हैं; तथा सत्य को परम धर्म मानने वाले असत्य मे बाक़ी के सब दोषों को घटा कर सिर्फ असत्य के त्याग मे ही सब दोषों का त्याग खयाल करते हैं। इसी रीति से संतोष, ब्रह्मचर्य आदि को मुख्य धर्म मानने वाले भी करते हैं। १२।

यथार्थरूप में व्रती बनने की प्राथमिक योग्यता—

निःशल्यो व्रती। १३।

जो शल्य रहित हो, वह व्रती हो सकता है।

अहिंसा, सत्य आदि व्रतों के लेने मात्र से कोई सच्चा व्रती नहीं बन सकता, किन्तु सच्चा व्रती होने के लिए छोटी से छोटी और सब से पहली एक ही शर्त है, जो यहाँ बतलाई गई है। वह शर्त यह है कि 'शल्य' का त्याग करना। संक्षेपत. शल्य तीन हैं– १ दम्भ– कपट, ढोंग अथवा ठगने की वृत्ति, २ निदान– भोगों की लालसा, ३ मिथ्यादर्शन– सत्य पर श्रद्धा न लाना अथवा असत्य का आग्रह। ये तीनों मानसिक दोष हैं। जब तक ये रहते हैं– मन और शरीर दोनों को कुरेद डालते हैं, और आत्मा कभी स्वस्थ नहीं रह सकता। इसलिए शल्ययुक्त आत्मा किसी कारण से व्रत ले भी ले लेकिन वह उनके पालन मे एकाग्र नहीं बन सकता। जैसे शरीर के किसी भाग में काँटा या वैसी ही दूसरी कोई तीक्ष्ण वस्तु खुभ गई हो, तो वह शरीर और मन को अस्वस्थ बना डालती है, और आत्मा को किसी भी कार्य मे एकाग्र नहीं होने देती; वैसे ही उक्त मानसिक दोष भी उसी प्रकार की व्यग्रता पैदा करते हैं। इसीलिए उनका त्याग करना– यह व्रती बनने के लिए प्रथम शर्त के रूप मे रक्खा गया है। १३।

व्रती के भेद–

अगार्यनगारश्च । १४ ।

व्रती, अगारी– गृहस्थ और अनगार– त्यागी, ऐसे दो प्रकार का संभव है।

प्रत्येक व्रतधारी की योग्यता एकसी नहीं होती। इसी· लिए योग्यता के तारतम्य के अनुसार सक्षेप मे व्रती के यहाँ दो भेद बतलाए गए हैं– १ अगारी, २ अनगार। अगार कहते हैं–

घर को। जिसका घर के साथ संबन्ध हो- वह अगारी। अगारी अर्थात् गृहस्थ। जिसका घर के साथ संबन्ध न हो- वह अनगार अर्थात् त्यागी, मुनि।

यद्यपि अगारी और अनगार इन दोनों शब्दों का सीधा अर्थ घर में बसना या न बसना- इतना ही है। लेकिन यहाँ तो इनका तात्पर्यार्थ लेना है, और वह यह कि विषयतृष्णा रखने वाला- अगारी, तथा जो विषयतृष्णा से मुक्त हो- वह अनगार। इस तात्पर्यार्थ के लेने से फलितार्थ यह निकलता है कि कोई घर में बसता हुआ भी विषयतृष्णा से मुक्त हो, तो वह अनगार ही है। तथा कोई घर छोड़कर जंगल में जा बसे, लेकिन विषयतृष्णा से मुक्त न हो तो वह अगारी ही है। अगारिपन और अनगारपन की सच्ची एवं मुख्य कसौटी यही एक है, तथा उसके आधार पर ही यहाँ व्रती के दो भेद किये गए हैं।

प्र०- यदि विषयतृष्णा के होने से अगारी होता है, तो फिर उसे व्रती कैसे कह सकते हैं?

उ०- स्थूल दृष्टि से। जैसे कोई आदमी अपने घर आदि किसी नियत स्थान में ही रहता है और फिर भी वह अमुक शहर में रहता है- ऐसा व्यवहार अपेक्षाविशेष से करते हैं, इसी तरह विषयतृष्णा के रहने पर भी अल्पांश में व्रत का संबन्ध होने के कारण उसे व्रती भी कह सकते हैं। १४।

अगारी व्रती का वर्णन-

अणुव्रतोऽगारी। १५।

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकपौषधोपवासोपभोग-

परिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च । १६ ।
मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता । १७ ।

जो अणुव्रतधारी हो, 'वह अगारी व्रती कहलाता है ।

वह व्रती दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण, और अतिथिसंविभाग इन व्रतों से भी संपन्न होता है ।

तथा वह मारणान्तिक संलेखना का आराधक भी होता है।

जो अहिंसा आदि व्रतों को संपूर्ण रूप से स्वीकार करने में समर्थ न हो, और फिर भी त्यागवृत्ति हो, तो वह गृहस्थमर्यादा मे रहकर अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार इन व्रतों को अल्पांश मे स्वीकार करता है, ऐसा गृहस्थ अणुव्रतधारी श्रावक कहलाता है ।

संपूर्ण रूप से स्वीकार किये जाने वाले व्रतों को महाव्रत कहते हैं, तथा उनके स्वीकार की प्रतिज्ञा में संपूर्णता के कारण तारतम्य नहीं रक्खा जाता । परन्तु जब व्रतों को अल्पांश में स्वीकार किया जाता है, तब अल्पता की विविधता के होने से तद्विषयक प्रतिज्ञा भी अनेक रूप मे अलग-अलग ली जाती है। ऐसा होने पर भी एक एक अणुव्रत की विविधता मे न जाकर सूत्रकार ने सामान्य रीति से गृहस्थ के अहिंसा आदि व्रतों का एक एक अणुव्रत के रूप मे वर्णन किया है । ऐसे अणुव्रत पाँच हैं, जो मूलभूत अर्थात् त्याग के प्रथम पायारूप होने से मूलगुण या मूलव्रत कहलाते हैं । इन मूलव्रतो की रक्षा, पुष्टि किंवा शुद्धि के निमित्त गृहस्थ दूसरे भी कितनेक व्रत स्वीकार करता है, जो

उत्तरगुण या उत्तरव्रत के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे उत्तरव्रत यहाँ संक्षेप में सात बतलाए हैं। तथा गृहस्थ व्रती जीवन के अन्तिम समय में जो एक व्रत लेने के लिए प्रेरित होता है; वह संलेखना के नाम से प्रसिद्ध है। उसका भी यहाँ निर्देश है। इन सभी व्रतों का स्वरूप सक्षेप मे निम्न प्रकार है–

---

१ सामान्यत भगवान महावीर की समग्र परपरा में अणुव्रतों की पाँच सख्या, उनके नाम, तथा क्रम में कुछ भी अन्तर नहीं। हा, दिगम्बर परपरा में कितने ही आचार्यों ने रात्रिभोजन के त्याग को छठे अणुव्रत के रूप मे गिनाया है। परन्तु उत्तरगुण रूप मे माने हुए श्रावक के व्रतों के बारे मे प्राचीन तथा नवीन अनेक परपराएँ हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ऐसी दो परपराएँ देखी जाती हैं—पहली तत्त्वार्थसूत्र की और दूसरी जैनागमादि अन्य ग्रन्थों की। पहली मे दिग्विरमण के बाद उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत को न गिनाकर देशविरमणव्रत को गिनाया है। दूसरी में दिग्विरमण के बाद उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत गिनाया है। तथा देश-विरमणव्रत सामायिक व्रत के बाद गिना है। ऐसे क्रम भेद के रहते भी जो तीन व्रत गुणव्रत के रूप मे और चार व्रत शिक्षाव्रत के रूप मे माने जाते हैं, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं देखा जाता। परन्तु उत्तरगुणों के विषय में दिगम्बर सप्रदाय में जुदी जुदी छ परपराएँ देखने मे आती हैं। कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, स्वामी कार्तिकेय, जिनसेन और वसुनन्दी– इन आचार्यों की भिन्न भिन्न मान्यताएँ है। इस मतभेद में कहीं नाम का, कहीं क्रम का, कहीं सख्या का और कहीं पर अर्थविकास का फ़र्क है। यह सब खुलासा जानना हो, तो बाबू जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा लिखित 'जैनाचार्यों का शासन भेद' नामक पुस्तक, पृ० २१ से आगे अवश्य पढ़नी चाहिए। प्रकाशक– जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई।

पाँच अणुव्रत

१ छोटे बड़े प्रत्येक जीव की मानसिक, वाचिक, कायिक हिंसा का पूर्णतया त्याग न हो सकने के कारण अपनी निश्चित की हुई गृहस्थमर्यादा, जितनी हिंसा से निभ सके उससे अधिक हिंसा का त्याग करना- यह अहिंसाणुव्रत है।

२-५ इसी तरह असत्य, चोरी, कामाचार और परिग्रह का अपनी परिस्थिति के अनुसार मर्यादित त्याग करना- वे क्रमश सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अणुव्रत हैं।

तीन गुणव्रत

६ अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार पूर्व, पश्चिम आदि सभी दिशाओं का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर हरतरह के अधर्म कार्य से निवृत्ति धारण करना- वह दिग्विरति व्रत है।

७ सर्वदा के लिए दिशा का परिमाण निश्चित कर लेने के बाद भी उसमें से प्रयोजन के अनुसार समय समय पर क्षेत्र का परिमाण निश्चित करके उसके बाहर अधर्म कार्य से सर्वथा निवृत्त होना- वह देशविरति व्रत है।

८ अपने भोगरूप प्रयोजन के लिए होने वाले अधर्म व्यापार के सिवाय बाकी के संपूर्ण अधर्म व्यापार से निवृत्त होना, अर्थात् निरर्थक कोई प्रवृत्ति न करना- वह अनर्थदण्डविरति व्रत है।

चार शिक्षाव्रत

९ काल का अभिग्रह लेकर अर्थात् अमुक समय तक अधर्म प्रवृत्ति का त्याग करके धर्मप्रवृत्ति में स्थिर होने का अभ्यास करना-वह सामायिक व्रत है।

१० अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा या दूसरी कोई भी तिथि में उपवास धारण करके और सब तरह की शरीर विभूषा का त्याग करके धर्म जागरण में तत्पर रहना-वह पौषधोपवास व्रत है।

११ जिसमे अधिक अधर्म का संभव हो– ऐसे खान-पान, गहना, कपड़ा, वर्तन आदि का त्याग करके कम अधर्म वाली वस्तुओं का भी भोग के लिए परिमाण बाँधना– वह उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत है।

१२ न्याय से उपार्जित और जो खप सके– ऐसी खान-पान आदि के योग्य वस्तुओं का इस रीति से शुद्ध भक्तिभाव पूर्वक सुपात्र को दान देना– जिनसे कि उभय पक्ष को लाभ पहुँचे– वह अतिथिसभाग व्रत है।

कषाय का अन्त करने के लिए उसके निर्वाहक और पोपक कारणों को घटाते हुए कषाय को पतला वनाना– वह संलेखना है। यह संलेखना व्रत वर्तमान शरीर का अन्त हो तव तक लिया जाता है। अत इसको मारणान्तिक संलेखना कहते हैं। ऐसे संलेखना व्रत को गृहस्थ भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करके उसका सपूर्णतया पालन करते हैं, इसीलिए उन्हे इस व्रत का आराधक कहा है।

प्र०– सलेखना व्रत को धारण करनेवाला अनशन आदि द्वारा शरीर का अन्त करता है, यह तो आत्महत्या हुई। तथा आत्महत्या– यह स्वहिंसा ही तो है, तव फिर इसको व्रत मानकर त्यागधर्म में स्थान देना कहाँ तक उचित है?

उ०– भले ही देखने मे दु'ख हो या प्राणनाश– पर इतने मात्र से ही यह व्रत हिसा की कोटि मे नहीं आ सकता। यथार्थ हिंसा का स्वरूप तो राग, द्वेप तथा मोह की वृत्ति से ही वनता है। सलेखना व्रत में प्राणनाश है सही, पर वह राग, द्वेप तथा मोह के न होने के कारण हिसा की कोटि मे नहीं आता, उलटा निर्मोहत्व

और वीतरागत्व साधने की भावना में से ही यह व्रत पैदा होता है और इस भावना की सिद्धि के प्रयत्न के कारण ही यह व्रत पूर्ण बनता है। इसलिए यह हिंसा नहीं है, बल्कि शुभध्यान किंवा शुद्धध्यान की कोटि में रखने योग्य होने से इसको त्यागधर्म में स्थान प्राप्त है।

प्र०– कमलपूजा, भैरवजप, जलसमाधि आदि अनेक तरह से जैनेतर पन्थों में प्राणनाश करने की और उनको धर्म मानने की प्रथाएँ चालू थीं, और हैं; उनमें और संलेखना की प्रथा मे भला फ़र्क क्या है ?

उ०– प्राणनाश की स्थूल दृष्टि से भले ही ये समान दीखें, लेकिन फर्क तो उनके पीछे रही हुई भावना में ही हो सकता है। कमलपूजा वगैरह के पीछे कोई भौतिक आशा या दूसरा प्रलोभन न हो और सिर्फ भक्ति का आवेश या अर्पण की वृत्ति हो– ऐसी स्थिति में और वैसे ही आवेश या प्रलोभन से रहित संलेखना की स्थिति मे अगर फर्क कहा जा सकता है, तो यही कि भिन्न भिन्न तत्त्वज्ञान पर अवलम्बित भिन्न भिन्न उपासनाओं में रही हुई भावनाओं का। जैन उपासना का ध्येय उसके तत्त्वज्ञान के अनुसार परार्पण या परप्रसन्नता नहीं, परन्तु आत्मशोधन मात्र है। पुराने समय से चली आती हुई धर्म्य प्राणनाश की विविध प्रथाओं का उसी ध्येय की दृष्टि से संशोधित रूप जो कि जैन संप्रदाय में प्रचलित है– संलेखना व्रत है। इसी सबब से संलेखना व्रत का विधान खास खास संयोगों में किया गया है।

जब जीवन का अन्त निश्चित रूप में नज़दीक मालूम पड़े, धर्म और आवश्यक कर्तव्यों का नाश होता हो, इसी प्रकार ...

प्रदेश को भी छोड़ बैठेगा। अतः जिससे साधना के विकास में बाधा आती हो, वैसी शङ्का ही अतिचार रूप मे त्याज्य है।

२. ऐहिक और पारलौकिक विषयों की अभिलाषा करना ही कांक्षा है। यदि ऐसी कांक्षा होगी, तो साधक गुणदोष का विचार किये विना ही जब चाहे अपने सिद्धान्त को छोड़ देगा, इसीलिए उसको अतिचार दोष कहा है।

३. जहाँ भी मतभेद या विचारभेद का प्रसंग उपस्थित हो, वहाँ पर अपने आप कुछ भी निर्णय न करके सिर्फ मतिमन्दता के कारण यह सोचना कि 'यह बात भी ठीक है और वह बात भी ठीक हो सकती है'। इस प्रकार बुद्धि की जो अस्थिरता है, वही विचिकित्सा है। बुद्धि की ऐसी अस्थिरता साधक को किसी एक तत्त्व पर कभी भी स्थिर नहीं रहने देती, इसीलिए यह अतिचार है।

४–५. जिसकी दृष्टि मिथ्या हो, उसकी प्रशसा करना या उससे परिचय करना वे अनुक्रम से मिथ्यादृष्टिप्रशंसा और मिथ्यादृष्टिसंस्तव नामक अतिचार हैं। भ्रान्तदृष्टि रूप दोष से युक्त व्यक्तियो मे भी कई बार विचार, त्याग आदि गुण पाये जा सकते हैं। गुण और दोष का भेद किये विना ही उन गुणों से आकृष्ट हो कर वैसे व्यक्ति की प्रशंसा करने अथवा उससे परिचय करने से अविवेकी साधक का सिद्धान्त से स्खलित होने का डर रहता है। इसीसे अन्यदृष्टिप्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव को अतिचार माना है। मध्यस्थता और विवेकपूर्वक गुण को गुण और दोप को दोष समझने वाले साधक के लिए भी उक्त प्रकार के प्रशंसा और संस्तव हानिकारक होते ही है– ऐसा एकान्त नहीं।

उक्त पाँच अतिचार व्रती श्रावक और साधु दोनों के लिए समान हैं, क्योंकि सम्यक्त्व दोनों का साधारण धर्म है। १८।

व्रत और शील के अतिचारों की संख्या और अनुक्रम से उनका वर्णन—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्। १९।

बन्धवधच्छविच्छेदाऽतिभारारोपणाऽन्नपाननिरोधाः। २०।

मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः। २१।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः। २२।

परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनाऽनङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशाः। २३।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः। २४।

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तर्धानानि। २५।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः। २६।

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगाधिकत्वानि। २७।

योगदुष्प्रणिधानाऽनादरस्मृत्यनुपस्थापनानि। २८।

अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणाऽनादरस्मृत्यनुपस्थापनानि। २९।

सचित्तसंबद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः। ३०।

सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालाति-क्रमाः । ३१ ।

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानकर-णानि । ३२ ।

व्रतों और शीलों में पाँच पाँच अतिचार हैं। वे अनुक्रम से इस प्रकार हैं–

बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार का आरोपण और अन्न-पान का निरोध– ये पाँच अतिचार प्रथम अणुव्रत के हैं।

मिथ्योपदेश, रहस्याभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये पाँच अतिचार दूसरे अणुव्रत के हैं।

स्तेनप्रयोग, स्तेन-आहृतादान, विरुद्ध राज्य का अतिक्रम, हीन-अधिक मानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पाँच तीसरे अणुव्रत के अतिचार हैं।

परविवाहकरण, इत्वरपरिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा और तीव्रकामाभिनिवेश ये पाँच अतिचार चौथे अणुव्रत के हैं।

क्षेत्र और वास्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दासी-दास के प्रमाण का अतिक्रम, एवं कुप्य के प्रमाण का अतिक्रम ये पाँच अतिचार पाँचवें अणुव्रत के हैं।

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तर्धान ये पाँच अतिचार छठे दिग्विरति व्रत के हैं।

आनयनप्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गल-क्षेप ये पाँच अतिचार सातवे देशविरति व्रत के हैं।

कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्य-अधिकरण और उप-भोग का अधिकत्व ये पाँच अतिचार आठवें अनर्थदण्डविरमण व्रत के हैं।

कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अना-दर और स्मृति का अनुपस्थापन ये पाँच अतिचार सामायिक-व्रत के हैं।

अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में आदान-निक्षेप, अप्रत्यवेक्षित और अप्रमा-र्जित सस्तार का उपक्रम, अनादर और स्मृति का अनुपस्थापन ये पाँच अतिचार पौषधव्रत के हैं।

सचित्त आहार, सचित्तसबद्ध आहार, सचित्तसंमिश्र आहार, अभिषव आहार और दुष्पक्व आहार ये पाँच अतिचार भोगोप-भोग व्रत के हैं।

सचित्त में निक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पाँच अतिचार अतिथिसविभागव्रत के हैं।

जीविताशसा, मरणाशसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदानकरण ये मारणान्तिक संलेखना के पाँच अतिचार हैं।

जो नियम श्रद्धा और ज्ञान पूर्वक स्वीकार किया जाता है, उसे व्रत कहते है। इस अर्थ के अनुसार श्रावक के बारह व्रत व्रतशब्द मे आ जाते हैं, फिर भी यहाँ व्रत और शील इन दो शब्दों का प्रयोग करके यह सूचित किया गया है कि चारित्र धर्म के मूल नियम अहिंसा, सत्य आदि पाँच हैं, और दिग्विरमण आदि बाकी के नियम तो इन मूल नियमों की पुष्टि के लिए ही हैं। हरएक व्रत और शील के जो पाँच पाँच अतिचार गिनाए हैं, वे मध्यम दृष्टि से समझने चाहिएँ, क्योंकि संक्षेप दृष्टि से तो इनसे कम भी कल्पित किये जा सकते हैं, एव विस्तार दृष्टि से पाँच से अधिक भी कहे जा सकते है।

चारित्र का मतलब है रागद्वेष आदि विकारों का अभाव साधकर समभाव का परिशीलन करना। चारित्र के इस मूल स्वरूप को सिद्ध करने के वास्ते अहिंसा, सत्य आदि जो जो नियम व्यावहारिक जीवन में उतारे जाते हैं, वे सभी चारित्र कहलाते हैं। व्यावहारिक जीवन देश, काल आदि की परिस्थिति तथा मनुष्य बुद्धि की संस्कारिता के अनुसार बनता है, अत उक्त परिस्थिति और संस्कारिता में परिवर्तन होने के साथ ही जीवन व्यवहार भी बदलता रहता है। यही कारण है चारित्र का मूल स्वरूप एक होने पर भी उसके पोषक रूप से स्वीकार किये जाने वाले नियमों की संख्या तथा स्वरूप में फेरफार होना अनिवार्य है। इसीलिए श्रावक के व्रत, नियम भी अनेक तरह से भिन्न रूप में शास्त्रों में मिलते हैं और भविष्य मे भी फेरफार होता ही रहेगा। इतने पर भी यहाँ ग्रन्थकार ने श्रावक धर्म के तेरह ही भेद मानकर उनमें से प्रत्येक के अतिचारों का कथन किया है। जो क्रमश: निम्नोक्त प्रकार से हैं—

१ किसी भी प्राणी को अपने इष्ट स्थान में जाते हुए रोकना या बाँधना– वह बन्ध है। डंडा या चाबुक आदि से प्रहार करना वध है। ३ कान, नाक, चमड़ी आदि अवयवों का जो भेदन या छेदन– वह छविच्छेद। ४ मनुष्य या पशु आदि पर उसकी शक्ति से ज्यादा बोझ लादना– अतिभार-आरोपण है। ५ किसी के खानपान में रुकावट डालना– यह अन्नपान का निरोध है। किसी भी प्रयोजन के बिना व्रतधारी गृहस्थ इन दोषों को कदापि सेवन न करे, ऐसा उत्सर्ग मार्ग है, परन्तु घर-गृहस्थी का फर्ज़ आ पड़ने पर विशेष प्रयोजन के कारण यदि इनका सेवन करना ही पड़े, तब भी कोमल भाव से ही काम लेना चाहिए। १९,२०।

अहिंसाव्रत के अतिचार

१ सच्चा झूठा समझाकर किसी को उलटे रास्ते डालना– यह मिथ्या उपदेश है। २ राग में आकर विनोद के लिए किसी पति, पत्नी को अथवा अन्य स्नेहियों को अलग कर देना, किंवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोप करना– रहस्याभ्याख्यान है। ३ मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढ़ी करना तथा खोटासिक्का चलाना आदि कूटलेख-क्रिया है। ४ कोई धरोहर रखकर भूल जाय, तो उसकी भूल का लाभ उठाकर थोड़ी या बहुत धरोहर को हज़म कर जाना– न्यासा-पहार है। ५ आपस में प्रीति टूट जाय, इस खयाल से एक दूसरे की चुगली खाना, या किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना– साकारमंत्रभेद है। २१।

सत्यव्रत के अतिचार

१ किसी को चोरी करने के लिए स्वयं प्रेरित करना, या दूसरे के द्वारा प्रेरणा दिलाना, अथवा वैसे कार्य में सम्मत होना–

अस्तेयव्रत के अतिचार

स्तेनप्रयोग है। २ निजी प्रेरणा या सम्मति के बिना कोई चोरी करके कुछ भी लाया हो, उसे ले लेना स्तेन-आहृतादान है। ३ भिन्न-भिन्न राज्य वस्तुओं के आयात-निर्यात पर कुछ बन्धन लगा देते हैं, अथवा उन पर कर आदि की व्यवस्था कर देते हैं, राज्य के ऐसे नियमों का उल्लंघन करना विरुद्ध राज्यातिक्रम है। ४ न्यूनाधिक नाप, बॉट या तराजू आदि से लेन देन करना हीनाधिक मानोन्मान है। ५ असली के बदले बनावटी वस्तु को चलाना– प्रतिरूपकव्यवहार कहलाता है। २२।

ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार[1]

१ निजी संतति के उपरांत कन्यादान के फल की इच्छा से अथवा स्नेह संबन्ध से दूसरे की संतति का विवाह कर देना– परविवाहकरण है। २ किसी दूसरे ने अमुक समय तक वेश्या या वैसी साधारण स्त्री को स्वीकार किया हुआ हो, तो उसी कालावधि में उस स्त्री का भोग करना इत्वरपरिगृहीतागमन है। ३ वेश्या हो, जिसका पति विदेश गया हो ऐसी स्त्री हो अथवा कोई अनाथ हो या जो किसी पुरुष के कब्जे में न हो, उसका उपभोग करना– अपरिगृहीतागमन है। ४ अस्वाभाविक रीति से जो सृष्टिविरुद्ध काम का सेवन– वह अनङ्गक्रीडा है। ५ बार बार उद्दीपन करके विविध प्रकार से कामक्रीडा करना तीव्रकामाभिलाष है। २३।

१ जो ज़मीन खेती बाड़ी के लायक हो वह क्षेत्र और रहने

---

१ इसके बारे में विशेष व्याख्या के लिए देखो 'जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य नो विचार' नाम का गुजराती निबन्ध।

योग्य हो वह वास्तु, इन दोनों का प्रमाण निश्चित करने के बाद लोभ में आकर उनकी मर्यादा का जो अतिक्रमण करना वह क्षेत्रवास्तु-प्रमाणातिक्रम है। २ घड़ा हुआ या बिना घड़ा हुआ जो चाँदी और सोना इन दोनों का व्रत लेते समय जो प्रमाण निश्चित किया हो, उसका उल्लंघन करना हिरण्यसुवर्ण-प्रमाणातिक्रम है। ३ गाय, भैंस आदि पशुरूप धन और गेहूँ बाजरी आदि धान्य– इनके स्वीकृत प्रमाण का उल्लंघन करना धनधान्य-प्रमाणातिक्रम है। ४ नौकर, चाकर आदि कर्मचारी संबन्धी प्रमाण का अतिक्रमण करना दासी-दास-प्रमाणातिक्रम है। ५ अनेक प्रकार के बर्तनों और वस्त्रों का प्रमाण निश्चित करने के बाद उसका अतिक्रमण करना कुप्यप्रमाणातिक्रम है। २४।

अपरिग्रह व्रत के अतिचार

१ वृक्ष, पर्वत आदि पर चढ़ने की ऊँचाई का प्रमाण निश्चित करने के बाद लोभ आदि विकार के कारण प्रमाण की मर्यादा का भंग करना– ऊर्ध्वव्यतिक्रम है। २, ३ इसी तरह नीचे जाने तथा तिरछा जाने का प्रमाण निश्चित करके उसका मोहवश भङ्ग कर देना वे अनुक्रम से अधोव्यतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम कहलाते हैं। ४ भिन्न भिन्न दिशाओं का भिन्न भिन्न प्रमाण स्वीकार करने के बाद कम प्रमाण वाली दिशा मे खास प्रसंग आ पड़ने पर दूसरी दिशा के स्वीकृत प्रमाण में से अमुक भाग घटाकर इष्ट दिशा के प्रमाण मे वृद्धि कर लेना– क्षेत्रवृद्धि है। ५ प्रत्येक नियम के पालन का आधार स्मृति पर है, ऐसा जान कर भी प्रमाद या मोह के कारण नियम के स्वरूप या उसकी मर्यादा को भूल जाना स्मृत्यन्तर्धान कहलाता है। २५।

दिग्विरमण व्रत के अतिचार

१ जितने प्रदेश का नियम किया हो, उसके वाहर रही हुई वस्तु की आवश्यकता पड़ने पर स्वयं न जा कर संदेश आदि द्वारा दूसरे से उस वस्तु को मँगवा लेना– आनयनप्रयोग है। २ जगह संवन्धी स्वीकृत मर्यादा के वाहर काम पड़ने पर स्वयं न जाना और न दूसरे से ही उस वस्तु को मँगवाना, किन्तु नौकर आदि को आज्ञा दे कर वहाँ वैठे विठाए काम करा लेना– प्रेष्यप्रयोग है। ३ स्वीकृत मर्यादा के वाहर स्थित व्यक्ति को वुला कर काम कराना हो, तव खाँसी आदि शब्द द्वारा उसे पास आने के लिए सावधान करना– शब्दानुपात है। ४ किसी तरह का शब्द न कर के सिर्फ आकृति आदि वतला कर दूसरे को अपने पास आने के वास्ते सावधान करना– रूपानुपात है। ५ कंकड़, ढेला आदि फेंक कर किसी को अपने पास आने के लिए सूचना देना– पुद्गलप्रक्षेप है। २६।

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

१ रागवश असभ्य भाषण तथा परिहास आदि करना– कन्दर्प है। २ परिहास व अशिष्ट भाषण के अतिरिक्त भाँड जैसी शारीरिक दुश्चेष्टाएँ करना– कौत्कुच्य है। ३ निर्लज्जता से, संवन्ध रहित एव वहुत वकवाद करना–मौखर्य है। ४ अपनी आवश्यकता का विचार किये विना ही अनेक प्रकार के सावद्य उपकरण दूसरे को उसके काम के वास्ते दिया करना असमीक्ष्याधिकरण है। ५ अपनी आवश्यकता से अधिक फाल्तू वस्त्र, आभूषण, तेल, चन्दन आदि रखना उपभोगाधिकत्व है। २७।

अनर्थदंडविरमण व्रत के अतिचार

१ हाथ, पैर आदि अंगों को व्यर्थ और वुरी तरह से चलाते रहना– कायदुष्प्रणिधान है। २ शब्दसंस्कार रहित तथा अर्थ रहित

एवं हानिकारक भाषा बोलना– वचनदुष्प्रणिधान है। ३ क्रोध, द्रोह आदि विकारों के वश होकर चिन्तन आदि मनोव्यापार करना मनोदुष्प्रणिधान है। ४ सामायिक में उत्साह का न होना अर्थात् समय होने पर भी प्रवृत्त न होना अथवा ज्यों त्यों करके प्रवृत्ति करना– अनादर है। ५ एकाग्रता का अभाव अर्थात् चित्त के अव्यवस्थित होने से सामायिक की स्मृति का न रहना– स्मृति का अनुपस्थापन है। २८।

सामायिक व्रत के अतिचार

१ कोई जीव है, या नहीं, ऐसा आँखों से बिना देखे, एवं कोमल उपकरण से प्रमार्जन किये बिना ही जहाँ तहाँ मल, मूत्र, श्लेष्म आदि का त्याग करना– यह अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित में उत्सर्ग है। २ इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन किये बिना ही लकड़ी, चौकी आदि वस्तुओं को लेना व रखना– अप्रत्यवेक्षित और अप्रमार्जित में आदान-निक्षेप है। ३ प्रत्यवेक्षण एवं प्रमार्जन किये बिना ही सथारा– बिछौना करना या आसन बिछाना– अप्रत्यवेक्षित तथा अप्रमार्जित संस्तार का उपक्रम है। ४ पौषध में उत्साह रहित ज्यों त्यों करके प्रवृत्ति करना– अनादर है। ५ पौषध कब और कैसे करना या न करना, एवं किया है या नहीं इत्यादि का स्मरण न रहना– स्मृत्य-नुपस्थापन है। २९।

पौषध व्रत के अतिचार

१ किसी किस्म की भी वनस्पति आदि सचेतन पदार्थ का आहार करना– सचित्त-आहार है। २ कठिन बीज या गुठली आदि सचेतन पदार्थ से युक्त बेर या आम आदि पके हुए फलों को खाना–

भोगोपभोग व्रत के अतिचार

सचित्तसंबद्ध आहार है। ३ तिल, खसखस आदि सचित्त वस्तु से मिश्रित लड्डू आदि का भोजन किंवा, चींटी, कुंथु आदि से मिश्रित वस्तु को खाना– सचित्तसंमिश्र आहार है। ४ किसी किस्म के भी एक मादक द्रव्य का सेवन करना अथवा विविध द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न मद्य आदि रस का सेवन करना– अभिषव आहार है। ५ अधपके या ठीक न पके हुए को खाना– दुष्पक्व आहार है। ३०।

अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार

१ खान-पान की देने योग्य वस्तु को काम में न आ सके ऐसी बना देने की बुद्धि से किसी सचेतन वस्तु में रख देना– सचित्तनिक्षेप है। २ इसी प्रकार देय वस्तु को सचेतन वस्तु से ढाँक देना– सचित्तपिधान है। ३ अपनी देय वस्तु को 'यह दूसरे की है' ऐसा कह कर उसके दान से अपने आपको मानपूर्वक बचा लेना– परव्यपदेश है। ४ दान देते हुए भी आदर न रखना अथवा दूसरे के दानगुण की ईर्ष्या से दान देने के लिए तैयार होना– मात्सर्य है। ५ किसी को कुछ देना न पड़े– इस आशय से भिक्षा का समय न हो ऐसे वक्त पर खा पी लेना– कालातिक्रम है। ३१।

संलेखना व्रत के अतिचार

१ पूजा, सत्कार आदि विभूति देखकर उनके लालच से आ[illegible] जीवन को चाहना– जीविताशंसा है। २ सेवा, सत्कार आदि करने के लिए किसी को पास आते न देखकर उद्वेग के कारण मृत्यु को चाहना– मरणाशंसा है। ३ मित्रों पर या मित्रतुल्य पुत्रादि पर स्नेह बन्धन रखना– मित्रानुराग है। ४ अनुभूत सुखों का स्मरण करके उन्हें ताज़ा

बनाना– सुखानुबन्ध है। ५ तप व त्याग का बदला किसी किस्म के भी भोग के रूप में चाहना– निदानकरण है।

ऊपर जो अतिचार कहे है, उन सभी का यदि जान बूझकर अथवा वक्रता से सेवन किया जाय, तब तो वे व्रत के खण्डन रूप होकर अनाचार कहलाएँगे, और यदि भूल से असावधानता के कारण सेवन किये जायँ, तब वे अतिचार होंगे। ३२।

दान का वर्णन–

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्। ३३।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः। ३४।

अनुग्रह के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना– दान है।

विधि, देयवस्तु, दाता और ग्राहक की विशेषता से उसकी– दान की विशेषता है।

दानधर्म जीवन के समग्र सद्गुणों का मूल है, अतः उसका विकास पारमार्थिक दृष्टि से अन्य सद्गुणों के उत्कर्ष का आधार है, और व्यवहार दृष्टि से मानवी व्यवस्था के सामंजस्य का आधार है।

दान का मतलब है न्यायपूर्वक अपने को प्राप्त हुई वस्तु का दूसरे के लिए अर्पण करना। यह अर्पण उसके कर्ता और स्वीकार करनेवाले दोनों का उपकारक होना चाहिए। अर्पण करने वाले का मुख्य उपकार तो यह है कि उस वस्तु पर से उसकी ममता हट जाय, और इस तरह से उसे सन्तोष और समभाव की प्राप्ति हो। स्वीकार करने वाले का उपकार यह है कि उस वस्तु से उसकी जीवनयात्रा में मदद मिले, और परिणामस्वरूप सद्गुणों का विकास हो।

सभी दान, दानरूप से एक जैसे होने पर भी उनके फल में तरतमभाव रहता है, यह तरतमभाव दानधर्म की विशेषता के कारण होता है। और यह विशेषता मुख्यतया दान धर्म के चार अङ्गों की विशेषता के अनुसार होती है। इन चार अङ्गों की विशेषता निम्न अनुसार वर्णन की गई है।

१ विधि की विशेषता

विधि की विशेषता मे देश, काल का औचित्य और लेने वाले के सिद्धान्त को बाधा न पहुँचे ऐसी कल्पनीय वस्तु का अर्पण, इत्यादि बातों का समावेश होता है।

२ द्रव्य की विशेषता

द्रव्य की विशेषता मे दी जाने वाली वस्तु के गुणों का समावेश होता है। जिस वस्तु का दान किया जावे, वह वस्तु लेने वाले पात्र की जीवनयात्रा में पोषक हो कर परिणामत उसके निजी गुणविकास मे निमित्त बने, ऐसी होनी चाहिए।

३ दाता की विशेषता

दाता की विशेषता मे लेने वाले पात्र के प्रति श्रद्धा का होना, उसकी तरफ तिरस्कार या असूया का न होना, तथा दान देते समय या बाद में विषाद न करना इत्यादि दाता के गुणो का समावेश होता है।

४ पात्र की विशेषता

दान लेने वाले का सत्पुरुषार्थ के लिए ही जागरूक रहना पात्र की विशेषता है। ३३,३४।

आठवाँ अध्याय।

आस्रव के वर्णन प्रसंग मे व्रत और दान का वर्णन करके अब बन्धतत्त्व का वर्णन किया जाता है।

वन्धहेतुओं का निर्देश—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा वन्धहेतवः।१।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पॉच वन्ध के हेतु हैं।

वन्ध का स्वरूप अगले सूत्र मे वर्णन किया जाने वाला है। यहाँ तो उसके हेतुओ का ही निर्देश है। वन्ध के हेतुओ की सख्या के वारे मे तीन परपराएँ देखने मे आती है। एक परपरा के अनुसार कषाय और योग ये दोनो ही वन्धहेतु हैं, दूसरी परंपरा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार वन्धहेतुओ की है। तीसरी परपरा उक्त चार हेतुओं मे प्रमाद को और वढाकर पॉच वन्धहेतुओ का वर्णन करती है। इस तरह से सख्या और उसके कारण नामो मे भेद रहने पर भी तात्त्विक दृष्ट्या इन परपराओ मे कुछ भी भेद नही है। प्रमाद एक तरह का असंयम ही तो है, अत वह अविरति या कपाय के अन्तर्गत ही है, इसी दृष्टि से कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थो मे सिर्फ चार वन्धहेतु कहे गए हैं। वारीकी से देखने पर मिथ्यात्व और असयम ये दोनों कपाय के स्वरूप से

अलग नहीं पड़ते, अतः कषाय और योग इन दोनो को ही वन्ध-हेतु गिनाना प्राप्त होता है।

प्र०— यदि सचमुच ऐसा ही है, तव यहाँ प्रश्न होता है कि उक्त संख्याभेद की विभिन्न परंपराओं का आधार क्या है?

उ०— कोई भी कर्मवन्ध हो, उस समय उसमे ज्यादा से ज्यादा जिन चार अंशों का निर्माण होता है, उनके अलग अलग कारण रूप से कषाय और योग ये दोनो ही हैं, क्योंकि प्रकृति एव प्रदेश रूप अंशों का निर्माण तो योग से होता है, और स्थिति एव अनुभागरूप अंशो का निर्माण कषाय से होता है। इस प्रकार एक ही कर्म में उत्पन्न होने वाले उक्त चार अशो के कारणों का विश्लेषण करने के विचार से शास्त्र मे कषाय और योग इन दो वन्ध-हेतुओ का कथन किया गया है; और आध्यात्मिक विकास की चढ़ाव-उतार वाली भूमिका स्वरूप गुणस्थानों मे बँधने वाली कर्म प्रकृतिओं के तरतमभाव के कारण को वतलाने के लिए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार वन्धहेतुओं का कथन किया है। जिस गुणस्थान मे उक्त चार मे से जितने अधिक वन्धहेतु होंगे, उस गुणस्थान में कर्मप्रकृतिओं का वन्ध भी उतना ही अधिक होगा, और जहाँ पर ये वन्धहेतु कम होंगे, वहाँ पर कर्मप्रकृतिओं का वन्ध भी कम ही होगा। इस तरह से मिथ्यात्व आदि चार हेतुओ के कथन की परपरा अलग अलग गुणस्थानो मे तरतम-भाव को प्राप्त होने वाले कर्मवन्ध के कारण का खुलासा करने के लिए है; और कषाय एव योग इन दो हेतुओं के कथन की पर-परा किसी भी एक ही कर्म मे संभवित चार अंशों के कारण का पृथक्करण करने के लिए है। पाँच वन्धहेतुओं की परपरा का

आशय तो चार की परंपरा से कथमपि भिन्न नहीं है, और यदि हो भी, तो वह इतना ही कि जिज्ञासु शिष्यों को बन्धहेतुओं का विस्तार से ज्ञान कराना।

बन्धहेतुओं की व्याख्या–

मिथ्यात्व का अर्थ है मिथ्यादर्शन, जो सम्यग्दर्शन से उलटा होता है। सम्यग्दर्शन– वस्तु का तात्त्विक श्रद्धान होने से, विपरीतदर्शन दो तरह का फलित होता है। पहला वस्तु-विषयक यथार्थ श्रद्धान का अभाव और दूसरा वस्तु का अयथार्थ श्रद्धान। पहले और दूसरे मे फ़र्क इतना ही है कि पहला बिल्कुल मूढदशा में भी हो सकता है, जब कि दूसरा विचार-दशा मे ही होता है। विचारशक्ति का विकास होने पर भी जब अभिनिवेश के कारण किसी एक ही दृष्टि को पकड़ लिया जाता है, तब विचारदशा के रहने पर भी अतत्त्व में पक्षपात होने से वह दृष्टि मिथ्यादर्शन कहलाती है, यह उपदेशजन्य होने से अभिगृहीत कही जाती है। जब विचारदशा जागरित न हुई हो, तब अनादिकालीन आवरण के भार के कारण सिर्फ मूढता होती है, उस समय जैसे तत्त्व का श्रद्धान नहीं, वैसे अतत्त्व का भी श्रद्धान नहीं होता, इस दशा मे सिर्फ मूढता होने से तत्त्व का अश्रद्धान कह सकते हैं। वह नैसर्गिक– उपदेशनिरपेक्ष होनेसे अनभिगृहीत कहा गया है। दृष्टि या पन्थ संबन्धी जितने भी ऐकान्तिक कदाग्रह हैं, वे सभी अभिगृहीत मिथ्यादर्शन हैं, जो कि मनुष्य जैसी विकसित जाति मे हो सकते हैं, और दूसरा अनभिगृहीत तो कीट, पतंग आदि जैसी मूर्छित चैतन्य वाली जातिओ में संभव है।

मिथ्यात्व

अविरति, प्रमाद

अविरति अर्थात् दोषों से विरत न होना। प्रमाद का मतलब है आत्मविस्मरण अर्थात् कुशल कार्यों में आदर न रखना; कर्तव्य, अकर्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना।

कषाय, योग

कषाय अर्थात् समभाव की मर्यादा का तोड़ना। योग का अर्थ है मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति। छठे अध्याय में वर्णित तत्प्रदोष आदि बन्धहेतुओं और यहाँ पर बतलाये हुए मिथ्यात्व आदि बन्धहेतुओं में अन्तर इतना ही है कि तत्प्रदोषादि प्रत्येक कर्म के खास खास बन्धहेतु होने से विशेषरूप हैं, जब कि मिथ्यात्व आदि तो समस्त कर्मों के समान बन्धहेतु होने से सामान्य हैं। मिथ्यात्व से लेकर योग तक के पाँचों हेतुओं में से जहाँ पूर्व-पूर्व के बन्धहेतु होंगे, वहाँ उसके बाद के सभी होंगे, ऐसा नियम है; जैसे कि मिथ्यात्व के होने पर अविरति आदि चार और अविरति के होने पर प्रमाद आदि बाकी के तीन अवश्य होंगे। परन्तु जब उत्तर होगा, तब पूर्व बन्धहेतु हो, और न भी हो; जैसे अविरति के होने पर पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व होगा, परन्तु दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान में अविरति के होने पर भी मिथ्यात्व नहीं रहता। इसी तरह दूसरे में भी घटा लेना चाहिए। १।

बन्ध का स्वरूप—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते । २ ।
स बन्धः । ३ ।

कषाय के सम्बन्ध से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है।

वह वन्ध कहलाता है ।

पुद्गल की वर्गणाएँ– प्रकार अनेक हैं । उनमे से जो वर्गणाएँ कर्मरूप परिणाम को प्राप्त करने की योग्यता रखती हैं, जीव उन्हीं को ग्रहण करके निज आत्मप्रदेशों के साथ विशिष्ट रूप से जोड़ देता है, अर्थात् स्वभाव से जीव अमूर्त होने पर भी अनादिकाल से कर्मसंवन्ध वाला होने से मूर्तवत् हो जाने के कारण मूर्त कर्म-पुद्गलो का ग्रहण करता है, जैसे दीपक बत्ती द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला रूप मे परिणत कर लेता है, वैसे ही जीव कापायिक विकार से योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हे कर्मरूप मे परिणत कर लेता है । आत्मप्रदेशों के साथ कर्म-रूप परिणाम को प्राप्त पुद्गलों का यह संवन्ध ही वन्ध कहलाता है । ऐसे वन्ध मे मिथ्यात्व आदि अनेक निमित्त होते हैं, फिर भी यहाँ पर जो यह कहा गया है कि कषाय के संवन्ध से पुद्गलो का ग्रहण होता है, वह अन्य हेतुओं की अपेक्षा कषाय की प्रधानता सूचन करके के लिए ही है । २, ३ ।

वन्ध के प्रकार–

प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधयः । ४ ।

प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश ये चार उसके– वन्ध के प्रकार हैं ।

कर्मपुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किये जाने पर कर्मरूप परिणाम को प्राप्त होते हैं, इसका अर्थ इतना ही है कि उसी समय उसमे चार अंशो का निर्माण होता है, वे अंश ही वन्ध के प्रकार हैं । उदाहरणार्थ, जव वकरी, गाय, भैंस आदि द्वारा खाया हुआ घास

वगैरह दूध रूप मे परिणत होता है, तब उसमें मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है, वह स्वभाव अमुक समय तक उसी रूप मे टिक सके ऐसी कालमर्यादा उसमे निर्मित होती है, इस मधुरता में तीव्रता, मन्दता आदि विशेषताएँ भी होती हैं, और इस दूध का पौद्गलिक परिमाण भी साथ ही बनता है, इसी तरह जीव द्वारा ग्रहण होकर उसके प्रदेशो में सश्लेष को प्राप्त हुए कर्मपुद्गलों में भी चार अंशो का निर्माण होता है। वे अश ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश हैं।

१ कर्मपुद्गलो में जो ज्ञान को आवरण करने, दर्शन को रोकने, सुख-दु ख देने आदि का स्वभाव बनता है, वही स्वभावनिर्माण प्रकृतिबन्ध है। २ स्वभाव बनने के साथ ही उस स्वभाव से अमुक समय तक च्युत न होने की मर्यादा भी पुद्गलो मे निर्मित होती है, यह कालमर्यादा का निर्माण ही स्थितिबन्ध है। ३ स्वभावनिर्माण के साथ ही उसमे तीव्रता, मन्दता आदि रूप मे फलानुभव कराने-वाली विशेषताएँ बँधती हैं, ऐसी विशेपता ही अनुभावबन्ध है। ४ ग्रहण किये जाने पर भिन्न भिन्न स्वभाव में परिणत होने वाली कर्मपुद्गलराशि स्वभावानुसार अमुक अमुक परिमाण में बँट जाती है– यह परिमाणविभाग ही प्रदेशबन्ध कहलाता है।

बन्ध के इन चार प्रकारो मे से पहला और अन्तिम ये दोनो योग के आश्रित है, क्योंकि योग के तरतमभाव पर ही प्रकृति और प्रदेश बन्ध का तरतमभाव अवलंबित है। दूसरा और तीसरा प्रकार कषाय के आश्रित है, कारण यह कि कषाय की तीव्रता, मन्दता पर ही स्थिति और अनुभाव बन्ध की अधिकता या अल्पता अवलंबित है। ४।

मूलप्रकृति भेदों का नाम निर्देश–

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनाम-गोत्रान्तरायाः । ५ ।

पहला अर्थात् प्रकृतिबन्ध ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेद-नीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अन्तराय रूप है।

अध्यवसाय विशेष से जीव द्वारा एक ही बार मे ग्रहण की हुई कर्मपुद्गलराशि मे एक ही साथ आध्यवसायिक शक्ति की विविधता के अनुसार अनेक स्वभावो का निर्माण होता है। वे स्वभाव अदृश्य है, फिर भी उनका परिगणन सिर्फ उनके कार्य अर्थात् प्रभाव को देख कर कर सकते है। एक या अनेक जीवो पर होने वाले कर्म के असंख्य प्रभाव अनुभव मे आते हैं। इन प्रभावो के उत्पादक स्वभाव भी वास्तव में असंख्यात ही हैं। ऐसा होने पर भी थोड़े मे वर्गीकरण करके उन सभी को आठ भागों मे बॉट दिया गया है। यही मूलप्रकृतिबन्ध कहलाता है। इन्हीं आठ मूलप्रकृति भेदो का निर्देश यहाँ किया है, जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्क, नाम, गोत्र और अन्तराय।

१ जिसके द्वारा ज्ञान– विशेषबोध का आवरण हो वह ज्ञानावरण। २ जिसके द्वारा दर्शन– सामान्यबोध का आवरण हो वह दर्शनावरण। ३ जिससे सुख या दुःख का अनुभव हो वह वेदनीय। ४ जिससे आत्मा मोह को प्राप्त हो वह मोहनीय। ५ जिससे भव धारण हो वह आयुष्क। ६ जिससे विशिष्ट गति, जाति आदि की प्राप्ति हो वह नाम। ७ जिससे ऊँचपन या नीचपन मिले वह गोत्र। ८ जिससे देने, लेने आदि में विघ्न पड़े वह अन्तराय

कर्म के विविध स्वभावो को संक्षेप दृष्टि से पूर्वोक्त आठ भागों मे बॉट देने पर भी विस्तृतरुचि जिज्ञासुओं के लिए मध्यम मार्ग का अवलंबन करके उन आठ के पुन. दूसरे प्रकार वर्णन किये हैं, जो उत्तरप्रकृति के भेदों के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे उत्तरप्रकृति भेद ९७ है, वे मूलप्रकृति के क्रम से आगे क्रमश. दरसाये गए हैं।५।

उत्तरप्रकृति भेदों की संख्या और नामनिर्देश–

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथा-क्रमम् । ६ ।

मत्यादीनाम् । ७ ।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचला-प्रचलास्त्यानगृद्धिवेदनीयानि च । ८ ।

सदसद्वेद्ये । ९ ।

दर्शनचारित्रमोहनीयकषायनोकषायवेदनीयाख्यास्त्रि-द्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषा-यनोकषायावनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावर-णसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभा हास्य-रत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदाः । १० ।

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि । ११ ।

गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसं-हननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघातपराघातातपो-द्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वर

शुभसूक्ष्मपर्याप्तस्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च । १२ ।

उच्चैर्नीचैश्च । १३ ।

दानादीनाम् । १४ ।

आठ मूलप्रकृतियों के अनुक्रम से पाँच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच भेद हैं।

मति आदि पाँच ज्ञानों के आवरण ही पाँच ज्ञानावरण हैं।

चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन इन चारों के आवरण, तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच वेदनीय ऐसे नव दर्शनावरणीय हैं।

प्रशस्त– सुखवेदनीय और अप्रशस्त– दुःखवेदनीय ये दो वेदनीय हैं।

दर्शनमोह, चारित्रमोह, कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय इन के अनुक्रम से तीन, दो, सोलह और नव भेद हैं, जैसे– सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, तदुभय– सम्यक्त्वमिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीय। कषाय और नोकषाय ये दो चारित्रमोहनीय हैं। जिनमें से क्रोध, मान, माया और लोभ ये प्रत्येक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सञ्ज्वलन रूप से चार चार प्रकार के होने से सोलह भेद कषायचारित्रमोहनीय के बनते हैं, तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नव नोकषायचारित्रमोहनीय हैं।

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव सबन्धी के भेद से चार आयु हैं।

गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग, निर्माण, बन्धन, संघात, सस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, और प्रतिपक्ष सहित अर्थात् साधारण और प्रत्येक, स्थावर और त्रस, दुर्भग और सुभग, दुःस्वर और सुस्वर, अशुभ और शुभ, बादर और सूक्ष्म, अपर्याप्त और पर्याप्त, अस्थिर और स्थिर, अनादेय और आदेय, अयश और यश; एव तीर्थकरत्व यह बयालीस प्रकार का नामकर्म है।

उच्च और नीच दो प्रकार का गोत्रकर्म है।

दान आदि के पॉच अन्तराय हैं।

ज्ञानावरण कर्म की पाँच और दर्शनावरण की नव प्रकृतियाँ

१ मति आदि पाँच ज्ञानो और चक्षुर्दर्शन आदि चार दर्शनों का वर्णन किया जा चुका है; उनमे से प्रत्येक को आवरण करनेवाले स्वभाव से युक्त कर्म अनुक्रम से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण इस तरह ये पाँच ज्ञानावरण हैं, तथा चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार दर्शनावरण है। उक्त चार के उपरांत अन्य भी पाँच दर्शनावरण हैं, जो निम्न अनुसार हैं— जिस कर्म के उदय से

१ देखो अ० १, सूत्र ९ से ३३ और अ० २, सू० ९

सुखपूर्वक जाग सके ऐसी निद्रा आवे तो वह निद्रावेदनीय दर्शनावरण है । २ जिस के उदय से निद्रा से जागना अत्यन्त दुष्कर हो वह निद्रानिद्रावेदनीय दर्शनावरण । ३ जिस कर्म के उदय से बैठे बैठे या खड़े खड़े ही नींद आ जावे वह प्रचलावेदनीय है । ४ जिस कर्म के उदय से चलते-चलते ही नींद आ जावे वह प्रचलाप्रचलावेदनीय । ५ जिस कर्म के उदय से जागरित अवस्था में सोचे हुए काम को निद्रावस्था मे करने का ही सामर्थ्य प्रकट हो जाय वह स्त्यानगृद्धि है, इस निद्रा में सहज बल से कहीं अनेकगुण अधिक बल प्रकट होता है । ७,८ ।

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ

१ जिसके उदय से प्राणी को सुख का अनुभव हो वह सातवेदनीय, और २ जिसके उदय से प्राणी को दु:ख का अनुभव हो वह असातवेदनीय । ९ ।

दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ

१ जिस के उदय से तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि न हो वह मिथ्यात्वमोहनीय । २ जिस के उदय समय में यथार्थता की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे वह मिश्रमोहनीय । ३ जिस का उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक या क्षायिकभाव वाली तत्त्वरुचि का प्रतिबन्ध करता है वह सम्यक्त्वमोहनीय है ।

चारित्रमोहनीय के पच्चीस प्रकार–

क्रोध, मान, माया और लोभ– कषाय के ये चार मुख्य प्रकार हैं । प्रत्येक की तीव्रता के तरतमभाव की दृष्टि से चार चार प्रकार बतलाये गए हैं । जो कर्म उक्त क्रोध आदि चार कषायों को इतना

सोलह कषाय

अधिक तीव्र बना देता है कि जिसके कारण जीव को अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करना पड़े, वह कर्म अनुक्रम से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ कहलाता है। जिन कर्मों के उदय से आविर्भाव को प्राप्त कषाय सिर्फ इतने ही तीव्र हों, जो कि विरति का ही प्रतिबन्ध कर सकें, वे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ कहलाते हैं। जिनका विपाक देशविरति का प्रतिबन्ध न करके सिर्फ सर्वविरति का ही प्रतिबन्ध करे, वे प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया और लोभ। जिनके विपाक की तीव्रता सर्वविरति का प्रतिबन्ध तो न कर सके, लेकिन उसमें स्खलन और मालिन्य ही पैदा कर सके, वे संज्वलन क्रोध, मान माया और लोभ हैं।

नव नोकषाय

१ हास्य की उत्पादक प्रकृति वाला कर्म हास्यमोहनीय है। २, ३ कहीं प्रीति और कहीं अप्रीति को पैदा करने वाला कर्म अनुक्रम से रतिमोहनीय और अरतिमोहनीय कहलाते हैं। ४ भयशीलता का जनक भयमोहनीय, ५ शोकशीलता का जनक शोकमोहनीय और, ६ घृणाशीलता का जनक जुगुप्सामोहनीय कहलाते हैं। ७ स्त्रैणभाव के विकार को पैदा करने वाला स्त्रीवेद, ८ पौरुषभाव के विकार को पैदा करने वाला पुरुषवेद और ९ नपुंसकभाव के विकार का उत्पादक कर्म नपुंसकवेद कहलाता है। ये नव ही मुख्य कषाय के सहचारी एवं उद्दीपक होने से नोकषाय कहलाते हैं। १०।

आयुष्कर्म के चार प्रकार

जिसके उदय से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक गति का जीवन विताना पड़ता है, वे अनुक्रम से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक के आयुष्य हैं। ११।

नाम कर्म की बयालीस प्रकृतियाँ—

चौदह पिण्ड-प्रकृतियाँ

१ सुख, दुःख भोगने के योग्य पर्यायविशेष स्वरूप देवादि चार गतिओं को प्राप्त कराने वाला कर्म गतिनाम। २ एकेन्द्रियत्व से लेकर पंचेन्द्रियत्व तक समान परिणाम को अनुभव कराने वाला कर्म जातिनाम। ३ औदारिक आदि शरीर प्राप्त कराने वाला कर्म शरीरनाम। ४ शरीरगत अङ्गों और उपाङ्गो का निमित्तभूत नामकर्म अङ्गोपाङ्ग-नाम। ५, ६ प्रथम गृहीत औदारिक आदि पुद्गलो के साथ नवीन ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों का जो कर्म संबन्ध कराता है वह बन्धननाम और बद्धपुद्गलों को शरीर के नानाविध आकारो मे व्यवस्थित करने वाला कर्म सघातनाम। ७, ८ अस्थिबन्ध की विशिष्ट रचना रूप सहननन नाम और शरीर की विविध आकृतियों का निमित्त कर्म संस्थाननाम। ९-१२ शरीर गत श्वेत आदि पाँच वर्ण, सुरभि आदि दो गन्ध, तिक्त आदि पाँच रस और शीत आदि आठ स्पर्श— इनके नियामक कर्म अनुक्रम से वर्णनाम, गन्ध-नाम, रसनाम और स्पर्शनाम। १३ विग्रह द्वारा जन्मान्तर गमन के समय जीवको आकाश प्रदेश की श्रेणी के अनुसार गमन कराने वाला कर्म आनुपूर्वीनाम। १४ प्रशस्त और अप्रशस्त गमन का नियामक कर्म विहायोगतिनाम है। ये चौदह पिण्डप्रकृतियाँ कह-लाती हैं, इनके अवान्तर भेद भी होते हैं, इसीलिए ऐसा नाम है।

त्रसदशक और स्थावरदशक

१, २ जिस कर्म के उदय से स्वतन्त्रभाव से गमन करने की शक्ति प्राप्त हो वह त्रसनाम, और इससे उलटा जिसके उदय से वैसी शक्ति न हो वह स्थावर-नाम। ३, ४ जिसके उदय से जीवो के चर्म-

चक्षु के गोचर बादर शरीर की प्राप्ति हो वह बादरनाम, इसके विपरीत जिससे चर्मचक्षु के अगोचर सूक्ष्मशरीर की प्राप्ति हो वह सूक्ष्मनाम। ५, ६ जिसके उदय से प्राणी स्वयोग्य पर्याप्ति को पूर्ण करे वह पर्याप्तनाम, इससे उलटा जिसके उदय से स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न कर सके वह अपर्याप्तनाम। ७, ८ जिसके उदय से जीव को भिन्न-भिन्न शरीर की प्राप्ति हो वह प्रत्येकनाम, और जिसके उदय से अनन्त जीवों का एक ही साधारण शरीर हो वह साधारणनाम। ९, १० जिसके उदय से हड्डी, दाँत आदि स्थिर अवयव प्राप्त हों वह स्थिरनाम और जिसके उदय से जिह्वा आदि अस्थिर अवयव प्राप्त हो वह अस्थिरनाम। ११, १२ जिसके उदय से नाभि के ऊपर के अवयव प्रशस्त हो वह शुभनाम और जिससे नाभिके नीचे के अवयव अप्रशस्त हो वह अशुभनाम। १३, १४ जिसके उदय से जीवका स्वर श्रोता को प्रीति उत्पन्न करे वह सुस्वरनाम और जिससे वह श्रोता को अप्रीति उत्पन्न करे वह दुःस्वरनाम। १५, १६ जिसके उदय से कोई उपकार न करने पर भी सबके मन को प्रिय लगे वह सुभगनाम और जिसके उदय से उपकार करने पर भी सब को प्रिय न लगे वह दुर्भगनाम। १७, १८ जिसके उदय से वचन बहुमान्य हो वह आदेयनाम और जिसके उदय से वैसा न हो वह अनादेयनाम। १९, २० जिसके उदय से दुनिया में यश व कीर्ति प्राप्त हो वह यशःकीर्तिनाम और जिसके उदय से यश व कीर्ति प्राप्त न हो वह अयशःकीर्तिनाम कहलाता है।

१ जिसके उदय से शरीर गुरु या लघु परिणाम को न पाकर अगुरुलघु रूप से परिणत होता है वह कर्म अगुरुलघुनाम। २ प्रति-

जिह्वा, चोरदंन्त, रसौली आदि उपघातकारी अवयवों को प्राप्त कराने वाला कर्म उपघातनाम। ३ दर्शन या वाणी से दूसरे को निष्प्रभ कर दे ऐसी दशा प्राप्त कराने वाला कर्म पराघातनाम। ४ श्वास लेने, छोड़ने की शक्ति का नियामक श्वासोच्छ्वासनाम। ५, ६ अनुष्ण शरीर मे उष्ण प्रकाश का नियामक कर्म आतपनाम और शीत प्रकाश का नियामक कर्म उद्योतनाम। ७ शरीर मे अङ्ग-प्रत्यङ्गो को यथोचित स्थान मे व्यवस्थित करने वाला निर्माणनाम। ८ धर्मतीर्थ प्रवर्ताने की शक्ति अर्पित करने वाला कर्म तीर्थंकरनाम है। १२।

आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ

गोत्र कर्म की दो प्रकृतिया

प्रतिष्ठा प्राप्त हो ऐसे कुल मे जन्म दिलाने वाला कर्म उच्चगोत्र और शक्ति रहने पर भी प्रतिष्ठा न मिल सके ऐसे कुल में जन्मदाता कर्म नीचगोत्र कहलाता है। १३।

अन्तराय कर्म की पॉच प्रकृतियॉ

जो कर्म कुछ भी देने, लेने, एक वार या वार वार भोगने और सामर्थ्य फोड़ने में अन्तराय—विघ्न खड़ा कर देते हैं, वे क्रमश दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कर्म कहलाते हैं। १४।

स्थितिबन्ध का वर्णन—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः। १५।

सप्ततिर्मोहनीयस्य। १६।

नामगोत्रयोर्विंशतिः। १७।

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य। १८।

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य । १९ ।
नामगोत्रयोरष्टौ । २० ।
शेषाणामन्तर्मुहूर्तम् । २१ ।

पहली तीन प्रकृतियाँ अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय—इन चार की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटी-कोटी सागरोपम प्रमाण है ।

मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटीकोटी सागरोपम प्रमाण है ।

नाम और गोत्र की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोटीकोटी सागरोपम प्रमाण है ।

आयुष्क की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम प्रमाण है ।

जघन्य स्थिति वेदनीय की बारह मुहूर्त प्रमाण है ।

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त प्रमाण है ।

बाकी के पाँच अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय और आयुष्य की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है ।

प्रत्येक कर्म की जो उत्कृष्ट स्थिति दरसाई गई है, उसके अधिकारी मिथ्यादृष्टि पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव होते हैं, जघन्य स्थिति के अधिकारी भिन्न भिन्न होते हैं । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन छहों की जघन्य स्थिति सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान में संभव है । मोह-नीय की जघन्य स्थिति नौवें अनिवृत्तिबादरसंपराय नामक गुण-स्थान में संभव है । और आयुष्य की जघन्य स्थिति संख्यातवर्ष-

जीवी तिर्यंच और मनुष्य मे संभव है। मध्यमस्थिति के असंख्यात प्रकार होते हैं और उनके अधिकारी भी काषायिक परिणाम के तारतम्य के अनुसार असंख्यात होते हैं। १५-२१।

अनुभावबन्ध का वर्णन-

विपाकोऽनुभावः । २२ ।

स यथानाम । २३ ।

ततश्च निर्जरा । २४ ।

विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति ही अनुभाव कहलाती है।

वह- अनुभाव भिन्न भिन्न कर्म की प्रकृति किंवा स्वभाव के अनुसार वेदन किया जाता है।

उससे अर्थात् वेदन से निर्जरा होती है।

अनुभाव और उसके बन्ध का पृथक्करण

बन्धनकाल में उसके कारणभूत काषायिक अध्यवसाय के तीव्र-मन्द भाव के अनुसार प्रत्येक कर्म मे तीव्र-मन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है यह जो फल देने का सामर्थ्य है वही अनुभाव है और उसका जो निर्माण वही अनुभावबन्ध है।

अनुभाव के फल देने का प्रकार

अनुभाव अवसर आने पर ही फल देता है, परन्तु इस बारे मे इतना जान लेना चाहिए कि प्रत्येक अनुभाव- फलप्रद शक्ति स्वयं जिस कर्म में निष्ठ हो, उसी कर्म के स्वभाव अर्थात् प्रकृति के अनुसार ही फल देती है, दूसरे कर्म के स्वभावानुसार नहीं। उदाहरणार्थ, ज्ञानावरण कर्म

का अनुभाव उस कर्म के स्वभावानुसार ही तीव्र या मन्द फल उत्पन्न करता है अर्थात् वह ज्ञान को आवृत करने का ही काम करता है; लेकिन दर्शनावरण, वेदनीय आदि अन्य कर्म के स्वभावानुसार फल नहीं देता; सारांश यह कि वह न तो दर्शनशक्ति को आवृत करता है और न सुख दुःख के अनुभव आदि कार्य को ही उत्पन्न करता है। इसी तरह दर्शनावरण का अनुभाव दर्शन शक्ति को तीव्र या मन्द रूप से आवृत करता है, लेकिन ज्ञान के आच्छादन आदि अन्य कर्मों के कार्यों को नहीं करता।

कर्म के स्वभावानुसार फल देने का अनुभावबन्ध का नियम भी मूलप्रकृतिओं मे ही लागू होता है, उत्तर प्रकृतिओं में नहीं। कारण यह है कि किसी भी कर्म की एक उत्तरप्रकृति बाद में अध्यवसाय के बल से उसी कर्म की दूसरी उत्तरप्रकृति के रूप में बदल सकती है, जिससे पहली का अनुभाव परिवर्तित उत्तरप्रकृति के स्वभावानुसार तीव्र या मन्द फल प्रदान करता है। जैसे– मतिज्ञानावरण जब श्रुतज्ञानावरण आदि सजातीय उत्तरप्रकृति के रूप में संक्रमण करता है, तब मतिज्ञानावरण का अनुभाव भी श्रुतज्ञानावरण आदि के स्वभावानुसार ही श्रुतज्ञान या अवधि आदि ज्ञान को आवृत करने का काम करता है। हाँ, उत्तरप्रकृतिओं मे कितनी ही ऐसी हैं, जो सजातीय होने पर भी आपस में संक्रमण नहीं करतीं; जैसे– दर्शनमोह और चारित्रमोह इनमें से दर्शनमोह चारित्रमोह के रूप में अथवा चारित्रमोह दर्शनमोह के रूप में संक्रमण नहीं करता। इसी तरह नारकआयुष्क तिर्यंचआयुष्क के रूप में या वह आयुष्क किसी अन्य आयुष्क के रूप में संक्रमण नहीं करता।

प्रकृतिसंक्रम की तरह ही बन्धकालीन रस और स्थिति मे भी बाद में अध्यवसाय के बल से फेरफार हो सकता है, तीव्ररस मन्द और मन्दरस तीव्र वन सकता है। इसी तरह स्थिति भी उत्कृष्ट से जघन्य और जघन्य से उत्कृष्ट बन सकती है।

फलोदय के बाद मुक्त कर्म की दशा

अनुभाव के अनुसार कर्म का तीव्र या मन्द फल का वेदन हो जाने पर वह कर्म आत्मप्रदेशों से अलग पड़ जाता है, अर्थात् फिर संलग्न नहीं रहता। यही कर्मनिवृत्ति– निर्जरा कहलाती है। कर्म की निर्जरा जैसे उसके फल वेदन से होती है, वैसे बहुधा तप से भी होती है। तप के बल से अनुभावानुसार फलोदय के पहले ही कर्म आत्मप्रदेशों से अलग पड़ सकते हैं। यह बात सूत्र मे 'च' शब्द रखकर सूचित की गई है। २२–२४।

प्रदेशबन्ध का वर्णन–

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढ स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः। २५।

कर्म (प्रकृति) के कारणभूत सूक्ष्म, एकक्षेत्र को अवगाहन करके रहे हुए तथा अनन्तानन्त प्रदेश वाले पुद्गल योगविशेष से सभी ओर से सभी आत्मप्रदेशों में वन्ध को प्राप्त होते हैं।

प्रदेशबन्ध यह एक प्रकार का संवन्ध है, और उस संवन्ध के कर्मस्कन्ध और आत्मा ये दो आधार हैं। अत. इनके बारे मे जो आठ प्रश्न पैदा होते हैं, उन्हीं का उत्तर प्रस्तुत सूत्र में दिया गया है। वे प्रश्न इस प्रकार हैं–

१ जब कर्मस्कन्धों का बन्ध होता है, तब उनमें से क्या बनता है ? अर्थात् उनमें निर्माण क्या होता है ? २ इन स्कन्धों का ऊँचे, नीचे या तिरछे किन आत्मप्रदेशों द्वारा ग्रहण होता है ? ३ सभी जीवों का कर्मबन्ध समान होता है, या असमान ? यदि असमान होता है तो वह किस कारण से ? ४ वे कर्मस्कन्ध स्थूल होते हैं या सूक्ष्म ? ५ जीवप्रदेश वाले क्षेत्र में रहे हुए कर्मस्कन्धों का ही जीवप्रदेश के साथ बन्ध होता है या उससे भिन्न क्षेत्र में रहे हुओं का भी ? ६ वे बन्ध के समय गतिशील होते है या स्थितिशील ? ७ उन कर्मस्कन्धों का संपूर्ण आत्मप्रदेशों मे बन्ध होता है या कुछ एक आत्मप्रदेशों में ? ८ वे कर्मस्कन्ध संख्यात, असंख्यात, अनन्त या अनन्तानन्त मे से कितने प्रदेश वाले होते हैं ?

इन आठो प्रश्नों के क्रम से सूत्र में दिये हुए उत्तर निम्न प्रकार से हैं–

१ आत्मप्रदेशों के साथ बँधने वाले पुद्गलस्कन्धों में कर्मभाव अर्थात् ज्ञानावरणत्व आदि प्रकृतियाँ बनती हैं; मतलब यह कि वैसे स्कन्धों से उन प्रकृतियों का निर्माण होता है। इसीलिए उन स्कन्धों को सभी प्रकृतियों का कारण कहा है। २ ऊँचे, नीचे और तिरछे इस तरह सभी दिशाओं मे रहे हुए आत्मप्रदेशों के द्वारा कर्मस्कन्धो का ग्रहण होता है, किसी एक ही दिशा मे रहे हुए आत्मप्रदेशो के द्वारा नहीं। ३ सभी जीवों के कर्मबन्ध के असमान होने का कारण यह है कि सभी के मानसिक, वाचिक और कायिक योग– व्यापार एक सरीखे नहीं होते, यही कारण है योग के तरतमभाव के अनुसार प्रदेशबन्ध में भी तरतमभाव आ जाता है। ४ कर्मयोग्य पुद्गलस्कन्ध स्थूल– बादर नहीं होते, परन्तु सूक्ष्म

ही होते हैं, वैसे सूक्ष्मस्कन्धों का ही कर्मवर्गणा में से ग्रहण होता है । ५ जीवप्रदेश के क्षेत्र में ही रहे हुए कर्मस्कन्धो का बन्ध होता है, उसके वाहर के क्षेत्र में रहे हुओं का नहीं । ६ सिर्फ स्थिर होने से ही वन्ध होता है, क्योंकि गतिशील स्कन्ध अस्थिर होने से वन्ध को प्राप्त नहीं होते । ७ प्रत्येक कर्म के अनन्त स्कन्धो का सभी आत्मप्रदेशो मे बन्ध होता है। ८ बँधने वाले प्रत्येक कर्मयोग्य स्कन्ध अनन्तानन्त परमाणुओं के ही बने होते हैं, कोई भी संख्यात, असंख्यात या अनन्त परमाणुओं का बना हुआ नहीं होता । २५ ।

पुण्य और पाप प्रकृतियों का विभाग–

सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् । २६ ।[1]

सातवेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति, पुरुष वेद, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र– इतनी प्रकृतियाँ ही पुण्य रूप हैं, वाकी की सभी पाप रूप हैं ।

जिन जिन कर्मों का बन्ध होता है, उन सभी का विपाक

---

१ दिगवरीय परपरा में इस एक सूत्र के स्थान मे नीचे लिखे अनुसार दो सूत्र हैं– "सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् । २५ । अतोऽन्यत्पापम् । २६ ।" इनमे से पहले सूत्र मे सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद– इन चार पुण्य प्रकृतियों का यहाँ की तरह उल्लेख नहीं है, तथा जो दूसरा सूत्र है वह श्वेतावरीय परपरा मे सूत्ररूप मे न होकर भाष्यवाक्य-रूप में है ।

विवेचन मे गिनाई गईं ४२ पुण्य प्रकृतियाँ कर्मप्रकृति, नव तत्त्व आदि अनेक ग्रन्थों में प्रसिद्ध है । दिगवरीय ग्रन्थों मे भी वे ही प्रकृतियाँ पुण्य

केवल शुभ या अशुभ ही नहीं होता, बल्कि अध्यवसाय रूप कारण की शुभाशुभता के निमित्त से वे शुभाशुभ दोनों प्रकार के निर्मित होते हैं। शुभ अध्यवसाय से निर्मित विपाक शुभ– इष्ट होता है और अशुभ अध्यवसाय से निर्मित विपाक अशुभ– अनिष्ट होता है। जिस परिणाम मे संक्लेश जितना ही कम होगा, वह परिणाम उतना ही अधिक शुभ और जिस परिणाम में संक्लेश जितना अधिक होगा, वह परिणाम उतना ही विशेष अशुभ। कोई भी एक परिणाम ऐसा नही, जिसको सिर्फ शुभ या अशुभ कहा जा सके। हरएक परिणाम शुभ, अशुभ किंवा उभय रूप होने पर भी उसमें जो शुभत्व या अशुभत्व का व्यवहार किया जाता है, वह गौणमुख्यभाव की अपेक्षा से समझना चाहिए, इसीलिए जिस शुभ परिणाम से पुण्य प्रकृतियों मे शुभ अनुभाग बँधता है, उसी परिणाम से पाप प्रकृतियो मे अशुभ अनुभाग भी बँधता है, इसके विपरीत जिस अशुभ परिणाम से पाप प्रकृतियों मे अशुभ अनुभाग बँधता है, उसी परिणाम से पुण्य प्रकृतियो में शुभ अनुभाग भी बँधता है। फ़र्क इतना ही है, जैसे प्रकृष्ट शुभ परिणाम से होने

रूप से प्रसिद्ध है। श्वेताबरीय परपरा के प्रस्तुत सूत्र मे पुण्यरूप मे निर्देश की गई सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेद ये चार प्रकृतिया दूसरे किसी ग्रन्थ में पुण्यरूप से वर्णन नहीं की गई।

उन चार प्रकृतियों को पुण्यरूप मानने वाला मतविशेष बहुत प्राचीन है, ऐसा मालूम पड़ता है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में उपलब्ध इनके उल्लेख के उपरात भाष्यवृत्तिकार ने भी मतभेद को दरसाने वाली कारिकाएँ दी हैं, और लिखा है कि इस मतव्य का रहस्य सम्प्रदाय का विच्छेद होने से हमें मालूम नहीं पड़ता; हाँ, चौदह पूर्वधारी जानते होंगे।

वाला शुभ अनुभाग प्रकृष्ट होता है अशुभ अनुभाग निकृष्ट होता है, वैसे ही प्रकृष्ट अशुभ परिणाम से बँधने वाला अशुभ अनुभाग प्रकृष्ट होता है और शुभ अनुभाग निकृष्ट होता है।

पुण्य रूप से प्रसिद्ध ४२ प्रकृतियाँ

सातवेदनीय, मनुष्यायुष्क, देवायुष्क, तिर्यंच-आयुष्क, मनुष्य गति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण– ये पाँच शरीर, औदारिक-अंगोपांग, वैक्रिय-अंगोपांग, आहारक-अगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वज्रर्षभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, अगुरुलघु, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्द्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, निर्माण-नाम, तीर्थंकरनाम और उच्चगोत्र।

पाप रूप से प्रसिद्ध ८२ प्रकृतियाँ

पाँच ज्ञानावरण, नव दर्शनावरण, असातवेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नव नोकषाय, नारकायुष्क, नरकगति, तिर्यंचगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पहले संहनन को छोड़ कर बाक़ी के पाँच संहनन– अर्धवज्रर्षभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त, पहले संस्थान को छोड़ कर बाकी के पाँच संस्थान– न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन और हुंड, अप्रशस्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, नारकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, उपघातनाम, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, नीचगोत्र और पाँच अन्तराय। २६।

नववाँ अध्याय ।

आठवें अध्याय मे बन्ध का वर्णन किया गया है, अब इस अध्याय में क्रमप्राप्त संवर का निरूपण किया जाता है ।

संवर का स्वरूप–

आस्रवनिरोधः संवरः । १ ।

आस्रव का निरोध ही संवर है ।

जिस निमित्त से कर्म बँधते हैं वह आस्रव है, आस्रव की ऐसी व्याख्या पहले की जा चुकी है, उस आस्रव का निरोध अर्थात् प्रतिबन्ध करना ही संवर कहलाता है । आस्रव के ४२ भेद पहले गिनाए जा चुके हैं, उनका जितने-जितने अंशमें निरोध होगा, वह उतने-उतने अंश मे संवर कहलायगा । आध्यात्मिक विकासका क्रम ही आस्रवनिरोध के विकास के आश्रित है, अत. ज्यों ज्यो आस्रवनिरोध बढ़ता जायगा, त्यो त्यो गुणस्थान की भी वृद्धि होगी ।

---

१ जिस गुणस्थान में मिथ्यात्व, अविरति आदि चार हेतुओं में से जिन जिन हेतुओं का संभव हो, और उनके कारण से जिन जिन कर्म प्रकृतिओं के बन्ध का सभव हो, उन हेतुओं और तज्जन्य कर्म प्रकृतिओं के बन्ध का जो विच्छेद, वही तो उस गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान का सवर है, अर्थात् पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान के आस्रव या तज्जन्यबन्ध का जो अभाव, वही उत्तर-उत्तरवर्ती गुणस्थान का सवर है । इसके वास्ते देखो दूसरे कर्मग्रन्थ मे बन्धप्रकरण और चौथा कर्मग्रन्थ (गाथा ५१–५८) तथा प्रस्तुत सूत्र की सर्वार्थसिद्धि ।

संवर के उपाय—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः । २ ।
तपसा निर्जरा च । ३ ।

गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र इनसे वह— संवर होता है ।

तप से संवर और निर्जरा होती है ।

सामान्यत संवर का स्वरूप एक ही है, फिर भी उपायभेद से उसके अनेक भेद दरसाये गए हैं । संक्षेपत इसके ७ उपाय और विस्तार से ६९ गिनाये गए हैं । भेदो की यह गणना धार्मिक आचारो के विधानों पर अवलबित है ।

तप जैसे संवर का उपाय है, वैसे ही निर्जरा का भी उपाय है। सामान्यतया तप अभ्युदय— लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन माना जाता है, फिर भी यह जानने योग्य है कि वह निःश्रेयस— आध्यात्मिक सुख का भी साधन होता है, क्योंकि तप एक होने पर भी उसके पीछे रही हुई भावनाके भेद के कारण वह सकाम और निष्काम इस तरह दो प्रकार का हो जाता है । सकाम अभ्युदय का साधक होता है और निष्काम नि.श्रेयस का । २, ३ ।

गुप्ति का स्वरूप—

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । ४ ।

प्रशस्त जो योगों का निग्रह— वह गुप्ति है ।

कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया— योग का जो सभी तरह का निग्रह वह गुप्ति नहीं है, किन्तु जो निग्रह प्रशस्त हो वही

गुप्ति होकर संवर का उपाय बनता है। प्रशस्त निग्रह का अर्थ है जो सोचसमझ कर श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया गया हो अर्थात् बुद्धि और श्रद्धापूर्वक मन, वचन, और काय को उन्मार्ग से रोकना और सन्मार्ग मे लगाना। योग के संक्षेप में तीन भेद होने से निग्रह रूप गुप्ति के भी तीन भेद होते हैं, जो निम्न प्रकार से हैं—

१ किसी भी चीज के लेने व रखने मे किंवा बैठने, उठने व फिरने आदि मे कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक हो, ऐसे शारीरिक व्यापार का नियमन करना ही कायगुप्ति है। २ बोलने के प्रत्येक प्रसंग पर या तो वचन का नियमन करना और या प्रसंग पाकर मौनधारण कर लेना वचनगुप्ति है। ३ दुष्ट संकल्प एवं अच्छे-बुरे मिश्रित संकल्प का त्याग करना और अच्छे संकल्प का सेवन करना ही मनोगुप्ति है।

समिति के भेद-

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः । ५ ।

सम्यग्– निर्दोष ईर्या, सम्यग् भाषा, सम्यग् एषणा, सम्यग् आदान-निक्षेप और सम्यग् उत्सर्ग ये पॉच समितियॉ हैं।

सभी समितियॉ विवेकयुक्त प्रवृत्तिरूप होने से संवर का उपाय बनती हैं। वे पाँचों समितियाँ इस प्रकार हैं—

१ किसी भी जन्तु को क्लेश न हो एतदर्थ सावधानता पूर्वक चलना ही ईर्यासमिति है। २ सत्य हितकारी, परिमित और सदेह रहित बोलना भाषासमिति है। ३ जीवन यात्रा में आवश्यक हों ऐसे निर्दोष साधनो को जुटाने के लिए सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करना एषणासमिति है। ४ वस्तुमात्र को भलीभाँति देख व प्रमार्जित करके लेना या रखना आदाननिक्षेपसमिति है। ५ जहाँ

जन्तु न हों ऐसे प्रदेश में देख व प्रमार्जित करके ही अनुपयोगी वस्तुओं को डालना उत्सर्गसमिति है।

प्र०— गुप्ति और समिति में क्या अन्तर है ?

उ०— गुप्ति मे असत्क्रिया का निषेध मुख्य है और समिति मे सत्क्रिया का प्रवर्तन मुख्य है। ५।

धर्म के भेद—

उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागा-किञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः । ६ ।

क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य यह दस प्रकारका उत्तम धर्म है।

क्षमा आदि गुणो को जीवन मे उतारने से ही क्रोध आदि दोषों का अभाव सिद्ध हो सकता है, इसीलिए इन गुणों को संवर का उपाय बतलाया है। क्षमा आदि दस प्रकार का धर्म जब अहिंसा, सत्य आदि मूल गुणो और स्थान, आहार की शुद्धि आदि उत्तर गुणों के प्रकर्ष से युक्त होता है तभी यतिधर्म बनता है, अन्यथा नहीं। अभिप्राय यह है कि अहिंसा आदि मूल गुणों या उसके उत्तर गुणों के प्रकर्ष से रहित यदि क्षमा आदि गुण हों, तो भले ही वे सामान्य धर्म कहलावें पर यतिधर्म की कोटि में नहीं रक्खे जा सकते। वे दस धर्म निम्न प्रकार से हैं—

१ क्षमा का मतलब है सहनशीलता रखना अर्थात् क्रोध को पैदा न होने देना और उत्पन्न हुआ हो तो उसे विवेकबल से निष्फल बना डालना। क्षमा की साधना के लिए पाँच उपाय बतलाये गए हैं— जैसे अपने मे क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन करना, क्रोधवृत्ति के दोषों का विचार करना, बालस्वभाव का

विचार करना, अपने द्वारा किये कर्म के परिणाम का विचार करना और क्षमा के गुणों का चिन्तन करना।

(क) कोई क्रोध करे, तब उसके कारण को अपने में ढूँढ़ना, यदि दूसरे के क्रोध का कारण अपने में नज़र पड़े तो ऐसा विचारना कि भूल तो मेरी ही है, इसमें दूसरे का कहना झूठ थोड़ा ही है। और कदाचित् अपने मे दूसरे के क्रोध का कारण नज़र न आता हो, तब ऐसा सोचना चाहिए कि यह वेचारा वेसमझी से मेरी भूल निकालता है– यही अपने मे क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन है।

(ख) जिसे क्रोध आता है वह स्मृतिभ्रंश होने से आवेश मे आकर दूसरे के साथ शत्रुता वाँधता है, फिर उसे मारता या नुक्सान पहुँचाता है और ऐसा करने से अपने अहिंसाव्रत का लोप करता है, इत्यादि अनर्थ परंपरा का जो चिन्तन है वही क्रोध-वृत्ति के दोषो का चिन्तन कहलाता है।

(ग) कोई अपनी पीठ पीछे कड़वा कहे तो ऐसा चिन्तन करना कि वाल– वेसमझ लोगों का यह स्वभाव ही है, इसमें वात ही क्या है? उलटा लाभ है, जो वेचारा पीछे से गाली देता है, सामने तो नहीं आता यही खुशी की वात है। जव कोई सामने आ कर गाली देता हो, तव ऐसा सोचना कि वाल लोगो की तो यह वात ही है, जो अपने स्वभाव के अनुसार ऐसा करते हैं इससे ज्यादा तो कुछ नहीं करते; सामने आकर गाली ही देते हैं, पर प्रहार तो नहीं करते, यह भी तो लाभ ही है। इसी तरह यदि कोई प्रहार करे, तव प्राणमुक्त न करने के वदले में उपकार मानना और यदि कोई प्राणमुक्त करे तव धर्मभ्रष्ट न कर सकने के कारण लाभ मानकर

उसकी दया का चिन्तन करना। इस प्रकार से ज्यों ज्यों अधिक कठिनाइयाँ आवें, त्यो त्यों विशेष उदारता और विवेकवृत्ति का विकास करके उपस्थित कठिनाइयों को सरल बना देना यही बाल-स्वभाव का चिन्तन है।

(घ) कोई क्रोध करे तब ऐसा सोचना कि इस प्रसग मे दूसरा तो सिर्फ निमित्तमात्र है, वास्तव में यह प्रसंग मेरे अपने ही पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है यही अपने किये कर्मों का चिन्तन है।

(ङ) कोई क्रोध करे तव ऐसा सोचना कि क्षमा धारण करने से चित्त की स्वस्थता रहती है, बदला लेने या सामना करने मे व्यय होने वाली शक्ति को वचा कर उसका उपयोग सन्मार्ग में किया जा सकता है यही क्षमा के गुणों का चिन्तन है।

२ चित्त मे मृदुता और वाह्य व्यवहार मे भी नम्रवृत्ति का होना मार्दव है। इस गुण की सिद्धि के लिए जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य– बड़प्पन, विज्ञान– बुद्धि, श्रुत– शास्त्र, लाभ– प्राप्ति, वीर्य– शक्ति इनके बारे मे निजी वड़प्पन मे आकर गर्व से न फूलना और उलटा इन वस्तुओं की विनश्वरता का विचार करके चित्त मे से अभिमान के काँटे को निकाल फेकना। ३ भाव की विशुद्धि अर्थात् विचार, भाषण और बर्ताव की एकता ही आर्जव है, इसकी प्राप्ति के लिए कुटिलता के दोषो का विचार करना चाहिए। ४ धर्म के साधन तथा शरीर तक मे भी आसक्ति न रखना ऐसी निर्लोभता को शौच कहते हैं। ५ सत्पुरुषों के लिए जो हितकारी हो ऐसा यथार्थ वचन ही सत्य है। भाषासमिति और इस सत्य मे कुछ फर्क वतलाया गया है, वह यह कि हरएक मनुष्य के साथ

संभाषणव्यवहार मे विवेक रखना तो भाषासमिति है और अपने समशील साधु पुरुषो के साथ संभाषणव्यवहार मे हित, मित और यथार्थ वचन का उपयोग करना सत्य नामक यतिधर्म है। ६ मन, वचन और देह का नियमन करना अर्थात् विचार, वाणी और गति, स्थिति आदि मे यतना का अभ्यास करना संयम[1] कहलाता है। ७ मलिन वृत्तिओं को निर्मूल करने के निमित्त अपेक्षित बल की साधना के लिए जो आत्मदमन किया जाता है वह तप[2] है। ८ पात्र को ज्ञानादि सद्गुणो का प्रदान करना त्याग है। ९ किसी भी वस्तु मे ममत्वबुद्धि न रखना आकिंचन्य है। १० त्रुटियों को हटाने के लिए ज्ञानादि सद्गुणों का अभ्यास

---

१ सयम के सत्रह प्रकार प्रसिद्ध हैं, जो कि भिन्न भिन्न रूप मे पाये जाते हैं। पाँच इन्द्रियोंका निग्रह, पाँच अव्रतोंका त्याग, चार कषायों का जय तथा मन, वचन और काय की विरति– ये सत्रह। इसी तरह पाँच स्थावर, और चार त्रस– इन नव के विषय में नव सयम, प्रेक्ष्यसंयम, उपेक्ष्य संयम, अपहृत्यसंयम, प्रमृज्यसयम, कायसयम, वाक्संयम, मन-सयम और उपकरणसंयम ये कुल सत्रह हुए।

२ इसका वर्णन इसी अध्याय के सूत्र १९,२० में है। इसके उपरात अनेक तपस्वियों द्वारा अलग अलग रीतियों से आचरण किये जानेवाले तप जैन परपरा मे प्रसिद्ध हैं। जैसे– यवमध्य और वज्रमध्य ये दो, चान्द्रायण; कनकावली, रत्नावली और मुक्तावली ये तीन, क्षुल्लक और महा इस प्रकार दो सिंहविक्रीडित; सप्तसप्तमिका, अष्टअष्टमिका, नवनवमिका, दशदशमिका ये चार प्रतिमाएँ, क्षुद्र और महा ये दो सर्वतोभद्र, भद्रोत्तर, आचाम्ल; वर्धमान; एवं बारह भिक्षुप्रतिमाएँ– इत्यादि। इनके विशेष वर्णन के लिए देखो आत्मानन्दसभा का श्रीतपोरत्नमहोदधि।

करना एवं गुरु की अधीनता के सेवन के लिए ब्रह्म–गुरुकुल में चर्य– बसना ब्रह्मचर्य है। इसके परिपालन के लिए अतिशय उपकारक कितने ही गुण हैं, जैसे—आकर्षक स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द और शरीर संस्कार आदि में न फँसना, इसी प्रकार सातवें अध्यायके तीसरे सूत्र में चतुर्थ महाव्रत की पाँच भावनाएँ गिनाई हैं, उनका विशेष रूप से अभ्यास करना। ६।

अनुप्रेक्षा के भेद–

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरा-लोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।७।

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभत्व और धर्म का स्वाख्यातत्व– इनका जो अनुचिन्तन है वे ही अनुप्रेक्षाएँ हैं।

अनुप्रेक्षा का अर्थ गहरा चिन्तन है। जो चिन्तन तात्त्विक और गहरा होगा उसके द्वारा रागद्वेष आदि वृत्तियों का होना रुक जाता है, इसीलिए ऐसे चिन्तन का संवर के उपाय रूप में वर्णन किया है।

जिन विषयों का चिन्तन जीवनशुद्धि मे विशेष उपयोगी हो

---

१ गुरु– आचार्य पॉच प्रकार के बतलाए है, प्रव्राजक, दिगाचार्य, श्रुतोद्देष्टा, श्रुतसमुद्देष्टा आम्नायार्थवाचक। जो प्रव्रज्या देता है वह प्रव्राजक, जो वस्तुमात्र की अनुज्ञा प्रदान करे वह दिगाचार्य, जो आगम का प्रथम पाठ पढावे वह श्रुतोद्देष्टा, जो स्थिर परिचय कराने के लिए आगम का विशेष प्रवचन करता है वह श्रुतसमुद्देष्टा और जो आम्नाय के उत्सर्ग और अपवाद का रहस्य बतलाता है वह आम्नायार्थवाचक है।

सकता है, ऐसे बारह विषयों को चुनकर उनके चिन्तनों को ही बारह अनुप्रेक्षाओं के रूप मे गिनाया है। अनुप्रेक्षा को भावना भी कहते हैं। वे अनुप्रेक्षाएँ नीचे अनुसार हैं–

१ अनित्यानुप्रेक्षा

किसी भी प्राप्तवस्तु के वियोग होने से दुःख न हो एतदर्थ वैसी सभी वस्तुओं मे आसक्ति का घटाना आवश्यक है और इसके घटाने के लिए ही शरीर और घरबार आदि वस्तुएँ एवं उनके संबन्ध ये सभी नित्य– स्थिर नहीं ऐसा चिन्तन करना ही अनित्यानुप्रेक्षा है।

२ अशरणानुप्रेक्षा

एक मात्र शुद्ध धर्म को ही जीवन का शरणभूत स्वीकार करने के लिए उसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं से ममत्व को हटाना जरूरी है। इसके हटाने के लिए ऐसा चिन्तन करना कि जैसे सिह के पजे में पड़े हुए हिरन को कोई भी शरण नहीं वैसे ही आधि (मानसिक रोग) व्याधि (शरीर का रोग) और उपाधि से ग्रस्त मैं भी सर्वदा के लिए अशरण हूँ यही अशरणानुप्रेक्षा है।

३ संसारानुप्रेक्षा

संसारतृष्णा के त्याग करने के लिए सांसारिक वस्तुओं मे निर्वेद– उदासीनता की साधना जरूरी है और इसीलिए ऐसी वस्तुओं से मन हटाने के वास्ते ऐसा चिन्तन करना कि इस अनादि जन्म-मरण के चक्र मे न तो कोई स्वजन ही है और न परजन, क्योंकि प्रत्येक के साथ हरतरह के संबन्ध जन्म-जन्मान्तरों मे हो चुके हैं। इसी तरह राग, द्वेष और मोह से संतप्त प्राणी विषयतृष्णा के कारण एक दूसरे को हड़प जाने की नीति से असह्य दुःखों का अनुभव करते हैं। वास्तव मे यह संसार हर्ष-विषाद, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का

उपवन है और सचमुच ही कष्टमय है यही संसारानुप्रेक्षा है।

मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त रागद्वेष के प्रसगों मे निर्लेपता की साधना जरूरी है। अत स्वजन रूप मे माने हुए ऊपर रागबन्ध और परजन रूप मे माने हुए ऊपर द्वेषबन्ध को फेंकने के लिए ऐसा सोचना कि 'मैं अकेला ही जन्मता मरता हूँ, तथा अकेला ही अपने बोये हुए कर्म बीजों के सुख-दु खादि फलों का अनुभव करता हूँ। असल मे कोई मेरे सुख-दु.ख का कर्ता या हर्ता नहीं यही एकत्वानुप्रेक्षा है।

४ एकत्वानुप्रेक्षा

मनुष्य मोहावेश से शरीर और अन्य वस्तुओ की ह्रास-वृद्धि मे अपनी ह्रास-वृद्धि को मानने की भूल करके असली कर्तव्य का भान भूल जाता है, ऐसी स्थिति के निरासार्थ शरीर आदि अन्य वस्तुओं में अपने मन के अध्यास को दूर करना आवश्यक है। इसीलिए इन दोनों के गुण-धर्मों की भिन्नता का चिन्तन करना कि शरीर तो स्थूल, आदि और अन्त-युक्त एवं जड़ है और मैं स्वयं तो सूक्ष्म, आदि और अन्त रहित एवं चेतन हूँ यही अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

५ अन्यत्वानुप्रेक्षा

सबसे अधिक तृष्णास्पद शरीर ही है, अत उस पर से मूर्छा घटाने के लिए ऐसा सोचना कि शरीर स्वयं अशुचि है, अशुचि में से ही पैदा हुआ है, अशुचि वस्तुओं से इसका पोषण हुआ है, अशुचि का स्थान है और अशुचि परंपरा का कारण भूत है यही अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

६ अशुचित्वानुप्रेक्षा

इन्द्रियों के भोगों की आसक्ति घटाने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के भोग सबन्धी राग मे से उत्पन्न होनेवाले अनिष्ट परिणामो का चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

७ आस्रवानुप्रेक्षा

८ संवरानुप्रेक्षा

दुर्वृत्ति के द्वारों को बंद करने के लिए सद्वृत्ति के गुणों का चिन्तन करना संवरानुप्रेक्षा है।

कर्म के बन्धनों को नष्ट करने की वृत्ति को दृढ़ करने के लिए उसके विविध विपाकों का चिन्तन करना कि दु:ख के

९ निर्जरानुप्रेक्षा

प्रसंग दो तरह के होते है, एक तो इच्छा और सज्ञान प्रयत्न के बिना ही प्राप्त हुआ, जैसे– पशु, पक्षी और बहरा, गूँगा आदि के दु:खप्रधान जन्म तथा वारिसे मे मिली हुई गरीबी, दूसरा प्रसंग है सदुद्देश से सज्ञान प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया हुआ, जैसे– तप और त्याग के कारण से प्राप्त हुई गरीबी और शारीरिक कृशता आदि। पहले में वृत्ति का समाधान न होने से वह अरुचि का कारण होकर अकुशल परिणामदायक बनता है; और दूसरा तो सद्वृत्तिजनित होने से उसका परिणाम कुशल ही होता है। अतः अचानक प्राप्त हुए कटुक विपाकों में समाधान वृत्ति को साधना तथा जहाँ शक्य हो वहाँ तप और त्याग द्वारा कुशल परिणाम की प्राप्ति हो इस प्रकार संचित कर्मों को भोग लेना यही श्रेयस्कर है, ऐसा चिन्तन ही निर्जरानुप्रेक्षा है।

१० लोकानुप्रेक्षा

तत्त्वज्ञान की विशुद्धि के निमित्त विश्व के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है।

प्राप्त हुए मोक्षमार्ग में अप्रमत्तभाव की साधना के लिए ऐसा

११ बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा

सोचना कि अनादि प्रपच जाल में विविध दु:खों के प्रवाह में बहते हुए और मोह आदि कर्मों के तीव्र आघातों को सहन करते हुए जीव को शुद्ध दृष्टि और शुद्ध चारित्र प्राप्त होना दुर्लभ है यही बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है।

धर्ममार्ग से च्युत न होने और उसके अनुष्ठान में स्थिरता लाने के लिए ऐसा चिन्तन करना कि जिसके द्वारा संपूर्ण प्राणियों का कल्याण हो सकता है, ऐसे सर्वगुणसम्पन्न धर्म का सत्पुरुषों ने उपदेश किया है यह कितना बड़ा सौभाग्य है यही धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है। ७।

१२ धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा

परीषहों का वर्णन—

मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः । ८ ।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्या-निषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमल-सत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि । ९ ।

सूक्ष्मसंपरायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश । १० ।

एकादश जिने । ११ ।

बादरसंपराये सर्वे । १२ ।

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने । १३ ।

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ । १४ ।

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कार-पुरस्काराः । १५ ।

वेदनीये शेषाः । १६ ।

---

१ सभी श्वेतांबर, दिगम्बर पुस्तकों में 'ष' छपा हुआ देखा जाता है, परन्तु यह परीषह शब्द में 'ष' के साम्य के कारण व्याकरणविषयक भ्रान्तिमात्र है, वस्तुतः व्याकरण के अनुसार 'परिसोढव्याः' यही रूप शुद्ध है। जैसे देखो, सिद्धहेम २।३।४८। तथा पाणिनीय ८।३।११५।

एकादयो भाज्या युगपदैकोनविंशतेः । १७ ।

मार्ग से च्युत न होने और कर्मों के क्षयार्थ जो सहन करने योग्य हों वे परीषह हैं ।

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचन, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन— इनके परीषह, ऐसे कुल बाईस परीषह हैं ।

सूक्ष्मसंपराय और छद्मस्थवीतराग में चौदह परीषह संभव हैं ।

जिन भगवान में ग्यारह संभव हैं ।

बादरसंपराय में सभी अर्थात् बाईस ही संभव हैं ।

ज्ञानावरण रूप निमित्त से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं ।

दर्शनमोह और अन्तराय कर्म से क्रमशः अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं ।

चारित्रमोह से नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचन और सत्कार पुरस्कार परीषह होते हैं ।

बाक़ी के सभी वेदनीय से होते हैं ।

एक साथ एक आत्मा में एक से लेकर १९ तक परीषह विकल्प से सभव हैं ।

संवर के उपाय रूप मे परीषहों का वर्णन करते समय सूत्रकार ने जिन पॉच मुद्दों का निरूपण किया है, वे ये हैं— परीषहों का लक्षण, उनकी संख्या, अधिकारी भेद से उनका विभाग, उनके कारणों का निर्देश तथा एक साथ एक जीव में संभव परीषहों की

संख्या। हरएक मुद्दे पर विशेष विचार अनुक्रम से निम्न अनुसार हैं—

लक्षण — अङ्गीकार किये हुए धर्ममार्ग में स्थिर रहने और कर्मबन्धनों के विनाशार्थ जो जो स्थिति समभाव पूर्वक सहन करने योग्य है, उसे परीषह कहते हैं। ८।

संख्या — यद्यपि परीषह संक्षेप मे कम और विस्तार मे अधिक भी कल्पित किये एवं गिनाए जा सकते हैं, फिर भी त्याग को विकसित करने के लिए जो खास जरूरी हैं, वे ही बाईस शास्त्र मे गिनाये गए है, जैसे—

१,२ क्षुधा और तृषा की चाहे कैसी भी वेदना हो, फिर भी अङ्गीकार की हुई मर्यादा के विरुद्ध आहार, पानी न लेते हुए समभाव पूर्वक ऐसी वेदनाओ को सहन करना— वे क्रमश क्षुधा और पिपासा परीषह हैं। ३,४ चाहे कितना ही ठंड और गरमी से कष्ट होता हो, तो भी उसके निवारणार्थ अकल्प्य किसी भी वस्तु का सेवन किये विना ही समभावपूर्वक उन वेदनाओं को सहन कर लेना ये अनुक्रम से शीत और उष्ण परीषह हैं। ५ डाँस, मच्छर आदि जन्तुओ का उपद्रव होने पर खिन्न न होते हुए उसे समभाव पूर्वक सहन कर लेना— दंशमशकपरीषह है। ६ नग्नता को समभावपूर्वक सहन करना नग्नतापरीषह[1] है। ७ अंगीकार किये हुए

१ इस परीषह के विषय मे श्वेतांवर, दिगंवर दोनों संप्रदायों मे खास मतभेद है, इसी मतभेद के कारण श्वेतांवर और दिगंवर ऐसे नाम पड़े हैं। श्वेतांवरशास्त्र विशिष्ट साधकों के लिए सर्वथा नग्नत्व को स्वीकार करके भी अन्य साधकों के लिए मर्यादित वस्त्रपात्र की आज्ञा देते हैं, और वैसी आज्ञाके अनुसार अमूर्छित भावसे वस्त्रपात्र रखने वाले को भी वे साधु मानते हैं, जब कि दिगंवर शास्त्र मुनिनामधारक सभी साधकों के लिए एक

मार्ग में अनेक कठिनाइयों के कारण अरुचि का प्रसंग आ पड़ने पर उस समय अरुचि को न लाते हुए धैर्यपूर्वक उसमें रस लेना– अरतिपरीषह है। ८ साधक पुरुष या स्त्री का अपनी साधना में विजातीय आकर्षण से न ललचाना– स्त्रीपरीषह है। ९ स्वीकार किये हुए धर्मजीवन को पुष्ट रखने के लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानों में विहार और किसी भी एक स्थान में नियतवास स्वीकार न करना– चर्यापरीषह है। १० साधना के अनुकूल एकान्त जगह में मर्यादित समय तक आसन लगाकर बैठे हुए ऊपर यदि भय का प्रसंग आ पड़े तो उसे अकम्पितभाव से जीतना किंवा आसन से च्युत न होना– निषद्यापरीषह है। ११ कोमल या कठिन, ऊँची या नीची जैसी भी सहजभाव से मिले वैसी जगह में समभाव पूर्वक शयन करना– शय्यापरीषह है। १२ कोई पास आकर कठोर या अप्रिय कहे तब भी उसे सत्कारवत समझ लेना आक्रोशपरीषह है। १३ कोई ताड़न, तर्जन करे फिर भी उसे सेवा ही मानना वधपरीषह है। १४ दीनभाव या अभिमान न रखते हुए सिर्फ धर्मयात्रा के निर्वाहार्थ याचकवृत्ति स्वीकार करना– याचनापरीषह है। १५ याचना करने पर भी यदि अभीष्ट वस्तु न मिले तो प्राप्ति की बजाय अप्राप्ति को ही सच्चा तप मानकर उसमें संतोष रखना– अलाभ परीषह है।

सरीखा ऐकान्तिक नग्नत्व का विधान करते हैं। नग्नत्व को अचेलकपरीषह भी कहते हैं। आधुनिक शोधक विद्वान वस्त्रपात्र धारण करने वाली श्वेताम्बरीय मतकी परंपरामें भगवान पार्श्वनाथ की सवस्त्र परंपरा का मूल देखते हैं, और सर्वथा नग्नत्व को रखने की दिगम्बरीय परंपरा में भगवान महावीर की अवस्त्र परंपरा का मूल देखते हैं।

१६ किसी भी रोग से व्याकुल न होकर समभाव पूर्वक उसे सहन करना– रोगपरीषह है। १७ संथारे मे या अन्यत्र तृण आदि की तीक्ष्णता किंवा कठोरता अनुभव हो तो मृदुशय्या के सेवन सरीखा उल्लास रखना– तृणस्पर्शपरीषह है। १८ चाहे कितना ही शारीरिक मल हो फिर भी उससे उद्वेग न पाना और स्नान आदि संस्कारो को न चाहना– मलपरीषह है। १९ चाहे कितना भी सत्कार मिले फिर भी उससे न फूलना और सत्कार न मिलने पर खिन्न न होना– सत्कारपुरस्कार परीषह है। २० प्रज्ञा– चमत्कारिणी बुद्धि हो तो उसका गर्व न करना और न होने पर खेद न करना– प्रज्ञापरीषह है। २१ विशिष्ट शास्त्रज्ञान से गर्वित न होना और उसके अभाव मे आत्मावमानना न रखनी– ज्ञानपरीषह है, अथवा इसे अज्ञानपरीषह भी कहते हैं। २२ सूक्ष्म और अतीन्द्रिय पदार्थों का दर्शन न होने से स्वीकार किया हुआ त्याग निष्फल प्रतीत होने पर विवेक से श्रद्धा बनाये रखना और ऐसी स्थिति मे ही प्रसन्न रहना– अदर्शनपरीपह है। ९।

जिसमे संपराय– लोभकषाय की बहुत ही कम संभावना हो वैसे सूक्ष्मसंपराय नामक गुणस्थान मे और उपशान्तमोह तथा क्षीणमोह नामक गुणस्थानों मे चौदह ही परीपह संभव हैं, वे ये हैं– क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल, बाकी के आठो का संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि वे मोहजन्य हैं, लेकिन ग्यारहवें और बारहवे गुणस्थानो मे मोहोदय का अभाव है। यद्यपि दसवें गुणस्थान मे मोह है सही पर वह इतना अल्प है कि होने पर भी न होने जैसा

अधिकारी भेद से विभाग

ही है। इसीलिए इस गुणस्थान मे भी मोहजन्य आठ परीषहों के संभव का उल्लेख न करके सिर्फ चौदह का ही संभव है ऐसा उल्लेख किया गया है।

[1]तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानोमे केवल ग्यारह ही परीषहों का संभव है, जैसे– क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल। वाकी के ग्यारह घातिकर्मजन्य होने से उस कर्म का ही अभाव होने से वे उक्त गुणस्थानों मे संभव नहीं।

जिसमें संपराय– कषाय का वादर अर्थात् विशेष रूप मे संभव हो, ऐसे [2]वादरसंपराय नामक नौवें गुणस्थान मे वाईस ही परीषह

---

१ इन दो गुणस्थानों मे परीपहों के वारे मे दिगवर और श्वेतावर सप्रदायों के वीच मतभेद है। यह मतभेद सर्वज्ञ मे कवलाहार मानने और न मानने के मतभेद के कारण है। इसीलिए दिगवरीय व्याख्याग्रन्थ "एकादश जिने" इस रूप में इस सूत्र को मान कर भी इसकी व्याख्या तोड़-मरोड़ कर करते हुए प्रतीत होते हैं। व्याख्या भी एक ही नहीं, वल्कि इसकी दो व्याख्याएँ की गई है, तथा वे दोनो सप्रदायों के तीव्र मतभेद के वाद की ही हैं ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ता है। पहली व्याख्या के अनुसार ऐसा अर्थ किया जाता है कि जिन– सर्वज्ञ मे क्षुधा आदि ग्यारह परीपह (वेदनीय कर्मजन्य) हैं, लेकिन मोह न होने से वे क्षुधा आदि वेदना रूप न होने के कारण सिर्फ उपचार से द्रव्य परीपह हैं। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'न' शब्द का अध्याहार करके ऐसा अर्थ किया जाता है कि जिनमें वेदनीय कर्म होने पर भी तदाश्रित क्षुधा आदि ग्यारह परीपह मोह के अभाव के कारण वाधा रूप न होने से हैं ही नहीं।

२ दिगंवर व्याख्या ग्रन्थ इस जगह वादरसपराय शब्द को संज्ञा

होते हैं। इसका कारण यह है कि परीषहो के कारणभूत सभी कर्म वहाँ होते हैं। नौवें गुणस्थान मे बाईस के संभव का कथन करने से उसके पहले के छठे आदि गुणस्थानों मे उतने ही परीषहों का संभव है, यह स्वत फलित हो जाता है। १०-१२।

परीषहो के कारण कुल चार कर्म माने गए हैं। उनमे से ज्ञानावरण [1]प्रज्ञा और अज्ञान इन दो परीषहो का निमित्त है, अन्तरायकर्म अलाभपरीषह का कारण है, मोह मे से दर्शनमोह अदर्शन का और चारित्रमोह नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार- इन सात परीषहो का कारण है, वेदनीय कर्म ऊपर गिनाये गए सर्वज्ञ में संभवित ग्यारह परीषहो का कारण है। १३-१६।

कारणों का निर्देश

बाईस परीषहो मे एक समय में परस्पर विरोधी कितनेक परीषह हैं, जैसे- शीत, उष्ण, चर्या, शय्या और निषद्या- इनमे से पहले दो और पिछले तीन का एक साथ संभव ही नहीं है। शीत होगा तब उष्ण और उष्ण होगा तब शीत का संभव ही नहीं। इसी तरह चर्या, शय्या और निषद्या में से भी एक समय मे एक ही हो सकता है। इसीलिए उक्त पाँचो मे से एक समय में किन्हीं भी दो का संभव और तीन का असंभव मानकर

एक साथ एक जीव में समाव्य परीषहों की सख्या

रूप न मान कर विशेषण रूप मे मानते है, जिस पर से वे छठे आदि चार गुणस्थानों का अर्थ फलित करते है।

१ चमत्कारिणी बुद्धि कितनी भी क्यों न हो फिर भी वह परिमित होने के कारण ज्ञानावरण के आश्रित है, अत प्रज्ञापरीषह को ज्ञानावरणजन्य ही समझना चाहिए।

एक आत्मा मे एक साथ अधिक से अधिक १९ परीपहों का संभव वतलाया गया है। १७।

चारित्र के भेद–

सामायिकच्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसंपराय-यथाख्यातानि चारित्रम्। १८।

सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात यह पॉच प्रकार का चारित्र है।

आत्मिक शुद्धदशा मे स्थिर रहने का प्रयत्न करना ही चारित्र है। परिणाम शुद्धि के तरतम भाव की अपेक्षा से चारित्र के सामायिक आदि उपर्युक्त पाँच विभाग किये गए हैं, वे इस प्रकार हैं—

१ सामायिक चारित्र

समभाव मे स्थित रहने के लिए संपूर्ण अशुद्ध प्रवृत्तियों का त्याग करना– सामायिकचारित्र है। छेदोपस्थापन आदि वाकी के चार चारित्र सामायिक रूप तो हैं ही, इतने पर भी कितनी ही आचार और गुण की विशेषताओं के कारण इन चारो को सामायिक से भिन्न करके वर्णन किया गया है। इत्वरिक– कुछ समय के लिए अथवा यावत्कथिक– संपूर्ण जीवन के लिए जो पहले पहल मुनि दीक्षा ली जाती है– वह सामायिक है।

२ छेदोपस्थापन चारित्र

प्रथम दीक्षा लेने के वाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर विशेप शुद्धि के निमित्त जो जीवनपर्यन्त पुनः दीक्षा ली जाती है, एवं प्रथम ली हुई दीक्षा में दोषापत्ति आने से उसका छेद करके फिर नये सिरे से जो दीक्षा का आरोपण किया जाता है– वह छेदोपस्थापन

चारित्र है। जिसमें से पहला निरतिचार और दूसरा सातिचार छेदोपस्थापन कहलाता है।

३ परिहारविशुद्धि चारित्र — जिसमें खास विशिष्ट प्रकार के तप[1]प्रधान आचार का पालन किया जाता है वह परिहार-विशुद्धि चारित्र है।

४ सूक्ष्मसंपराय चारित्र — जिसमें क्रोध आदि कषायों का तो उदय नहीं होता, सिर्फ लोभ का अंश अतिसूक्ष्म रूप में रहता है वह सूक्ष्मसंपराय चारित्र है।

५ यथाख्यात चारित्र — जिसमें किसी भी कषाय का उदय बिलकुल नहीं रहता वह यथाख्यात[2] अर्थात् वीतराग चारित्र है।

तप का वर्णन–

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः। १९।

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्यु-त्तरम्। २०।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश यह बाह्य तप है।

प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह आभ्यन्तर तप है।

---

१ देखो हिंदी चौथा कर्मग्रन्थ पृ० ५९–६१।

२ इसके अथाख्यात और तथाख्यात ये नाम भी मिलते ह।

वासनाओं को क्षीण करने के वास्ते समुचित आध्यात्मिक बल की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को जिन जिन उपायों से तापित किया जाता है वे सभी तप हैं। तप के बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो भेद हैं। जिसमें शारीरिक क्रिया की प्रधानता होती है, तथा जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा वाला होने से दूसरों को दीख सके वह बाह्य तप है। इसके विपरीत जिसमें मानसिक क्रिया की प्रधानता हो तथा जो मुख्य रूप से बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरों से न भी दीख सके वह आभ्यन्तर तप है। बाह्य तप स्थूल और लोगों द्वारा ज्ञात होने पर भी उसका महत्त्व आभ्यन्तर तप की पुष्टि में उपयोगी होने की दृष्टि से ही माना गया है। इस बाह्य और आभ्यन्तर तप के वर्गीकरण में समग्र स्थूल और सूक्ष्म धार्मिक नियमों का समावेश हो जाता है।

बाह्य तप

१ मर्यादित समय तक या जीवन के अन्त तक सभी प्रकार के आहार का त्याग करना— वह अनशन है। इनमे पहला इत्वरिक और दूसरा यावत्कथिक समझना चाहिए। २ अपनी जितनी भूख हो उससे कम आहार करना— अवमौदर्य— ऊनोदरी है। ३ विविधि वस्तुओं के लालच को कम करना— वृत्तिसंक्षेप है। ४ घी, दूध आदि तथा मद्य, मधु, मक्खन आदि विकार कारक रस का त्याग करना— रसपरित्याग है। ५ बाधारहित एकान्त स्थान में रहना— विविक्त शय्यासनसंलीनता है। ६ ठंड, गरमी या विविध आसनादि द्वारा शरीर को कष्ट देना कायक्लेश है।

१ धारण किये हुए व्रत में प्रमादजनित दोषों का जिससे शोधन किया जा सके— वह प्रायश्चित्त है। २ ज्ञान आदि सद्गुणों में बहुमान रखना— विनय है। ३ योग्य साधनों को जुटा कर अथवा

अपने आपको काम में लगाकर सेवाशुश्रूषा करना– वैयावृत्त्य है। विनय और वैयावृत्त्य में इतना ही अन्तर है कि विनय तो मानसिक धर्म है और वैयावृत्त्य शारीरिक धर्म है। ४ ज्ञान प्राप्ति के लिए विविध प्रकार का अभ्यास करना स्वाध्याय है। ५ अहंत्व और ममत्व का त्याग करना– व्युत्सर्ग है। ६ चित्त के विक्षेपों का त्याग करना– ध्यान है। १९,२०।

आभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्त आदि तपों के भेदों की संख्या–

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् । २१ ।

ध्यान से पहले के आभ्यन्तर तपों के अनुक्रम से नव, चार, दस, पॉच और दो भेद हैं।

ध्यान का विचार विस्तृत होने से उसे अन्त में रखकर उसके पहले के प्रायश्चित्त आदि पॉच आभ्यन्तर तपो के भेदों की संख्या ही यहाँ दरसाई है। २१।

प्रायश्चित्त के भेद–

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि । २२ ।

आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन यह नव प्रकार का प्रायश्चित्त है।

दोष– भूल के शोधन करने के अनेक प्रकार है, वे सभी प्रायश्चित्त हैं। उनके यहाँ संक्षेप में नव भेद इस प्रकार हैं– १ गुरु के समक्ष शुद्धभाव से अपनी भूल प्रकट करना– आलोचन है। २ हो चुकी भूल का अनुताप करके उससे निवृत्त होना और नई

भूल न हो इसके लिए सावधान रहना– प्रतिक्रमण है। ३ उक्त आलोचन और प्रतिक्रमण दोनों साथ किये जाएँ तब तदुभय अर्थात् मिश्र। ४ खानपान आदि वस्तु यदि अकल्पनीय आ जाय और पीछे से मालूम पड़े तो उसका त्याग करना– विवेक है। ५ एकाग्रता पूर्वक शरीर और वचन के व्यापारों को छोड़ देना– व्युत्सर्ग है। ६ अनशन आदि बाह्य तप करना– तप है। ७ दोष के अनुसार दिवस, पक्ष, मास या वर्ष की प्रव्रज्या घटा देना– छेद है। ८ दोषपात्र व्यक्ति को उसके दोष के अनुसार पक्ष, मास आदि पर्यन्त किसी किस्म का संसर्ग न रख कर दूरसे परिहरना– परिहार है। ९ अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतों के भंग हो जाने से फिर शुरू से ही उन महाव्रतों का आरोपण करना– वही उपस्थापन है। २२।

विनय के भेद–

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः। २३।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार विनय के ये चार प्रकार हैं।

विनय वस्तुतः गुणरूप से एक ही है, फिर भी यहाँ जो उसके भेद किये गए हैं, वे सिर्फ विषय की दृष्टि से ही।

विनय के विषय को मुख्य रूप से यहाँ चार भागों में बाँटा

१ परिहार और उपस्थापन इन दोनों के स्थान में मूल, अनवस्थाप्य, पारांचिक ये तीन प्रायश्चित्त होने से बहुत से ग्रन्थों में दस प्रायश्चित्तों का वर्णन है। ये प्रत्येक प्रायश्चित्त किन किन और कैसे कैसे दोषों पर लागू होते हैं, उनका विशेष स्पष्टीकरण व्यवहार, जीतकल्प सूत्र आदि प्रायश्चित्त प्रधान ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

गया है, जैसे– १ ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास चालू रखना और भूलना नहीं यह ज्ञान का असली विनय है। २ तत्त्व की यथार्थप्रतीति स्वरूप सम्यग्दर्शन से चलित न होना, उसमें होने वाली शङ्काओं का संशोधन करके नि शंक भाव की साधना करना– दर्शनविनय है। ३ सामायिक आदि पूर्वोक्त किसी भी चारित्र में चित्त का समाधान रखना– चारित्रविनय है। ४ कोई भी सद्गुणो मे अपने से श्रेष्ठ हो उसके प्रति अनेक प्रकार से योग्य व्यवहार करना, जैसे– उसके सामने जाना, वह आवे तब ऊठ कर खड़ा हो जाना, आसन देना, वन्दन करना इत्यादि उपचारविनय है। २३।

वैयावृत्त्य के भेद–

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसङ्घसाधुसमनोज्ञानाम् । २४ ।

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और समनोज्ञ इस तरह दस प्रकारका वैयावृत्त्य है।

वैयावृत्त्य सेवारूप होनेसे जो सेवा योग्य हो ऐसे दस प्रकार के सेव्य– सेवायोग्य पात्रों के कारण उसके भी दस प्रकार किये गए हैं। वे इस प्रकार हैं– १ मुख्य रूप से जिसका कार्य व्रत और आचार ग्रहण कराने का हो– वह आचार्य है। २ मुख्य रूप से जिसका कार्य श्रुताभ्यास कराने का हो– वह उपाध्याय है। ३ जो महान् और उग्र तप करने वाला हो– वह तपस्वी है। ४ जो नवदीक्षित होकर शिक्षण प्राप्ति का उम्मीदवार हो–वह शैक्ष। ५ रोग आदि से क्षीण हो–वह ग्लान। ६ जुदे जुदे आचार्यों के शिष्य रूप साधु यदि परस्पर सहाध्यायी होनेसे समान वाचना वाले हों उनका

समुदाय ही गण है। ७ एक ही दीक्षाचार्य का शिष्य परिवार— कुल है। ८ धर्म का अनुयायी सघ है, इसके साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका ये चार भेद हैं। ९ प्रव्रज्या धारी हो— वह साधु है। १० ज्ञान आदि गुणो में समान हो वह समनोज्ञ— समान शील है। २४।

स्वाध्याय के भेद–

वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः । २५ ।

वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पाँच स्वाध्याय के भेद हैं।

ज्ञान प्राप्त करने का, उसे निःशंक, विशद और परिपक्व बनाने का एवं उसके प्रचार का प्रयत्न ये सभी स्वाध्याय में आ जाते हैं; अतः उसके यहाँ पाँच भेद अभ्यासशैली के क्रमानुसार दरसाये गए हैं। वे इस तरह हैं— १ शब्द या अर्थ का पहला पाठ लेना— वाचना है। २ शंका दूर करने किंवा विशेष निर्णय के लिए पृच्छा करनी— वह प्रच्छना है। ३ शब्द, पाठ या उसके अर्थ का मन से चिन्तन करना— अनुप्रेक्षा है। ४ सीखी हुई वस्तु के उच्चारण का शुद्धिपूर्वक पुनरावर्तन करना— आम्नाय अर्थात् परावर्तन है। ५ जानी हुई वस्तु का रहस्य समझना धर्मोपदेश है अथवा धर्म का कथन करना धर्मोपदेश है। २५।

व्युत्सर्ग के भेद–

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः । २६ ।

बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का त्याग ऐसा दो तरह का व्युत्सर्ग है।

वास्तव मे अहंत्व-ममत्व की निवृत्ति रूप त्याग एक ही है, फिर भी त्यागने की वस्तु बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो प्रकार की है। इसीसे उसके– व्युत्सर्ग या त्याग के दो प्रकार माने गए हैं। व इस प्रकार हैं– १ धन, धान्य, मकान, क्षेत्र आदि बाह्य वस्तुओं में से ममता हटा लेना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है और २ शरीर पर से ममता हटाना एवं काषायिक विकारों में तन्मयता का त्याग करना– आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है। २६।

ध्यान का वर्णन–

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। २७।

आ मुहूर्तात्। २८।

उत्तम संहनन वाले का जो एक विषय में अन्तःकरण की वृत्ति का स्थापन– वह ध्यान है।

वह मुहूर्त तक अर्थात् अन्तर्मुहूर्त पर्यंत रहता है।

यहाँ ध्यान से संबन्ध रखने वाली अधिकारी, स्वरूप और काल का परिमाण ये तीन बातें बतलाई गई हैं।

छः प्रकार के सहननों– शारीरिक संघटनों मे वज्रर्षभनाराच, अर्धवज्रर्षभनाराच और नाराच ये तीन उत्तम गिने जाते हैं। जो उत्तम संहनन वाला होता है वही ध्यान का अधिकारी है, क्योंकि ध्यान करने मे आवश्यक मानसिक बल के

अधिकारी

१ दिगबरीय ग्रन्थों में तीन उत्तम सहनन वाले को ही ध्यान का अधिकारी माना है, लेकिन भाष्य और उसकी वृत्ति प्रथम के दो सहनन वाले को ध्यान का स्वामी मानने के पक्ष में हैं।

२ इसकी जानकारी के लिए देखो अ० ८, सू० १२।

लिए जितना शारीरिक बल चाहिए, उसका संभव उक्त तीन संहनन वाले शरीर मे है, बाकी के तीन संहनन वाले में नहीं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि मानसिक बल का एक मुख्य आधार शरीर ही है, और शरीर बल शारीरिक संघटन पर निर्भर है, अत उत्तम संहनन वाले के सिवाय दूसरा ध्यान का अधिकारी नहीं है। जितना ही शारीरिक संघटन कमजोर होगा, मानसिक बल भी उतना ही कम होगा; मानसिक बल जितना कम होगा, चित्त की स्थिरता भी उतनी ही कम होगी। इसलिए कमजोर शारीरिक संघटन— अनुत्तम संहनन वाला प्रशस्त या अप्रशस्त किसी भी विषय में जितनी एकाग्रता साध सकता है, वह इतनी कम होती है कि उसकी गणना ही ध्यान में नहीं हो सकती।

स्वरूप

सामान्य रूप से क्षण मे एक, क्षण मे दूसरे, क्षण मे तीसरे ऐसे अनेक विषयों को अवलंबन करके प्रवृत्त हुई ज्ञानधारा भिन्न भिन्न दिशाओ में से बहती हुई हवा के बीच स्थित दीप-शिखा की तरह— अस्थिर होती है। ऐसी ज्ञानधारा— चिन्ता को विशेष प्रयत्न के साथ बाकी के सब विषयों से हटा कर किसी भी एक ही इष्ट विषय मे स्थिर रखना अर्थात् ज्ञानधारा को अनेक विषयगामिनी बनने से रोक कर एक विषयगामिनी बना देना ही ध्यान है। ध्यान का यह स्वरूप असर्वज्ञ— छद्मस्थ में ही संभव है, इसलिए ऐसा ध्यान बारहवें गुणस्थान तक होता है।

सर्वज्ञत्व प्राप्त होने के बाद अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में भी ध्यान स्वीकार किया है सही, पर उसका स्वरूप भिन्न प्रकार का है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त में जब मानसिक, वाचिक और कायिक योग व्यापार के निरोध का क्रम शुरू होता

है, तब स्थूल कायिक व्यापार निरोध के बाद सूक्ष्म कायिक व्यापार के अस्तित्व के समय में सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का तीसरा शुक्लध्यान माना गया है, और चौदहवें गुणस्थान की संपूर्ण अयोगिपन की दशा में शैलेशीकरण के समय में समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नाम का चौथा शुक्लध्यान माना है। ये दोनो ध्यान उक्त दशाओ में चित्तव्यापार न होने से छद्मस्थ की तरह एकाग्रचिन्तानिरोध रूप तो हैं ही नहीं, अत उक्त दशाओ मे ध्यान को घटाने के वास्ते सूत्र में कथित प्रसिद्ध अर्थ के उपरांत ध्यान शब्द का अर्थ विशेष विस्तृत किया गया है, और वह ऐसे कि सिर्फ कायिक स्थूल व्यापार को रोकने का प्रयत्न भी ध्यान है, और आत्मप्रदेशो की जो निष्प्रकम्पता– वह भी ध्यान है।

फिर भी ध्यान के बारे में एक प्रश्न रहता है, और वह यह कि तेरहवें गुणस्थान के प्रारंभ से योगनिरोध का क्रम शुरू होता है, तब तक की अवस्था में अर्थात् सर्वज्ञ हो कर जीवन व्यतीत करने की स्थिति मे क्या वास्तव में कोई ध्यान होता है? और यदि होता है तो वह कौन सा? इसका उत्तर दो तरह से मिलता है। १ विहरमाण सर्वज्ञ की दशा मे ध्यानान्तरिका कह कर उसमें अध्यानित्व ही मान करके कोई ध्यान स्वीकार नहीं किया गया है। २ सर्वज्ञ दशा में मन, वचन और शरीर के व्यापार संबन्धी सुदृढ़ प्रयत्न को ही ध्यान रूप में मान लिया गया है।

काल का परिमाण

उपर्युक्त एक ध्यान ज्यादा से ज्यादा अन्तर्मुहूर्त तक ही टिक सकता है, उसके बाद उसे टिकाना कठिन है; अत उसका कालपरिमाण अन्तर्मुहूर्त माना गया है।

श्वास, उच्छ्वास को बिलकुल रोक रखना कितनेक इसीको ध्यान मानते हैं, तथा अन्य कितनेक मात्रा से काल की गणना करने को ही ध्यान मानते हैं। परन्तु जैन परंपरा में इस कथन को स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि उसका कहना है कि यदि संपूर्णतया श्वास, उच्छ्वास बंद किया जाय, तब तो अन्त मे शरीर ही नहीं टिक सकता। इसलिए मन्द या मन्दतम भी श्वास का संचार तो ध्यानावस्था में रहता ही है। इसी प्रकार जब कोई मात्रा से काल का माप करेगा तब तो उसका मन गिनती के काम में अनेक क्रियाओ के करने मे लग जाने के कारण एकाग्रता के बदले व्यग्रता-युक्त ही मानना होगा। यही कारण है दिवस, मास और उससे अधिक समय तक ध्यान के टिकने की लोकमान्यता भी जैन परंपरा को ग्राह्य नहीं, इसका कारण उसमे यह बतलाया है कि अधिक समय तक ध्यान लंबाने से इन्द्रियों के उपघात का संभव है, अत. ध्यान को अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा लंबाना कठिन है। एक दिवस, एक अहोरात्र अथवा उससे अधिक समय तक ध्यान किया– इस कथन का अभिप्राय इतना ही है कि उतने समय तक ध्यान का प्रवाह चलता रहा अर्थात् किसी भी एक आलंबन का एकबार ध्यान करके, फिर उसी आलंबन का कुछ रूपांतर मे या दूसरे ही

१ 'अ, इ' आदि एक एक ह्रस्व स्वर के बोलने में जितना समय लगता है, उतने समय को एक मात्रा कहते हैं। [illegible] जब स्वरहीन बोला जाता है, तब उसमें अर्धमात्रा जितना समय लगता है। मात्रा का [illegible] मात्रा परिमित समय को जान लेने का अभ्यास करके कोई उसी के अनुसार अन्य क्रियाओं के समय का भी माप करने लगे कि अमुक काम में इतनी मात्राएँ हुई। यही मात्रा से काल की गणना कहलाता है।

आलंबन का ध्यान किया जाता है, और पुनरपि इसी तरह आगे भी ध्यान किया जाय तो वह ध्यानप्रवाह लंबा हो जाता है। यह अन्तर्मुहूर्त का कालपरिमाण छद्मस्थ के ध्यान का समझना चाहिए। सर्वज्ञ मे घटाने पर ध्यान का कालपरिमाण तो अधिक भी हो सकता है, क्योंकि मन, वचन और शरीर की प्रवृत्तिविषयक सुदृढ़ प्रयत्न को अधिक समय तक भी सर्वज्ञ लंबा कर सकता है।

जिस आलंबन पर ध्यान चलता है, वह आलंबन संपूर्ण द्रव्य रूप न हो कर उसका एक देश– कोई एक पर्याय होता है; क्योंकि द्रव्य का चिन्तन उसके किसी न किसी पर्याय द्वारा ही शक्य बनता है। २७, २८।

ध्यान के भेद–

आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि। २९।

परे मोक्षहेतू। ३०।

आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल यह चार प्रकार ध्यान के हैं।

उनमें से पर– बाद के दो मोक्ष के कारण हैं।

उक्त चार ध्यानो मे आर्त और रौद्र ये दो ससार के कारण होने से दुर्ध्यान है और हेय– त्याज्य हैं, धर्म और शुक्ल ये दो मोक्ष के कारण होने से सुध्यान है और उपादेय– ग्रहण करने योग्य माने हैं। २९, ३०।

आर्तध्यान का निरूपण–

आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः। ३१।

वेदनायाश्च । ३२ ।

विपरीतं मनोज्ञानाम् । ३३ ।

निदानं च । ३४ ।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् । ३५ ।

अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए जो चिन्ता का सातत्य– वह प्रथम आर्तध्यान है।

दुःख के आ पड़ने पर उसके दूर करने की जो सतत चिन्ता वह दूसरा आर्तध्यान है।

प्रिय वस्तु के वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए जो सतत चिन्ता– वह तीसरा आर्तध्यान है।

प्राप्त न हुई वस्तु की प्राप्ति के लिए संकल्प करना या सतत चिन्ता करनी– वह चौथा आर्तध्यान है।

वह आर्तध्यान अविरत, देशसंयत और प्रमत्त संयत इन गुणस्थानों में ही संभव है।

यहाँ आर्तध्यान के भेद और उसके स्वामी– इन दो बातों का निरूपण है। अर्ति का अर्थ है पीडा या दुःख, उसमें से जो उत्पन्न हो– वह है आर्त। दुःख की उत्पत्ति के मुख्य चार कारण हैं– अनिष्ट वस्तु का संयोग, इष्ट वस्तु का वियोग, प्रतिकूल वेदना और भोग की लालसा, इन कारणों पर से ही आर्तध्यान के चार प्रकार किये गए हैं। १ जब अनिष्ट वस्तु का संयोग हो, तब तद्भव दुःख से व्याकुल हुआ आत्मा उसे दूर करने के लिए अर्थात् वह वस्तु अपने पास से कब दूर हो इसी के लिए जो सतत चिन्ता किया

करता है वही अनिष्टसंयोग-आर्तध्यान है। २ उक्त रीत्या किसी इष्ट वस्तु के चले जाने पर उसकी प्राप्ति के निमित्त जो सतत चिन्ता वह इष्टवियोग-आर्तध्यान है। ३ वैसे ही शारीरिक या मानसिक पीड़ा के होने पर उसे दूर करने की व्याकुलता में जो चिन्ता वह रोगचिन्ता-आर्तध्यान है, और ४ भोगो की लालसा की उत्कटता के कारण अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने का जो तीव्र संकल्प वह निदान-आर्तध्यान है।

प्रथम के चार गुणस्थान, देशविरत और प्रमत्तसंयत– इन कुल छ गुणस्थानों में उक्त ध्यानों का संभव है। इनमे भी इतनी विशेषता है कि प्रमत्तसंयत गुणस्थान में निदान सिवाय के तीन ही आर्तध्यान हो सकते हैं। ३१–३५।

रौद्रध्यान का निरूपण–

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-विरतयोः। ३६।

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयरक्षण के लिए जो सतत चिन्ता– वही रौद्रध्यान है; वह अविरत और देश-विरत में संभव है।

प्रस्तुत सूत्र में रौद्रध्यान के भेद और उसके स्वामियो का वर्णन है। रौद्रध्यान के चार भेद उसके कारणों पर से आर्तध्यान की तरह ही विभाजित किये गए हैं। जिसका चित्त क्रूर व कठोर हो वह रुद्र, और ऐसे आत्मा का जो ध्यान– वह रौद्र है। हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने और प्राप्त विषयों को संभाल कर रखने की वृत्ति मे से क्रूरता व कठोरता पैदा होती है, इन्हीं के

सबब से जो सतत चिन्ता हुआ करती है– वह अनुक्रम से हिंसानुबन्धी, अनृतानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है। इस ध्यान के स्वामी पहले पाँच गुणस्थान वाले होते हैं। ३६।

धर्मध्यान का निरूपण–

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य । ३७।

उपशान्तक्षीणकषाययोश्च । ३८।

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इन की विचारणा के निमित्त जो एकाग्र मनोवृत्ति का करना– वह धर्मध्यान है; यह अप्रमत्त संयत के हो सकता है।

पुनः वह धर्मध्यान उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानों में भी संभव है।

धर्मध्यान के भेद और उसके स्वामियों का यहाँ निर्देश है।

भेद

१ वीतराग तथा सर्वज्ञ पुरुष की क्या आज्ञा है, और कैसी होनी चाहिए, इसकी परीक्षा करके वैसी आज्ञा का पता लगाने के लिए मनोयोग देना– वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। २ दोषों के स्वरूप और उनसे छुटकारा कैसे हो इसके विचारार्थ मनोयोग देना– अपायविचय धर्मध्यान है। ३ अनुभव में आने वाले विपाकों मे से कौन-कौन सा विपाक किस किस कर्म का आभारी है, तथा अमुक कर्म का अमुक विपाक संभव है इनके विचारार्थ मनोयोग लगाना– विपाकविचय धर्मध्यान है। ४ लोक

के स्वरूप का विचार करने मे मनोयोग देना– संस्थानविचय धर्मध्यान है।

धर्मध्यान के स्वामियो के बारे मे श्वेतांबरीय और दिगंबरीय मतों की परंपरा एक सी नहीं है। श्वेतांबरीय मान्यता के अनुसार

स्वामी

उक्त दो सूत्रों मे निर्दिष्ट सातवें, ग्यारहवे और बारहवें गुणस्थानों मे तथा इस कथन पर से सूचित आठवें आदि बीच के तीन गुणस्थानों मे अर्थात् सातवे से लेकर बारहवें तक के छहो गुणस्थानो में धर्मध्यान का संभव है। दिगंबरीय परपरा चौथे से सातवें तक के चार गुणस्थानों मे ही धर्मध्यान का संभव स्वीकार करती है। उसकी यह दलील है कि सम्यग्दृष्टि को श्रेणी के आरम्भ के पूर्व तक ही धर्मध्यान का संभव है और श्रेणी का आरंभ आठवें गुणस्थान से होने के कारण आठवें आदि मे यह ध्यान कथमपि संभव नहीं। ३७, ३८।

शुक्लध्यान का निरूपण–

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः[1] । ३९ ।

परे केवलिनः । ४० ।

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रिया-निवृत्तीनि । ४१ ।

---

१ 'पूर्वविद' यह अश प्रस्तुत सूत्र का ही है और इतना सूत्र अलग नहीं, ऐसा भाष्य के टीकाकार वतलाते हैं। दिगवरीय परपरा मे भी इस अश को सूत्र रूप मे अलग स्थान नहीं दिया। अत यहॉ भी वैसे ही रक्खा है। फिर भी भाष्य पर से स्पष्ट मालूम होता है कि 'पूर्वविद' यह अलग ही सूत्र है।

तत्र्येककाययोगायोगानाम् । ४२ ।
एकाश्रये सवितर्के पूर्वे । ४३ ।
अविचारं[1] द्वितीयम् । ४४ ।
वितर्कः श्रुतम् । ४५ ।
विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः । ४६ ।

उपशान्तमोह और क्षीणमोह में पहले के दो शुक्लध्यान संभव हैं। पहले दोनों शुक्लध्यान पूर्वधर के होते हैं।

बाद के दो केवली के होते हैं।

पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये चार शुक्लध्यान हैं।

वह– शुक्लध्यान अनुक्रम से तीन योगवाला, किसी एक योग वाला, काययोग वाला और योगरहित होता है।

पहले के दो, एक आश्रयवाले एवं सवितर्क होते हैं।

इनमें से दूसरा अविचार है अर्थात् पहला सविचार है।

वितर्क अर्थात् श्रुत।

विचार अर्थात् अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति।

प्रस्तुत वर्णन में शुक्लध्यान से संबन्ध रखने वाली स्वामी, भेद और स्वरूप– ये तीन बातें हैं।

---

१ प्रस्तुत स्थल मे 'अवीचार' ऐसा रूप ही अधिकतर देखा जाता है, तो भी यहाँ सूत्र और विवेचन मे ह्रस्व 'वि' का प्रयोग करके एकता रक्खी गई है।

स्वामी

स्वामी का कथन यहाँ दो प्रकार से किया गया है, एक तो गुणस्थान की दृष्टि से और दूसरा योग की दृष्टि से ।

गुणस्थान की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार भेदों मे से पहले के दो भेदों के स्वामी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवाले जो कि पूर्वधर भी हो– वे ही होते हैं। 'पूर्वधर' इस विशेषण से सामान्यतया यह समझना चाहिए कि जो पूर्वधर न हो पर ग्यारह आदि अङ्गो का धारक हो उसके तो ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में शुक्ल न होकर धर्मध्यान ही होगा। इस सामान्य विधान का एक अपवाद भी है और वह यह कि पूर्वधर न हो ऐसी आत्माओं– जैसे माषतुष, मरुदेवी आदि के भी शुक्लध्यान का संभव है। शुक्लध्यान के बाकी के दो भेदो के स्वामी सिर्फ केवली अर्थात् तेरहवे और चौदहवें गुणस्थान वाले होते हैं।

योग की दृष्टि से तीन योग वाला ही चार में से पहले शुक्लध्यान का स्वामी होता है। मन, वचन और काय मे से किसी भी एक ही योग वाला शुक्लध्यान के दूसरे भेद का स्वामी होता है। इसी ध्यान के तीसरे भेद का स्वामी सिर्फ काययोग वाला और चौथे भेद का स्वामी एक मात्र अयोगी ही होता है।

शुक्लध्यान के भी अन्य ध्यानों की तरह चार भेद किये गए हैं, जो कि इस के चार पाये भी कहलाते हैं। उनके चार नाम इस

भेद

तरह हैं– १ पृथक्त्ववितर्क-सविचार, २ एकत्ववितर्क-निर्विचार, ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, ४ व्युपरतक्रिया निवृत्ति– समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ।

प्रथम के दो शुक्लध्यानो का आश्रय एक है अर्थात् उन दोनों

का आरंभ पूर्वज्ञानधारी आत्मा द्वारा होता है। इसी से ये दोनो ध्यान वितर्क– श्रुतज्ञान सहित है। दोनों मे वितर्क का साम्य होने पर भी दूसरा वैषम्य भी है, और वह यह कि पहले में पृथक्त्व– भेद है जब कि दूसरे मे एकत्व– अभेद है, इसी तरह पहले मे विचार– संक्रम है, जब कि दूसरे में विचार नहीं है। इसी सबब से इन दोनों ध्यानो के नाम क्रमशः पृथक्त्ववितर्क-सविचार और एकत्ववितर्क-अविचार ऐसे रक्खे गए है।

पृथक्त्ववितर्क-सविचार

जब कोई ध्यान करने वाला पूर्वधर हो, तब पूर्वगत श्रुत के आधार पर, और जब पूर्वधर न हो तब अपने मे संभवित श्रुत के आधार पर किसी भी परमाणु आदि जड़ या आत्म रूप चेतन– ऐसे एक द्रव्य मे उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि अनेक पर्यायो का द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक आदि विविध नयों के द्वारा भेदप्रधान चिन्तन करता है और यथासंभवित श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्य रूप अर्थ पर से दूसरे द्रव्य रूप अर्थ पर या एक द्रव्य रूप अर्थ पर से पर्याय रूप अन्य अर्थ पर किंवा एक पर्यायरूप अर्थ पर से अन्य पर्याय रूप अर्थ पर या एक पर्याय रूप अर्थ पर से अन्य द्रव्य रूप अर्थ पर चिन्तन के लिए प्रवृत्त होता है; इसी तरह अर्थ पर से शब्द पर और शब्द पर से अर्थ पर चिन्तनार्थ प्रवृत्ति करता है; तथा मन आदि किसी भी एक योग को छोड़कर अन्य योग का अवलंबन करता है– तब वह ध्यान पृथक्त्ववितर्क-सविचार कहलाता है। कारण यह कि इसमें वितर्क– श्रुतज्ञान का अवलंबन लेकर किसी भी एक द्रव्य मे उसके पर्यायों का भेद– पृथक्त्व विविध दृष्टियो से चिन्तन किया जाता है और श्रुतज्ञान

को ही अवलंबित करके एक अर्थ पर से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द पर से दूसरे शब्द पर, अर्थ पर से शब्द पर, शब्द पर से अर्थ पर तथा एक योग पर से दूसरे योग पर संक्रम– संचार करना पडता है।

उक्त कथन के विपरीत जब कोई ध्यान करने वाला अपने में संभवित श्रुत के आधार पर किसी भी एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर उस पर एकत्व– अभेदप्रधान चिन्तन करता है और मन आदि तीन योगो मे से किसी भी एक ही योग पर अटल रह कर शब्द और अर्थ के चिन्तन एवं भिन्न-भिन्न योगों में संचार का परिवर्तन नहीं करता है– तब वह ध्यान एकत्ववितर्क-अविचार कहलाता है। कारण यह कि इसमे वितर्क– श्रुतज्ञान का अवलंबन होने पर भी एकत्व– अभेद का प्रधानतया चिन्तन रहता है और अर्थ, शब्द किंवा योगो का परिवर्तन नहीं होता।

एकत्ववितर्क-अविचार

उक्त दोनों में से पहले भेदप्रधान का अभ्यास दृढ़ हो जाने के बाद ही दूसरे अभेदप्रधान ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। जैसे समग्र शरीर मे व्याप्त सर्पादि के जहर को मन्त्र आदि उपायों से सिर्फ डंक की जगह मे लाकर स्थापित किया जाता है, वैसे ही सारे जगत मे भिन्न-भिन्न विषयों मे अस्थिररूप से भटकते हुए मन को ध्यान के द्वारा किसी भी एक विषय पर लगाकर स्थिर किया जाता है। इस स्थिरता के दृढ़ हो जाने पर जैसे बहुत से ईंधन के निकाल लेने और बचे हुए थोड़े से ईंधन के सुलगा देने से अथवा सभी ईंधन के हटा देने से अग्नि बुझ जाती है, वैसे ही उपर्युक्त क्रम से एक विषय पर स्थिरता प्राप्त

होते ही आखिरकार मन भी सर्वथा शान्त हो जाता है। अर्थात् उसकी चंचलता हटकर वह निष्प्रकंप बन जाता है, और परिणाम यह होता है कि ज्ञान के सकल आवरणों के विलय हो जाने पर सर्वज्ञता प्रकटित होती है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान

जब सर्वज्ञ भगवान [1]योगनिरोध के क्रम मे अन्ततः सूक्ष्मशरीर योग का आश्रय लेकर दूसरे बाकी के योगों को रोक देते हैं—तब वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। कारण यह कि उसमें श्वास-उच्छ्वास सरीखी सूक्ष्मक्रिया ही बाकी रह जाती है, और उसमें से पतन होने का भी संभव नहीं है।

समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान

जब शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकंप हो जाते हैं—तब वह समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान कहलाता है। कारण यह कि इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी किस्म की भी मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया ही नहीं होती और वह स्थिति बाद में जाती भी नहीं। इस चतुर्थ ध्यान के प्रभाव से सर्व आस्रव और बन्ध का निरोध होकर शेष सर्वकर्म क्षीण

---

१ यह क्रम ऐसे माना जाता है—स्थूलकाय योग के आश्रय से वचन और मन के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है, उसके बाद वचन और मन के सूक्ष्म योग को अवलंबित करके शरीर का स्थूल योग सूक्ष्म बनाया जाता है। फिर शरीर के सूक्ष्म योग को अवलंबित करके वचन और मन के सूक्ष्म योग का निरोध किया जाता है, और अन्त में सूक्ष्मशरीर योग का भी निरोध किया जाता है।

हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। तीसरे और चौथे शुक्ल ध्यान में किसी किस्म के भी श्रुतज्ञान का आलंबन नहीं होता, अत. वे दोनो अनालंबन भी कहलाते है। ३९–४६।

सम्यग्दृष्टियों की कर्मनिर्जरा का तरतमभाव–

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः। ४७।

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह; क्षपक, क्षीणमोह और जिन ये दस अनुक्रमसे असंख्येयगुण निर्जरा वाले होते हैं।

सर्व कर्मबन्धनो का सर्वथा क्षय ही मोक्ष है, और उनका जो अंशतः क्षय वह निर्जरा है। इस प्रकार दोनो के लक्षणो पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि निर्जरा मोक्ष का पूर्वगामी अङ्ग है। प्रस्तुत शास्त्र मे मोक्षतत्त्व का प्रतिपादन मुख्य होने से उसकी बिलकुल अङ्गभूत निर्जरा का विचार करना भी यहाँ प्राप्त है। इस लिए यद्यपि संसारी सकल आत्माओ में कर्मनिर्जरा का क्रम चालू रहता है सही, तो भी यहाँ सिर्फ विशिष्ट आत्माओ की ही कर्मनिर्जरा के क्रम का विचार किया गया है। वे विशिष्ट आत्माएँ अर्थात् मोक्षाभिमुख आत्माएँ हैं। असली मोक्षाभिमुखता सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से ही शुरू हो जाती है और वह जिन–सर्वज्ञ अवस्था मे पूरी हो जाती है। स्थूलदृष्टि से सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति से लेकर सर्वज्ञदशा तक मोक्षाभिमुखता के दस विभाग किये गए हैं, इनमे

पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर विभाग मे परिणाम की विशुद्धि सविशेष होती है। परिणाम की विशुद्धि जितनी ही अधिक होगी उतनी ही कर्मनिर्जरा भी विशेष होगी। अतः प्रथम-प्रथम की अवस्था मे जितनी कर्मनिर्जरा होती है, उसकी अपेक्षा ऊपर-ऊपर की अवस्था मे परिणाम विशुद्धि की विशेषता के कारण कर्मनिर्जरा भी असंख्यातगुनी बढ़ती ही जाती है, इस प्रकार बढ़ते बढ़ते अन्त में सर्वज्ञ-अवस्था मे निर्जरा का प्रमाण सबसे अधिक हो जाता है। कर्मनिर्जरा के प्रस्तुत तरतमभाव में सबसे कम निर्जरा सम्यग्दृष्टि की और सबसे अधिक सर्वज्ञ की होती है। इन दस अवस्थाओं का स्वरूप नीचे लिखे अनुसार है—

१ जिस अवस्था मे मिथ्यात्व हट कर सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है— वह सम्यग्दृष्टि। २ जिसमे अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से अल्पांश मे विरति— त्याग प्रकट होता है— वह श्रावक। ३ जिसमे प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से सर्वांश मे विरति प्रकट होती है— वह विरत। ४ जिसमे अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है— वह अनन्तवियोजक। ५ जिसमे दर्शनमोह को क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है— वह दर्शनमोहक्षपक। ६ जिस अवस्था में मोह की शेष प्रकृतियो का उपशम चालू हो— वह उपशमक। ७ जिसमे उपशम पूर्ण हो चुका हो— वह उपशान्तमोह। ८ जिसमें मोह की शेष प्रकृतियो का क्षय चालू हो— वह क्षपक। ९ जिसमे क्षय पूर्ण सिद्ध हो चुका हो— वह क्षीणमोह। १० जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो चुकी हो— वह जिन।

निर्ग्रन्थ के भेद—

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः। ४८।

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थ हैं।

निर्ग्रन्थ शब्द का तात्त्विक– निश्चयनय सिद्ध अर्थ अलग है, और व्यावहारिक– सांप्रदायिक अर्थ अलग है। इन दोनो अर्थों के एकीकरण को ही यहाँ निर्ग्रन्थ सामान्य मान कर उसीके पाँच वर्ग करके पाँच भेद दरसाये गए हैं। जिसमे रागद्वेष की गाँठ बिलकुल ही न रहे वह निर्ग्रन्थ। यही निर्ग्रन्थ शब्द का तात्त्विक अर्थ है और जो अपूर्ण होने पर भी उक्त तात्त्विक निर्ग्रन्थता का उम्मीदवार हो अर्थात् भविष्य मे वैसी स्थिति प्राप्त करना चाहता हो– वह व्यावहारिक निर्ग्रन्थ है। पाँच भेदों में से प्रथम के तीन व्यावहारिक और बाकी के दो तात्त्विक हैं। इन पाँच भेदों का स्वरूप इस प्रकार है–

१ मूलगुण तथा उत्तरगुण मे परिपूर्णता प्राप्त न करने पर भी वीतराग प्रणीत आगम से कभी चलित न होना– वह पुलाक निर्ग्रन्थ है। २ जो शरीर और उपकरण के संस्कारों का अनुसरण करता हो, ऋद्धि तथा कीर्ति चाहता हो, सुखशील हो, अविविक्त– ससंग परिवार वाला और छेद– चारित्रपर्याय की हानि तथा शबल– अतिचार दोषो से युक्त हो– वह बकुश है। ३ कुशील के दो भेदों मे से जो इन्द्रियों का वशवर्ती होने से किसी तरह की उत्तरगुणो की विराधना करने के साथ प्रवृत्ति करता हो– वह प्रतिसेवनाकुशील और जो तीव्र कषाय के कभी वश न हो कर सिर्फ मन्द कषाय के कदाचित् वशीभूत हो जाय– वह कषायकुशील। जिसमे सर्वज्ञता न होने पर भी रागद्वेष का अत्यन्त अभाव हो और अन्तर्मुहूर्त जितने समय के बाद ही सर्वज्ञता प्रकट

होने वाली हो– वह निर्ग्रन्थ । ५ जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो चुकी हो– वह स्नातक है । ४८ ।

आठ बातों द्वारा निर्ग्रन्थों की विशेष विचारणा–

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्याः । ४९ ।

संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपात और स्थान के भेद से ये निर्ग्रन्थ विचारने योग्य हैं ।

पहले जो पाँच निर्ग्रन्थों का वर्णन किया गया है, उनका विशेष स्वरूप जानने के लिए यहाँ आठ बातों को लेकर हरएक का पाँच निर्ग्रन्थो के साथ कितना-कितना संबन्ध है, यही विचार किया गया है ; जैसे–

१ संयम

सामायिक आदि पाँच संयमों मे से सामायिक और छेदोपस्थापनीय– इन दो संयमों मे पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील ये तीन निर्ग्रन्थ होते हैं; कषायकुशील उक्त दो और परिहारविशुद्धि तथा सूक्ष्मसंपराय– इन चार संयमों मे वर्तमान होता है । निर्ग्रन्थ और स्नातक ये दोनों एक मात्र यथाख्यात संयम वाले होते हैं ।

२ श्रुत

पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील इन तीनों का उत्कृष्ट श्रुत पूर्ण दशपूर्व और कषायकुशील एवं निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट श्रुत चतुर्दशपूर्व होता है; जघन्य श्रुत पुलाक का आचारवस्तु और वकुश, कुशील एवं निर्ग्रन्थ का अष्ट प्रव-

१ इस नाम का एक नौवें पूर्व में तीसरा प्रकरण है, वही यहां लेना चाहिए ।

चनमाता (पाँच समिति और तीन गुप्ति) प्रमाण होता है, स्नातक सर्वज्ञ होने से श्रुत रहित ही होता है।

३ प्रतिसेवना (विराधना)

पुलाक पाँच महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण इन छहो में से किसी भी व्रत का दूसरे के दबाव या बलात्कार के कारण खंडन करने वाला होता है। कितने ही आचार्य पुलाक को चतुर्थ व्रत का ही विराधक मानते हैं। बकुश दो प्रकार का होता है– कोई उपकरणबकुश और कोई शरीर-बकुश। जो उपकरण मे आसक्त होने के कारण नाना तरह के कीमती और अनेक विशेषता युक्त उपकरण चाहता है तथा सग्रह करता है और नित्य ही उनका सस्कार– टीपटाप करता रहता है– वह उपकरणबकुश। जो शरीर मे आसक्त होने के कारण उसकी शोभा के निमित्त उसका संस्कार करता रहता है– वह शरीर-बकुश। प्रतिसेवनाकुशील मूलगुणों की विराधना न करके उत्तरगुणों की कुछ विराधना करता है। कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक– इनके तो विराधना ही नहीं होती।

४ तीर्थ (शासन)

पाँचो निर्ग्रन्थ सभी तीर्थंकरो के शासन मे होते हैं। किन्हीं का ऐसा मानना है कि पुलाक, बकुश और प्रति-सेवनाकुशील ये तीन तीर्थ में नित्य होते हैं और बाकी के कषायकुशील आदि तीर्थ मे भी होते हैं और अतीर्थ में भी।

५ लिङ्ग

लिङ्ग (चिह्न) द्रव्य और भाव ऐसे दो प्रकार का होता है। चारित्रगुण भावलिङ्ग है और विशिष्ट वेष आदि बाह्य-स्वरूप द्रव्यलिङ्ग है। पाँचो निर्ग्रन्थो मे भावलिङ्ग अवश्य होता है, परन्तु द्रव्यलिङ्ग तो सभी में हो भी सकता और नहीं भी।

पुलाक मे पिछली तेजः, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएँ होती हैं। बकुश और प्रतिसेवनाकुशील में छहो लेश्याएँ होती हैं।

६ लेश्या

कषायकुशील यदि परिहारविशुद्धि चारित्र वाला हो, तब तो तेजः आदि उक्त [1] तीन लेश्याएँ होती हैं और यदि सूक्ष्म संपराय चारित्र वाला हो तब एक शुक्ल ही होती है। निर्ग्रन्थ और स्नातक मे एक शुक्ल ही होती है। पर स्नातक में जो अयोगी हो वह तो अलेश्य ही होता है।

पुलाक आदि चार निर्ग्रन्थों का जघन्य उपपात सौधर्मकल्प मे पल्योपमपृथक्त्व स्थिति वाले देवों मे होता है; पुलाक का

७ उपपात (उत्पत्तिस्थान)

उत्कृष्ट उपपात सहस्रारकल्प में बीस सागरोपम की स्थिति मे होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट उपपात आरण और अच्युत कल्प मे बाईस सागरोपम की स्थिति मे होता है। कषायकुशील और निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उपपात सर्वार्थसिद्ध विमान मे तेंतीस सागरोपम की स्थिति मे होता है। स्नातक का उपपात तो निर्वाण है।

कषाय का निग्रह तथा योग का निग्रह ही संयम है। संयम सभी का सर्वदा एक सरीखा नहीं हो सकता, कषाय और योग के निग्रह

८ स्थान (संयम के स्थान- प्रकार)

विषयक तारतम्य के अनुसार ही संयम में भी तरतमभाव होता है। कम से कम जो निग्रह संयमकोटि में गिना जाता है, वहाँ से लेकर संपूर्ण निग्रहरूप संयम तक निग्रह की तीव्रता, मन्दता की विविधता के

---

१ दिगंबरीय ग्रन्थ चार लेश्याओं का कथन करते हैं।

२ दिगंबरीय ग्रन्थ दो सागरोपम की स्थिति का उल्लेख करते हैं।

कारण संयम के असंख्यातप्रकार होते हैं। वे सभी प्रकार (भेद) सयमस्थान कहलाते है। इनमे जहाँतक कषाय का लेशमात्र भी संबन्ध हो, वहाँ तक के संयमस्थान कषायनिमित्तक और उसके वाद के सिर्फ योगनिमित्तक समझने चाहिएँ। योग के सर्वथा निरोध हो जाने पर जो स्थिति प्राप्त होती है उसे अन्तिम सयमस्थान समझना। जैसे जैसे पूर्व-पूर्ववर्ती सयमस्थान होगा, वैसे-वैसे काषायिक परिणति विशेष और जैसे जैसे ऊपर का संयमस्थान होगा, वैसे वैसे काषायिक भाव भी कम होगा, इसीलिए ऊपर-ऊपर के संयमस्थानो का मतलव अधिक से अधिक विशुद्धि वाले स्थान समझना चाहिए। और सिर्फ योग निमित्तक सयमस्थानो मे निष्कपायत्व रूप विशुद्धि समान होने पर भी जैसे-जैसे योगनिरोध न्यूनाधिक होता है, वैसे-वैसे स्थिरता भी न्यूनाधिक होती है, योगनिरोध की विविधता के कारण स्थिरता भी विविध प्रकार की होती है अर्थात् केवल योगनिमित्तक संयमस्थान भी असंख्यात प्रकार के वनते हैं। आखिरी संयमस्थान जिसमे परम प्रकृष्ट विशुद्धि और परम प्रकृष्ट स्थिरता होती है– ऐसा तो एक ही हो सकता है।

उक्त प्रकार के सयमस्थानो में से सवसे जघन्यस्थान पुलाक और कपायकुशील के होते हैं, ये दोनो असंख्यात सयमस्थानो तक साथ ही वढ़ते जाते हैं, उसके वाद पुलाक रुक जाता है, परन्तु कषायकुशील अकेला ही उसके वाद भी असख्यात स्थानो तक चढ़ता जाता है। तत्पश्चात् असंख्यात संयमस्थानो तक कपाय-कुशील, प्रतिसेवनाकुशील और वकुश एक साथ वढ़ते जाते हैं, उसके वाद वकुश रुक जाता है, उसके वाद असख्यात स्थानों तक चढ़ करके प्रतिसेवनाकुशील भी रुक जाता है और तत्पश्चात्

असंख्यात स्थानों तक चढ़ कर कषायकुशील रुक जाता है। तदनन्तर अकषाय अर्थात् केवल योगनिमित्तक संयमस्थान आते हैं, जिन्हे निर्ग्रन्थ प्राप्त करता है, वह भी उसी प्रकार असंख्यात स्थानों का सेवन करके रुक जाता है। सबके बाद एक ही अन्तिम सर्वोपरि, विशुद्ध और स्थिर संयम आता है, जिसका सेवन करके स्नातक निर्वाण प्राप्त करता है। उक्त स्थान असंख्यात होने पर भी उनमे से प्रत्येक मे पूर्व की अपेक्षा बाद के स्थान की शुद्धि अनन्तानन्त गुनी मानी गई है। ४९।
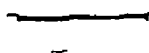
दसवाँ अध्याय ।

नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा का निरूपण हो चुकने के बाद अन्त मे बाकी रहे हुए मोक्षतत्त्व का निरूपण ही इस अध्याय मे क्रमप्राप्त है ।

कैवल्य की उत्पत्ति के हेतु–

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । १ ।

मोह के क्षय से और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के क्षय से केवल प्रकट होता है ।

मोक्ष प्राप्त होने से पहले केवल-उपयोग (सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व) की उत्पत्ति जैनशासन में अनिवार्य मानी गई है । इसीलिए मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते समय केवल-उपयोग किन कारणो से उद्भूत होता है, यह बात यहाँ पहले ही बतला दी गई है । प्रतिबन्धक कर्म के नाश हो जाने से सहज चेतना के निरावरण हो जाने के कारण केवल-उपयोग आविर्भाव को प्राप्त होता है । वे प्रतिबन्धक कर्म चार हैं, जिनमें से प्रथम मोह ही क्षीण होता है और तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त बाद ही बाकी के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय– ये तीन कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं । मोह सबसे अधिक बलवान् है, अत उसके नाश के बाद ही अन्य कर्मों का नाश शक्य होता है । केवल-उपयोग का मतलब है सामान्य और विशेष– दोनों प्रकार का सपूर्ण बोध । यही स्थिति सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व की है । १ ।

कर्म के आत्यन्तिक क्षय के कारण और मोक्ष का स्वरूप–

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् । २ ।

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः । ३ ।

बन्धहेतुओं के अभाव और निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है।

संपूर्ण कर्मों का क्षय होना ही मोक्ष है।

एक बार बँधा हुआ कर्म कभी न कभी तो क्षय को प्राप्त होता ही है, पर वैसे कर्म के बँधने का फिर संभव हो अथवा उस किस्म का कोई कर्म अभी शेष हो– ऐसी स्थिति मे कर्म का आत्यन्तिक क्षय हुआ है– ऐसा नहीं कहा जा सकता। आत्यन्तिक क्षय का अर्थ है पूर्वबद्ध कर्म का और नवीन कर्म के बाँधने की योग्यता का अभाव। मोक्ष की स्थिति कर्म के आत्यन्तिक क्षय के विना कदापि संभव नहीं, इसीलिए ऐसे आत्यन्तिक क्षय के कारण यहाँ बतलाए हैं। वे दो हैं– बन्धहेतुओं का अभाव और निर्जरा। बन्धहेतुओं का अभाव हो जाने से नवीनकर्म बँधने से रुक जाते हैं, और पहले बँधे हुए कर्मों का निर्जरा से अभाव होता है। बन्धहेतु मिथ्यादर्शन आदि पाँच हैं, जिनका कथन पहले किया जा चुका है। उनका यथायोग्य सवर द्वारा अभाव हो सकता है और तप, ध्यान आदि द्वारा निर्जरा भी सिद्ध होती है।

मोहनीय आदि पूर्वोक्त चार कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से वीतरागत्व और सर्वज्ञत्व प्रकट होते हैं, ऐसा होने पर भी उस समय वेदनीय आदि चार कर्म बहुत ही विरल रूप में शेप रहते हैं, जिससे मोक्ष नहीं होता। इसीलिए तो इन शेप रहे हुए विरल

कर्मों का क्षय भी आवश्यक है। जब यह क्षय होता है, तभी संपूर्ण कर्मों का अभाव होकर जन्म-मरण का चक्र बन्द पड़ जाता है– यही तो मोक्ष है। २, ३।

अन्य कारणों का कथन–

औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवलसम्यक्त्व-ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः । ४ ।

क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन और सिद्धत्व के सिवाय औपशमिक आदि भावों तथा भव्यत्व के अभाव से मोक्ष प्रकट होता है।

पौद्गलिक कर्म के आत्यन्तिक नाश की तरह उस कर्म के साथ सापेक्ष ऐसे कितने ही भावों का नाश भी मोक्षप्राप्ति के पहले आवश्यक होता है। इसीसे यहाँ वैसे भावों के नाश का मोक्ष के कारण रूप से कथन है। ऐसे भाव मुख्य चार हैं– औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। औपशमिक आदि पहले तीन प्रकार के तो हरएक भाव सर्वथा नाश पाते ही हैं, पर पारिणामिकभाव के बारे में यह एकान्त नहीं है, पारिणामिक भावों में से सिर्फ भव्यत्व का ही नाश होता है, दूसरों का नहीं; क्योंकि जीवत्व, अस्तित्व आदि दूसरे सभी पारिणामिक भाव मोक्ष अवस्था में भी रहते हैं। क्षायिकभाव कर्मसापेक्ष है सही, फिर भी उसका अभाव मोक्ष में नहीं होता। यही बतलाने के लिए सूत्र में क्षायिक सम्यक्त्व आदि भावों के सिवाय के भावों का नाश मोक्ष का कारणभूत कहा है। यद्यपि सूत्र में क्षायिकवीर्य, क्षायिकचारित्र और क्षायिकसुख आदि भावों का वर्जन क्षायिकसम्यक्त्व आदि की तरह

नहीं किया, तो भी सिद्धत्व के अर्थ मे इन सभी भावों का समावेश कर लेने के कारण इन भावो का वर्जन भी समझ लेना चाहिए । ४ ।

मुक्तजीव का मोक्ष के बाद ही तुरत होने वाला कार्य–

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तात् । ५ ।

संपूर्ण कर्मों के क्षय होने के बाद तुरन्त ही मुक्तजीव लोक के अन्त तक ऊँचे जाता है । ५ ।

संपूर्ण कर्म और तदाश्रित औपशमिक आदि भावों के नाश के होते ही तुरन्त एक साथ एक समय में तीन कार्य होते हैं– शरीर का वियोग, सिध्यमान गति और लोकान्त-प्राप्ति । ५ ।

सिध्यमान गति के हेतु–

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः[1] । ६ ।

पूर्व प्रयोग से, संग के अभाव से, बन्धन टूटने से और वैसी गति के परिणाम से मुक्तजीव ऊँचे जाता है ।

जीव कर्मों से छूटते ही फौरन गति करता है, स्थिर नहीं रहता । गति भी ऊँची और वह भी लोक के अन्त तक ही होती है, उसके बाद नहीं– ऐसी शास्त्रीय मान्यता है । यहाँ प्रश्न उठता

---

१ इस सूत्र के बाद सातवें और आठवें नंबर पर दिगंबरीय परंपरा में दो सूत्र हैं । इन दोनों सूत्रों का अर्थ और शाब्दिकविन्यास प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में ही है ।

है कि कर्म या शरीर आदि पौद्गलिक पदार्थों की मदद के बिना अमूर्त जीव गति कैसे कर सकता है ? और करता है तो ऊर्ध्वगति ही क्यो, अधोगति या तिरछी गति क्यो नहीं ? इन प्रश्नों के उत्तर यहाँ दिये गए हैं।

जीवद्रव्य स्वभाव से ही पुद्गलद्रव्य की तरह गतिशील है। दोनो में अन्तर इतना ही है कि पुद्गल स्वभाव से अधोगतिशील और जीव स्वभाव से ऊर्ध्वगतिशील है। जब जीव गति न करे अथवा नीची या तिरछी दिशा में गति करे, तब ऐसा समझना चाहिए कि वह अन्य प्रतिबन्धक द्रव्य के संग के कारण या बन्धन के कारण ही ऐसा होता है। ऐसा द्रव्य कर्म है। जब कर्मसंग छूटा और उसके बन्धन टूटे तब कोई प्रतिबन्धक तो रहता ही नहीं, अतः मुक्तजीव को अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करने का प्रसंग मिलता है। इस प्रसंग में पूर्वप्रयोग निमित्त बनता है अर्थात् उसीके निमित्त से मुक्तजीव ऊर्ध्वगति करता है। पूर्वप्रयोग का मतलब है पूर्वबद्ध कर्म के छूट जाने के बाद भी उससे प्राप्त वेग-आवेश। जैसे कुम्हार से डंडे द्वारा घुमा हुआ चाक डंडे और हाथ के हटा लेने के बाद भी पहले मिले हुए वेग के बल से वेगानुसार घूमता रहता है, वैसे ही कर्मयुक्त जीव भी पूर्व कर्म से प्राप्त आवेश के कारण अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति ही करता है। इसकी ऊर्ध्वगति लोक के अन्त से आगे नहीं होती, इसका कारण यह है कि वहाँ धर्मास्तिकाय का अभाव ही है। प्रतिबन्धक कर्मद्रव्य के हट जाने से जीव की ऊर्ध्वगति कैसे सुकर हो जाती है, इस बात को समझाने के लिए तुम्बे का और एरंड के बीज का उदाहरण दिया गया है। अनेक लेपो से युक्त तुंबा पानी में पड़ा रहता है,

परन्तु लेपों के हटते ही वह स्वभाव से पानी के ऊपर तर आता है। कोश-फली मे रहा हुआ एरंड बीज फली के टूटते ही छटक कर ऊपर ऊठता है इसी तरह कर्म बन्धन के दूर होते ही जीव भी ऊर्ध्वगामी बनता है। ६।

वारह वातों द्वारा सिद्धों की विशेष विचारणा–

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञाना-वगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः। ७।

क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या, अल्प-बहुत्व–इन वारह वातों द्वारा सिद्ध जीवों का विचार करना चाहिए।

सिद्ध जीवों का स्वरूप विशेष रूप से जानने के लिए यहाँ वारह वातो का निर्देश किया है। इनमें से प्रत्येक वात के आधार पर सिद्धों के स्वरूप का विचार करना है। यद्यपि सिद्ध हुए सभी जीवों मे गति, लिङ्ग आदि सांसारिक भावो के न रहने से कोई खास प्रकार का भेद ही नही रहता; फिर भी भूतकाल की दृष्टि से उनमें भी भेद की कल्पना और विचार कर सकते हैं। यहाँ क्षेत्र आदि जिन वारह वातों को लेकर विचारणा करनी है, उनमें से प्रत्येक के वारे में यथासंभव भूत और वर्तमान दृष्टि को लागू करके ही विचारणा करनी चाहिए। जो निम्न अनुसार है—

वर्तमान भाव की दृष्टि से सभी के सिद्ध होने का स्थान एक ही सिद्धक्षेत्र अर्थात् आत्मप्रदेश या आकाशप्रदेश है। भूतभाव की दृष्टि से इनके सिद्ध होने का स्थान एक नहीं है, क्योंकि जन्म-

दृष्टि से पंद्रह में से भिन्न भिन्न कर्मभूमियों में से कितनेक सिद्ध होते हैं और संहरण मानुषक्षेत्र दृष्टि से समग्र में से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

१ क्षेत्र-स्थान व जगह

वर्तमान दृष्टि से सिद्ध होने का कोई लौकिक कालचक्र नहीं, क्योंकि एक ही समय मे सिद्ध होते हैं। भूत-दृष्टि से जन्म की अपेक्षा से अवसर्पिणी, उत्स-सर्पिणी तथा अनवसर्पिणी, अनुत्सर्पिणी में जन्मे हुए सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार संहरण की अपेक्षा से उक्त सभी काल में सिद्ध होते हैं।

२ काल—अवसर्पिणी आदि लौकिक काल

वर्तमान दृष्टि से सिद्ध गति मे ही सिद्ध होते हैं। भूत दृष्टि से यदि अन्तिम भाव को लेकर विचार करें तो मनुष्यगति मे से और अन्तिम से पहले के भाव को लेकर विचार करें, तब तो चारों गतियो मे से सिद्ध हो सकते हैं।

३ गति

लिङ्ग—वेद और चिह्न को कहते है, पहले अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से अवेद ही सिद्ध होते हैं। भूतदृष्टि से स्त्री, पुरुष, नपुंसक इन तीनो वेदो में से सिद्ध वन सकते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार वर्तमान दृष्टि से अलिङ्ग ही सिद्ध होते हैं, भूतदृष्टि से यदि भावलिङ्ग अर्थात् आन्तरिक योग्यता को लेकर विचार करें तो स्वलिङ्ग—वीतरागता से ही सिद्ध होते हैं, और द्रव्य-लिङ्ग को लेकर विचार करें तो स्वलिङ्ग—जैनलिङ्ग, परलिङ्ग—जैनेतर पन्थ का लिङ्ग और गृहस्थलिङ्ग इन तीनो लिङ्गो में सिद्ध हो सकते हैं।

४ लिङ्ग

५ तीर्थ

कोई तीर्थंकर रूप मे और कोई अतीर्थंकर रूप मे सिद्ध होते हैं। अतीर्थंकर में कोई तीर्थ चालू हो-तब, और कोई तीर्थ चालू न हो-तब भी सिद्ध होते हैं।

६ चारित्र

वर्तमान दृष्टि से सिद्ध होने वाले न तो चारित्री ही होते हैं और न अचारित्री। भूतदृष्टि से यदि अन्तिम समय को लें तब तो यथाख्यातचारित्री ही सिद्ध होते हैं; और उसके पहले समय को लें तो तीन, चार तथा पाँच चारित्रों से सिद्ध होते हैं। सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ये तीन अथवा छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ये तीन, सामायिक, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ये चार; एवं सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ये पाँच चारित्र समझने चाहिएँ।

७ प्रत्येकबुद्धबोधित अर्थात् प्रत्येकबोधित और बुद्धबोधित

प्रत्येकबोधित और बुद्धबोधित दोनों सिद्ध होते हैं। जो किसी के उपदेश के बिना अपनी ज्ञान शक्ति से ही बोध पाकर सिद्ध होते हैं, ऐसे स्वयंबुद्ध दो प्रकार के हैं—एक तो अरिहंत और दूसरे अरिहंत से भिन्न, जो कि किसी एकाध बाह्य निमित्त से वैराग्य और ज्ञान पाकर सिद्ध होते हैं। ये दोनों प्रत्येकबोधित कहलाते हैं। जो दूसरे ज्ञानी से उपदेश पाकर सिद्ध बनते हैं वे बुद्धबोधित हैं। इनमे भी कोई तो दूसरे को बोध प्राप्त करानेवाले होते हैं और कोई सिर्फ आत्म-कल्याण साधक होते हैं।

वर्तमान दृष्टि से सिर्फ केवलज्ञान वाले ही सिद्ध होते हैं। भूत-दृष्टि से दो, तीन, चार ज्ञानवाले भी सिद्ध होते हैं। दो अर्थात्

८ ज्ञान

मति और श्रुत; तीन अर्थात् मति, श्रुत, अवधि अथवा मति, श्रुत, और मनःपर्याय, चार अर्थात् मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय।

९ अवगाहना—ऊँचाई

जघन्य अंगुलपृथक्त्वहीन सात हाथ और उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष के ऊपर धनुषपृथक्त्व जितनी अवगाहना में से सिद्ध हो सकते हैं—यह तो भूतदृष्टि से कहा है। वर्तमान दृष्टि से कहना हो तो जिस अवगाहना में से सिद्ध हुआ हो तो उसीकी दो तृतीयांश अवगाहना कहनी चाहिए।

१० अन्तर-व्यवधान

किसी एक के सिद्ध बनने के बाद तुरन्त ही जब दूसरा सिद्ध होता है तो उसे निरन्तर सिद्ध कहते हैं। जघन्य दो समय और उत्कृष्ट आठ समय तक निरन्तर सिद्धि चालू रहती है। जब किसी की सिद्धि के बाद अमुक समय बीत जाने पर सिद्ध होता है, तब वह सान्तर सिद्ध कहलाता है। दोनों के बीच की सिद्धि का अन्तर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः मास का होता है।

११ संख्या

एक समय में जघन्य एक और उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध होते हैं।

१२ अल्पबहुत्व-न्यूनाधिकता

क्षेत्र आदि जिन ग्यारह बातों को लेकर विचार किया गया है, उनमें से हरएक के बारे में संभाव्य भेदों की परस्पर में न्यूनाधिकता का विचार करना यही अल्पबहुत्व विचारणा है। जैसे—क्षेत्रसिद्ध में संहरण सिद्ध की अपेक्षा जन्मसिद्ध संख्यात गुणाधिक होते हैं। एवं ऊर्ध्वलोक सिद्ध सबसे थोड़े होते हैं, अधोलोक सिद्ध उनसे संख्यातगुणाधिक और तिर्यग्लोक सिद्ध उनसे भी संख्यात गुणा-

धिक होते हैं। समुद्रसिद्ध सबसे थोड़े होते हैं और द्वीपसिद्ध उनसे संख्यात गुणाधिक होते हैं। इसी तरह काल आदि प्रत्येक बात को लेकर भी अल्पबहुत्व का विचार किया गया है, जो कि विशेष जिज्ञासुओं को मूल ग्रन्थों मे से जान लेना चाहिए। ७।

हिन्दी विवेचन सहित

तत्त्वार्थ सूत्र

समाप्त

तत्त्वार्थसूत्र

का

पारिभाषिक शब्द-कोष

तत्त्वार्थसूत्र

का

पारिभाषिक शब्द-कोष

१ इस कोष में बड़े अङ्क पृष्ठ के और छोटे पंक्ति के सूचक हैं।

ऊ

ऋ

त

प

—

ब

म

य

ल

व

स

अवशिष्ट शब्दों की सूची